

आत्म-तत्त्व की अवधारणा

समणी संबोधप्रज्ञा

आत्म-तत्त्व की अवधारणा

डॉ. समणी संबोधप्रज्ञा



जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
लाडनू - ३४१ ३०६ (राज.)

© जैन विश्व भारती, लाडनू

प्रथम संस्करण : अगस्त २००६

मूल्य : १००/- (सौ रुपये मात्र)

टाईप सेटिंग : सर्वोत्तम प्रिंट एण्ड आर्ट

मुद्रक : श्री वर्धमान प्रेस
नवीन शहादरा, नई दिल्ली-३२

आशीर्वचन

आगम साहित्य में आत्मा और पुद्गलहृदोनों का विशद विवेचन है। द्वैतवादी चिन्तनधारा में केवल आत्मा और केवल पुद्गल के लिए स्थान नहीं है। चेतन और अचेतनहृदोनों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है।

आत्मा ज्ञाता है, पुद्गल ज्ञेय है। ज्ञेय से पहले ज्ञाता को जानना आवश्यक है इसीलिए समणी संबोधप्रज्ञा ने 'आत्म-तत्त्व की अवधारणा' के विषय में एक प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न की सार्थकता के लिए आत्म-तत्त्व के विषय में और अधिक गहराई में जाने की आवश्यकता है। अभीक्षण अध्ययन, अभीक्षण, ज्ञानोपयोग और अभीक्षण प्रयत्न के द्वारा सफलता मिल सकती है। इस दिशा में कदम निरन्तर आगे बढ़ते रहें।

४/८/२००६
तेरापंथ भवन
भिवानी

आचार्य महाप्रज्ञ

स्वकथ्य

दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में भारत की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। वेद, उपनिषद्, आगम आदि में निहित दर्शन में भारत की चिन्तनशीलता दर्शनीय है। भारतीय दर्शन में श्रेय और प्रेय की विवेचना मिलती है। श्रेय आध्यात्मिक साधना का मार्ग है और प्रेय जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इन्हीं दो चिन्तनधाराओं के आधार पर प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों का विकास हुआ।

जैनदर्शन के विकास में निवृत्ति मार्ग की प्रमुखता रही है। यह बात नहीं है कि वहां प्रवृत्ति को गौण कर दिया है पर लक्ष्य निवृत्ति का है। प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर जाने का जैनदर्शन संकेत करता है। जैनधर्म की सम्पूर्ण साधना द्रष्टा की दृष्टि के अनुसार चलती है। द्रष्टा वह होता है जिसे सम्पूर्ण सत्य का साक्षात् हो जाये। द्रष्टा की दृष्टि दार्शनिक चिन्तन का आधार बनती है। दार्शनिक वह है जो अभी सम्पूर्ण सत्य जान नहीं सका अपितु सत्य के अनुसंधान में लगा है। द्रष्टा सम्पूर्ण सत्य को जानता है, अतः वहां कोई ऊहापोह नहीं होकर निर्विकल्पता एवं निर्विचारता है। दार्शनिक सम्पूर्ण सत्य को जानने का दावा नहीं करता। वह सत्यानुसंधान में रत है, इसलिए उसे ऊहापोह का आलम्बन लेना पड़ता है। अनेक विकल्प उसके समक्ष होते हैं; उनमें से ग्रहण करने योग्य विकल्प की वह चिन्ता करता है। इसमें तर्क वितर्क उसके उपकरण बनते हैं। उसे विचार के जगत् में जीना होता है, अतः वह चिन्तक की गरिमामयी संज्ञा से उपमित किया जाता है।

यह संसार अनादि-अनन्त है। संसार-समुद्र सुख-दुःख रूपी नदियों का संगम है। इसमें गोता लगाते-लगाते जब प्राणी श्रान्त हो जाता है तो वह शाश्वत विश्राम व आनन्द की खोज में निकलता है। उसी खोज के दौरान होने वाले हेयोपादेय-उपदेश की मीमांसा दर्शन बन जाती है।

दर्शन का अर्थ है—तत्त्व का साक्षात्कार या उपलब्धि। सबसे प्रमुख तत्त्व है आत्मा। “जो आत्मा को जान लेता है, वह सबको जान लेता है।”

यों तो अस्तित्व की दृष्टि से सब तत्त्व समान हैं किन्तु मूल्य की दृष्टि से आत्मा सर्वाधिक मूल्यवान तत्त्व है। मूल्य का निर्णय आत्मा पर ही निर्भर है। किसी भी वस्तु का अस्तित्व तो स्वयंजात होता है पर उसका मूल्य चेतना से सम्बद्ध हुए बिना नहीं होता। ‘सूरजमुखी का फूल पीला है’—कोई जाने या नहीं जाने, किन्तु ‘सूरजमुखी मनोहारी है’—यह बिना जाने नहीं होता। वह तब तक मनहर नहीं जब तक किसी आत्मा को वैसा न लगे। ‘दूध सफेद है’—इसके लिए चेतना से सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं; किन्तु ‘वह उपयोगी है’—यह मूल्य विषयक निर्णय चेतना से सम्बन्ध स्थापित हुए बिना नहीं होता। तात्पर्य यह है कि मनोहारी, उपयोगी, प्रिय—अप्रिय आदि मूल्यांकन पर निर्भर है। आत्मा द्वारा अज्ञात वस्तुवृत्त अस्तित्व के जगत् में रहते हैं। उनका अस्तित्व—निर्णय और मूल्य—निर्णय—ये दोनों आत्मा द्वारा ज्ञात होने पर होते हैं। ‘वस्तु का अस्तित्व है’—इसमें चेतना की कोई अपेक्षा नहीं किन्तु वस्तु जब ज्ञेय बनती है, तब चेतना द्वारा उसके अस्तित्व का निर्णय होता है। यह चेतना के साथ वस्तु के सम्बन्ध की पहली कोटि है। दूसरी कोटि में उसका मूल्यांकन होता है, तब वह हेय या उपादेय बनती है। उक्त विवेचन के अनुसार दर्शन के दो कार्य हैं—

1. वस्तुवृत्त विषयक निर्णय।
2. मूल्य विषयक निर्णय।

हेय, ज्ञेय और उपादेय—इस त्रिपुटी से इसी तत्त्व का निर्देशन मिलता है। यही तत्त्व ‘ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिज्ञा’—इस बुद्धिद्वय से मिलता है। जैनदर्शन में यथार्थज्ञान ही प्रमाण माना जाता है। कारण यही है कि वस्तुवृत्त के निर्णय (प्रिय वस्तु के स्वीकार और अप्रिय वस्तु के अस्वीकार) में वही क्षम है।

दर्शन को यदि उपयोगी बनाना हो तो उसे वस्तुवृत्तों को खोजने की अपेक्षा उनके प्रयोजन अथवा मूल्य को खोजना चाहिए।

भारतीय दर्शन इन दोनों शाखाओं को छूता रहा है। उसने जैसे अस्तित्वविषयक समस्या पर विचार किया है, वैसे ही अस्तित्व से सम्बन्ध रखने वाली मूल्यों की समस्या पर भी विचार किया है। हेय, ज्ञेय

और उपादेय का ज्ञान उसी का परिणाम है।

भारतीय दर्शन में द्रष्टा द्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण सत्य की मर्यादाओं के अन्तर्गत ही ऊहापोह, तर्क-वितर्क और संकल्प-विकल्प की अठखेलियां की गई हैं। तर्क दुधारी तलवार है। वह आगम के पक्ष में भी जा सकती है और विरुद्ध भी जा सकती है। भारतीय दार्शनिक इस सम्बन्ध में पूर्णतः सावधान हैं कि उनका तर्क आगमानुकूल हो, आगमविरुद्ध नहीं। 'श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्।'

पश्चिम के कुछ विचारक और उनका अनुकरण करने वाले कुछ भारतीय भी यह आरोप लगाते रहे हैं कि भारतीय-दर्शन धर्म का पिछलग्गू है। क्योंकि यहां का दार्शनिक आगमोक्त सत्य को अंतिम सत्य मानकर चलता है। आपाततः यह आरोप सत्य प्रतीत होता है किन्तु गंभीरता से देखा जाये तो इस आरोप का खोखलापन दो आयामों में स्पष्ट हो जाता है। प्रथमतः देशकालानुसार परिस्थितियों के बदल जाने पर भी मनुष्य स्वभाव की कुछ ऐसी प्रवृत्तियां हैं जो बदलती नहीं; उन प्रवृत्तियों से सम्बद्ध समस्याएं और समाधान शाश्वत हैं। आगम उन्हीं शाश्वत समाधानों का प्रतिनिधि है। तर्क के आधार पर इन समाधानों से छेड़छाड़ करना, नव-कल्याण के साथ खिलवाड़ करना है। भारतीय दार्शनिक तर्क की नाव को विचार-नदियों में खेते समय श्रद्धा की पतवार कभी नहीं छोड़ता और उसकी नाव एक दिन मुक्ति-तट पर आ लगती है जहां तर्क की नौका अनावश्यक हो जाती है। जीवन के शाश्वत मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता के अभाव में दार्शनिक का तर्क-वितर्क केवल वाग्‌विलास या वाक्छल ही रह जाता है। आस्थाहीन तर्क-वितर्क मनोरंजन तो कर सकते हैं पर जीवन को कोई निश्चित दिशा नहीं दे पाते। भारतीय परम्परा में जैन, बौद्ध अथवा वैदिक, किसी भी सम्प्रदाय के दार्शनिक क्यों न रहे हों, उन्होंने हजारों-हजारों साधकों को दिशा दी है। पश्चिम का दार्शनिक यह नहीं कर पाया।

जैनदर्शन की एक यह विशेषता भी है कि वह किसी भी दृष्टि को एक दृष्टिकोण ही मानता है, सम्पूर्ण सत्य का प्रतिनिधि नहीं। अतः जैनदर्शन के लिए किसी भी दृष्टि की विभिन्नता अथवा दृष्टि का पारस्परिक विरोध भी कोई समस्या उत्पन्न नहीं करता अपितु सत्य के सहज रूप को उजागर करने का माध्यम होने से अभिनन्दनीय बन जाता है। अनेकान्त दार्शनिकता को द्रष्टृत्व में परिणत कर देता है। यदि

सम्पूर्ण समुद्र को दृष्टि से ओझल नहीं किया जाए तो समुद्र—जल की एक बूंद से सम्पूर्ण समुद्र के जल के स्वाद से हम परिचित हो सकते हैं। जैनाचार्यों ने 'कथंचित्' का पक्ष लिया है, 'सर्वथा' का उन्होंने सर्वदा विरोध किया है।

आत्मा का जैनदर्शन में बहुत महत्त्व है। आत्मा ही प्राप्य है, दूसरा कुछ भी नहीं। आत्म—विकास शिव है। पौद्गलिक साजसज्जा सौन्दर्य है। एक व्यक्ति सुन्दर नहीं होता किन्तु आत्म—विकास होने के कारण वह शिव होता है। जो शिव नहीं होता, वह सुन्दर हो सकता है। शिव और सुन्दर के मूल्यांकन में व्यक्ति की दृष्टि भी महत्त्वपूर्ण होती है। कहा गया है—

न रम्यं नारम्यं प्रकृतिगुणतो वस्तु किमपि।

प्रियत्वं वस्तूनां भवति च खलु ग्राहकवशात्।।

(प्रशमरति प्रकरण 52, पूर्वाद्ध)

प्रियत्व और अप्रियत्व ग्राहक की इच्छा के अधीन हैं, वस्तु के नहीं। निश्चय दृष्टि से न कोई वस्तु इष्ट है और न कोई अनिष्ट।

इस इष्टतानिष्टता का आधार बनता है राग और द्वेष। एक व्यक्ति एक समय जिस वस्तु से द्वेष करता है, वही दूसरे समय उसमें लीन हो जाता है, इसलिए इष्ट—अनिष्ट किसे माना जाए?

तानेवार्थान् द्विषतः, तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य।

निश्चयतोऽस्यानिष्टं, न विद्यते किंचिदिष्टं वा।।

(प्रशमरति प्रकरण 52, उत्तराद्ध)

व्यवहार की दृष्टि में भोग—विलास जीवन का मूल्य है। अध्यात्म की दृष्टि में गीत—गान विलाप मात्र है, नाटक विडम्बनाएं हैं, आभूषण भार हैं और कामभोग दुःख।

सौन्दर्य दृश्य—वस्तु में दिखाई देता है। वह वस्तु वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—इस चतुष्टय से सम्पन्न होती है। यह चतुष्टय किसी में शुभ परिणमन वाला होता है और किसी में अशुभ परिणमन वाला। अतः सौन्दर्य—असौन्दर्य, अच्छाई—बुराई, प्रियता—अप्रियता, उपादेयता—हेयता आदि का निर्णय वस्तु की योग्यता के आधार पर होता है। वस्तु के अशुभ—शुभ परमाणु मन को प्रभावित करते हैं। जिस वस्तु के शारीरिक और मानसिक परमाणुओं के साथ वस्तु के परमाणुओं का साम्य होता है, वह व्यक्ति उस वस्तु के प्रति आकृष्ट हो जाता है। दोनों का वैषम्य हो

तो आकर्षण नहीं बनता। यह साम्य और वैषम्य देश, काल और परिस्थिति आदि के समवाय पर निर्भर है। एक देश, काल और परिस्थिति में जिस व्यक्ति के लिए जो वस्तु हेय होती है, वही दूसरे देश, काल और परिस्थिति में उपादेय बन जाती है। यह व्यावहारिक दृष्टि है। परमार्थ दृष्टि में आत्मा ही सुन्दर है; वही अच्छी, प्रिय और उपादेय है। आत्म-व्यतिरिक्त सब वस्तुएं हेय हैं। इसलिए फलितार्थ होता है—दर्शनं स्वात्मनिश्चितिः—अपनी आत्मा का जो निश्चय है, वही दर्शन है।

किसी भी वस्तु का मूल्यांकन करते समय आत्मा की संतुष्टि या असंतुष्टि अन्तर्निहित होती है। अशुद्ध दशा में आत्मा का सन्तोष या असन्तोष भी अशुद्ध होता है। इसलिए इस दशा में होने वाला मूल्यांकन नितान्त बौद्धिक या नितान्त व्यावहारिक होता है। वह शिवत्व के अनुकूल नहीं होता। शिवत्व के साधन तीन हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र। यह त्रिवेणी ही शिवत्व के अनुकूल है। यह भी आत्मा की ही परिक्रमा किए चलती है—

दर्शन आत्मा का निश्चय है।

बोध आत्मा का ज्ञान है।

चारित्र आत्मा में स्थिति या रमण है।

यही तत्त्व आचार्य शंकर के शब्दों में भी मिलता है।

यह आध्यात्मिक रत्नत्रयी है। इसी के आधार पर जैनदर्शन कहता है—आस्रव हेय है और संवर उपादेय। बौद्धदर्शन के अनुसार दुःख हेय है और मार्ग उपादेय। वेदान्त के अनुसार अविद्या हेय है और विद्या उपादेय। इसी प्रकार सभी दर्शन हेयोपादेय की सूची लिये चलते हैं। हेयोपादेय पर विचार करने पर एक ही उपादेय तत्त्व हमारे समक्ष आता है, वह है आत्मा।

आत्मतत्त्व ही एकमात्र ऐसा तत्त्व है जिसके आधार पर आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन के बीच भेदरेखा खींची जा सकती है। 'मैं कौन हूँ' इसी जिज्ञासा से दर्शन का जन्म होता है। धर्मदर्शन की मूल भित्ति आत्मा है। यदि आत्मा है तो वह है, नहीं तो नहीं। यहीं से आत्मतत्त्व आस्तिकों का आत्मवाद बन जाता है। वाद की स्थापना के लिए दर्शन और उसकी सच्चाई के लिए धर्म का विस्तार होता है। आत्मा को जानने के बाद ही सारा ज्ञान होता है। अज्ञानी व्यक्ति क्या करेगा जबकि उसे श्रेय और पाप का ज्ञान भी नहीं होता, इसलिए पहले सत्य को जानो

और बाद में उसे जीवन में उतारो।

भारतीय दार्शनिक पाश्चात्य दार्शनिक की तरह केवल सत्य का ज्ञान ही नहीं चाहता, वह चाहता है मोक्ष। मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है—“जिससे मैं अमृत नहीं बनती, उसे लेकर क्या करूँ? जो अमृतत्व का साधन हो वही मुझे बताओ।” कमलावती इक्षुकार को सावधान करती है— “हे नरदेव! धर्म के सिवाय अन्य कोई त्राण नहीं है।” मैत्रेयी अपने पति से मोक्ष के साधनभूत अध्यात्म-ज्ञान की याचना करती है और कमलावती अपने पति को धर्म का महत्त्व बताती है। इस प्रकार धर्म की आत्मा में प्रविष्ट होकर वह आत्मवाद अध्यात्मवाद बन जाता है। यही स्वर उपनिषद् के ऋषियों की वाणी में से निकला—

‘आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है।’ तत्त्व यही है कि दर्शन का प्रारम्भ आत्मा से होता है और अन्त मोक्ष में। सत्य का ज्ञान उसका शरीर है और सत्य का आचरण उसकी आत्मा।

आत्मा का चिन्तन क्यों किया जाए? आखिर उसका क्या लक्ष्य है और क्या महत्त्व है?

आत्मचिन्तन का लक्ष्य और महत्त्व

आत्मतत्त्व भारतीय दार्शनिकों के चिन्तन का केन्द्रबिन्दु रहा है। उपनिषद् ऋषि का यही स्वर मुखर हुआ है। सबकी दौड़ एक अनजानी वीथिका पर है। कुछ पाना चाहता है मानव। हमेशा से ही वह बेचैन है, प्यासा है आन्तरिक आनन्द स्रोत को पाने के लिए। जब से सृष्टि का निर्माण हुआ है, तभी से मानव चिन्तन करता आया है कि मैं कौन हूँ? कोऽहं??? इसी के परिप्रेक्ष्य में उसकी असीम जिज्ञासाएं होती रही हैं। यही आदि बिन्दु है आत्मचिन्तन की दिशा में अग्रसर होने का। यदि आत्मचिन्तन न हो तो मानव कुछ भी नहीं। जब आत्मचिन्तन की दिशा में चरण-न्यास होता है तो सारे बिन्दु, सभी तत्त्व स्पष्ट होते चले जाते हैं। जिज्ञासा होती है कि आत्मचिन्तन का लक्ष्य क्या है? क्योंकि लक्ष्यविहीन किसी भी चिन्तन का कोई मूल्य नहीं है। अतः इस बिन्दु पर यदि गहराई में जाकर चिन्तन करें तो बहुत समाधान मिलते हैं।

जब से मानव आत्मा को शरीर मिला है, तब से उसका मन पुकार उठता है केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। (केनोपनिषद् 1.1) यानि जडरूप अन्तःकरण, प्राण, वाणी आदि कर्मेन्द्रिय

और चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को अपना-अपना कार्य करने की योग्यता प्रदान करने वाला और उन्हें अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त करने वाला जो कोई एक सर्वशक्तिमान चेतन है, वह कौन है? और कैसा है? तब गुरु उत्तर की भाषा में बोलते हैं—न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्येव तद्विदितादथो अविदितादधि। (केनोपनिषद्, 1.3) उस तक न आंख जा सकती है न वाणी जाती है, न मन, जिस प्रकार इसको बतलाया जाए कि यह ऐसा है, न तो हम स्वयं बुद्धि से जानते हैं, वह जाने हुए से भी भिन्न है और न जाने हुए से भी ऊपर है। आगे भी यही स्वर मुखर होता है। आत्मा आत्मा है। वह इन्द्रिय, मन आदि का विषय नहीं है। इन सबसे परे आत्मा है। उसे प्राप्त करने के बाद कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता। कठोपनिषद् आदि में भी ये ही गीत गाये गए हैं।

आत्मचिन्तन भारतीय मनीषा का प्रथम बिन्दु रहा है। जिज्ञासा हुई कि जो आत्मा न इन्द्रियों का विषय है, न मन का विषय है, फिर उसका चिन्तन क्यों करें? मैंने जब अपने आपसे यह प्रश्न किया तो गहराई में जाने पर मुझे समाधान मिला—आत्मा इन्द्रिय, मन का विषय नहीं है, यह तो ठीक है। जब हम गहराई में झांकते-झांकते शरीर, इन्द्रिय, मन को छोड़ते चले जाते हैं तो एक अजीब से आनन्द की दुनिया में प्रविष्ट हो जाते हैं। वहां होता है—अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान। वहां न क्रोध है, न मान, न माया, न लोभ। जितनी देर हम , उस स्थिति में रहते हैं, तब तक अनुभवगम्य, शब्दातीत अनुभूति वह है। जो भी उस स्थिति से निकलता है, वह वेद संगान हो जाता है, ऋषिमुख से समुद्भूत उपनिषद् बन जाती है, तीर्थकरों की अतिशय वाक् निःसृत होकर आगम बन जाती है। उसे गीता का उपदेश कहें या कबीर के दोहे, तुलसीदास के भजन कहें या सूरदास के सवैये, मीरा का पागलपन कहें या विवेकानंद की क्रांति, रामकृष्ण की लीनता कहें या योगियों का आनन्द, महाप्रज्ञ की मंजिल कहें—सब वहीं विश्रान्ति को प्राप्त होते हैं।

आत्मचिन्तन का लक्ष्य जहां तक मैं समझ पाई हूँ, हो सकता है सबका अपना-अपना हो। वह संस्कारों का परिष्कार, कषायों से मुक्ति, समस्या का समाधान आदि कुछ भी हो सकता है, आत्मचिन्तन की दिशा या निश्चयनय की दिशा। आत्मचिन्तन का लक्ष्य होता है पदार्थ चेतना

पुद्गल चेतना से ऊपर उठकर अनन्तता असीमता की दिशा में प्रस्थान। जो हम हैं, उसे पाना। जब तक हम अपने को शरीर मानते हैं, तब तक समस्याएं मुंह बाये खड़ी रहती हैं। पर जब हम आत्मचिन्तन करते हैं तो लगता है समस्या कुछ है ही नहीं। समस्या शब्द ही वहां नहीं होता।

आत्मचिन्तन जब हम करते हैं तो उसका महत्त्व इतना है कि वह वर्णनातीत, अक्षरातीत है। इस विषय में मैं किंचित् कोशिश कर ही हूँ लिखने की। यहां मैं कोई आगमकथा, तार्किक, वैज्ञानिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं करना चाहती। मैं स्वयं प्रमाण—रूप में अपने आपको उद्धृत करना चाहती हूँ। यद्यपि यह बात नई नहीं होगी क्योंकि जो उस स्थिति में पहुंचकर जो कुछ कहता है वह उन सबका एक जैसा होता है। शब्द भले ही अलग-अलग हो जायें पर भाव एक ही होता है। आत्मचिन्तन का महत्त्व है कि आसक्ति से ऊपर उठ जाता है व्यक्ति। पुद्गल चेतना से ऊपर उठने के पश्चात् न दुःख होता है न सुख। न राग होता है, न द्वेष। न प्रियता होती है न अप्रियता। कुछ नहीं रहता है। जब यह सब नहीं रहेगा तो हमारा जीवन आनन्दपूर्ण हो जाएगा, कोई समस्या नहीं होगी। न कोई अपना होगा, न पराया, न शरीर होगा, न भटकाने वाली इन्द्रियां और मन। वहां कुछ नहीं होगा, केवल ज्ञान होगा, केवल दर्शन होगा, केवल आनन्द होगा, केवल शांति होगी और होगा शक्ति का अजस्र प्रवाह। और अधिक शब्दों में इसका महत्त्व बयान नहीं किया जा सकता। अतः मैं यही मंगल कामना करती हूँ कि सबका लक्ष्य आत्मा बने, उस दिशा में सभी चरणन्यास करें व उसे प्राप्त करें।

अर्धमागधी आगमों में आत्मतत्त्व की अवधारणा इस पुस्तक में प्रस्तुत की गई है। प्रस्तुत पुस्तक सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में विभिन्न विभिन्न भारतीय दर्शनों में आत्मविचार पर चर्चा है, जिसमें वेद, उपनिषद्, बौद्धदर्शन, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य, वेदान्त आदि दर्शन में उपलब्ध आत्मचिन्तन प्रस्तुत किया है। द्वितीय अध्याय में आत्मनिरूपण में विभिन्न दृष्टियों का निरूपण किया गया है। अस्तित्ववादी चिन्तनसरणि, मूल्यात्मक चिन्तनसरणि और आत्मा पर विचार किया गया है। अनेकान्त दृष्टि से आत्मा पर चिन्तन हुआ है। तृतीय अध्याय में आगमिक संदर्भों में आत्मविषयक चर्चा की गई है। चतुर्थ अध्याय में आत्मा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ, आत्मा के पर्यायों का विवेचन, आत्मा के लक्षण, आत्मा की अवधारणा, आत्मा के प्रकार, आत्मा का परिमाण और

समुद्घात पर विचार किया है। पंचम अध्याय में निहित है – संसारी आत्मा का स्वरूप, आस्रव, मुक्त आत्मा का स्वरूप, मोक्ष की परिभाषा, मुक्तसत्ता की गति व मोक्षस्थान। षष्ठ अध्याय में आत्मविकास की भूमिकाएं हैं। इसके अन्तर्गत गुणस्थान, सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का वर्णन है। सप्तम अध्याय में आगमगत चिन्तन के विकास में आचार्यों के योगदान की चर्चा है। इसमें आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य उमास्वाति, अन्य प्राचीन आचार्य, गणाधिपति श्री तुलसी व आचार्यश्री महाप्रज्ञाजी के योगदान का वर्णन किया गया है।

आभारज्ञापन

विभूतिलसित और हृदयरमणीय श्री गुरुदेव तुलसी का अवितथ और कल्याणसाधक आशीर्वाद इस विद्यायात्रा के साथ-साथ मेरी अध्यात्म यात्रा में सहायक बना। अध्ययन-अध्यापन के साथ अध्यात्म के क्षेत्र में प्रवेश की रुचि पूज्य प्रवर श्री गुरुदेव की चरणोपपत्ति के कारण ही बनी है। इस शोध प्रबन्ध का शब्द-शब्द उनकी शक्ति से उद्भासित है। उस कीर्तिशेष श्री गुरुदेव को नित्य नमन। अध्यात्मगीत के रसिक और ध्यान-धारा में निमज्जित करुणापुरुष श्री गुरुदेव आचार्य श्री महाप्रज्ञा का अनाविल आशीर्वाद रूप ज्योत्स्ना से मेरा रोम-रोम आह्लादित है। उनकी ज्ञान की दिगन्तव्यापिनी स्रोतस्विनी में स्नात होकर आनंदित एवं रोमांचित होती रही हूँ। इस शोध-प्रबन्ध का प्रत्येक अक्षर श्रीगुरुदेव के आशीष का ही परिणत रूप है। अतः प्रस्तुत पुस्तक आपश्री के चरणों में सादर समर्पित है। बस यही कामना कि मेरा मन, प्रवृत्तियां सब कुछ उनके चरण-नख-ध्यान में ही लगी रहें। सहज स्नेह की मूर्ति मातृकल्पा महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा श्री कनकप्रभाजी की वात्सल्यदृष्टि ने मेरी लेखनी को शक्ति दी एवं उसी के फलस्वरूप अजस्र प्रवाहित हुई यह लेखनी। वात्सल्यमयी, वन्दनीया मुख्य नियोजिका साध्वीश्री विश्रुतविभाजी की दृष्टि ने मुझे आगे बढ़ने की प्रेरणा दी।

आदरणीया समणी नियोजिका अक्षयप्रज्ञाजी, समणी स्थितप्रज्ञाजी एवं समणी मुदितप्रज्ञाजी आदि का प्रस्तुत कार्य की निष्पत्ति में अनिर्वचनीय योग रहा है। समणी उज्ज्वलप्रज्ञाजी एवं समणी चिन्मयप्रज्ञाजी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन किन शब्दों में करूं ? समणीद्वय का सहयोग, प्रेरणा व प्रूफ निरीक्षण मेरे कार्य में अत्यन्त सहायक बने हैं। समणी गुरुप्रज्ञाजी के सहयोग हेतु भी मेरी कृतज्ञता।

कुसुम जैन, श्री दीपाराम खोजा, श्री प्रफुल्ल वालोकर एवं सर्वोत्तम प्रिण्ट एण्ड आर्ट के श्री प्रमोद कुमार की तत्परता कंपोजिंग आदि कार्य संपादित किए हैं। इन सबके अतिरिक्त प्रत्यक्ष व परोक्ष सहयोग हेतु सृष्टि के कण-कण के प्रति मेरी हार्दिक कृतज्ञता। नमन प्रकृति के कण-कण को। कृतज्ञोस्मि, कृतज्ञोस्मि, कृतज्ञोस्मि।

5 अगस्त 2006
भिवानी

समणी संबोधप्रज्ञा

विषयानुक्रमणिका

		पृष्ठ संख्या
प्रथम अध्याय	भारतीय दर्शन में आत्मविचार	1-26
	<ul style="list-style-type: none">■ वेद में आत्मविचार■ उपनिषदों में आत्मविचार■ बौद्धदर्शन में आत्मचिन्तन■ अन्य भारतीय दर्शनों में आत्मचिन्तन■ न्याय वैशेषिक■ मीमांसा दर्शन में आत्मचिन्तन■ सांख्य दर्शन में आत्मचिन्तन■ वेदान्त (अद्वैत) में आत्मविचार■ विशिष्टाद्वैतवाद	
द्वितीय अध्याय	आत्म-निरूपण — विभिन्न दृष्टियां	27-57
	<ul style="list-style-type: none">■ अस्तित्ववादी चिन्तनसरणि और आत्मा■ मूल्यात्मक चिन्तनसरणि और आत्मा■ आत्मनिरूपण में अनेकान्त दृष्टि	
तृतीय अध्याय	आत्मविषयक आगमिक संदर्भ	58-80
	<ul style="list-style-type: none">■ आगमों का कालक्रम■ आगमों का विषय■ ग्यारह अंग एवं बारह उपांग■ चार मूलसूत्रों का परिचय	
चतुर्थ अध्याय	आत्मा का स्वरूप	81-119
	<ul style="list-style-type: none">■ आत्मा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ■ आत्मा के पर्यायों का विवेचन■ आत्मा के लक्षण■ आत्मा की अवस्थाएं	

▪	आत्मा के प्रकार	
▪	आत्मा का परिमाण	
▪	समुद्घात	
पंचम अध्याय	संसारी आत्मा और मुक्त आत्मा का स्वरूप	120—189
▪	संसारी आत्मा का स्वरूप	
▪	आस्रव (पांच प्रकार के आस्रव)	
▪	मुक्त आत्मा का स्वरूप	
▪	मोक्ष की परिभाषा	
▪	मुक्तसत्ता की गति	
▪	मोक्षस्थान	
षष्ठ अध्याय	आत्मविकास की भूमियां	190—125
▪	आध्यात्मिक विकास का उद्देश्य	
▪	गुणस्थान	
▪	गुणस्थान और कर्मबंध	
▪	सम्यग्दर्शन	
▪	सम्यक्त्व का स्वरूप	
▪	सम्यक्त्व के पर्यायवाची	
▪	सम्यक्त्व के आचार	
▪	सम्यग्ज्ञान	
▪	सम्यक्चारित्र	
▪	पांच चारित्र	
सप्तम अध्याय	आगमगत आत्मचिन्तन का विकास :	
	आचार्यों का योगदान	226—267
▪	आचार्य कुन्दकुन्द का योगदान	
▪	आचार्य उमास्वाति का योगदान	
▪	अन्य प्राचीन आचार्यों का योगदान	
▪	गणाधिपति श्री तुलसी का योगदान	
▪	आचार्य महाप्रज्ञ का योगदान	
उपसंहार		268—273
ग्रन्थानुक्रमणिका		274—286

फोटो

समणी संबोधप्रज्ञा

शिष्या	:	युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ
जन्म	:	७ जून १९६९, हांसी (हरियाणा)
दीक्षा	:	५ नवम्बर १९९७, गंगाशाहर आचार्यश्री महाप्रज्ञ के कर कमलों से।
शिक्षा	:	M. A. (जैनागम और प्राकृत साहित्य), B. Ed., NET (JRF), Ph.D.
अध्यापन-स्थल	:	सुभाष तायल पब्लिक स्कूल, हांसी, ब्राह्मी विद्यापीठ, आचार्य कालू कन्या महाविद्यालय (कार्यकारी प्राचार्या), जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं।
शिविर-संचालन	:	प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान, जैन तत्त्वज्ञान, संस्कार निर्माण एवं महिला शिविर।
सेमिनार	:	राष्ट्रीय स्तर पर सहभागिता।
यात्रा	:	हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, पश्चिम-बंगाल, आंध्र-प्रदेश, मध्य- प्रदेश, आसाम, उत्तर-प्रदेश।
विदेश-यात्रा	:	इंडोनेशिया, मलेशिया, सिंगापुर, इंग्लैंड।

प्रथम अध्याय भारतीय दर्शन में आत्मविचार

संसार में मनुष्य एवं पशु—दो प्रकार के प्राणी परिलक्षित होते हैं। दोनों अपना-अपना जीवन-यापन करते हैं। पशु का जीवन प्रायः निरुद्देश्य होता है। वह सहज प्रवृत्ति से परिचालित होता है। मनुष्य अपनी बुद्धि का उपयोग करता है। वह स्वयं का तथा संसार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार अपना जीवन-यापन करना चाहता है। मनुष्य केवल वर्तमान जीवन को ही नहीं देखता अपितु भविष्य को भी देखता है। वह बुद्धि से युक्तिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करता है। युक्तिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करने को ही दर्शन कह दिया गया। वैसे दर्शन शब्द के तीन अर्थ सभी परंपराओं में प्रसिद्ध हैं—जैसे—घटदर्शन आदि व्यवहार में चाक्षुष ज्ञान के अर्थ में, आत्मदर्शन इत्यादि साक्षात्कार अर्थ में और न्याय दर्शन, सांख्य दर्शन इत्यादि व्यवहार में खास-खास परम्परा सम्मत निश्चित विचारसरणि अर्थ में।

दर्शन शब्द के दो अर्थ जो जैन परम्परा में प्रसिद्ध हैं, वे अन्य परंपरा में दिखाई नहीं देते। उनमें से एक अर्थ तो है श्रद्धान और दूसरा अर्थ है सामान्यबोध या आलोचना मात्र। जैन शास्त्रों में तत्त्वश्रद्धा को दर्शन पद से व्यवहृत किया गया है—जैसे—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।¹ इसी तरह वस्तु के निर्विशेषसत्तामात्र के बोध को भी दर्शन कहा जाता है, जैसे—विषयविषयि सन्निपातानन्तरसमुद्भूत-सत्तामात्र-गोचरदर्शनात्.....।²

मनु ने कहा है 'सम्यक् दर्शन प्राप्त होने पर कर्म मनुष्य को बंधन में नहीं डाल सकते, जिनको यह सम्यग्दृष्टि नहीं है, वे ही संसार के जाल में फंस जाते हैं।'³

प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार भारतीय दर्शन दो भागों में बांटे गये—आस्तिक एवं नास्तिक। आस्तिक दर्शन छह है—मीमांसा, वेदान्त,

सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक। नास्तिक दर्शन तीन है—चार्वाक, बौद्ध तथा जैन। यह बात शंकराचार्य ने कठ, तैत्तिरीय, बृहदारण्यकोपनिषद् की भूमिका में जो कही है, पहले मैं इस पर विचार करना उचित समझती हूँ। आस्तिक एवं नास्तिक शब्द पर विचार करते समय सर्वप्रथम पाणिनि के उस सूत्र को देखते हैं, जिसमें उन्होंने शब्दों की व्युत्पत्ति और उसके अर्थ पर इस रूप में प्रकाश डाला है—अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः।⁴ इस सूत्र के भाष्य पर विचार करते समय आचार्य कैयट ने अपनी प्रदीप टीका में कहा है—“अस्तीत्यस्येति। परलोककर्तृका च सत्ता विज्ञेया।” तत्रैव विषये लोके प्रयोगदर्शनात्। तेन परलोकोऽस्तीति मतिर्यस्य सः आस्तिकः तद्विपरीतो नास्तिकः।⁵ इसमें परलोक की सत्ता मानने वाले को आस्तिक और इसके विपरीत परलोक की सत्ता स्वीकार न करने वाले को नास्तिक कहा गया है। शब्दस्तोममहानिधि नामक संस्कृत कोश में आस्तिक पद की व्याख्या इस प्रकार की गई है—अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य, परलोकास्तित्ववादिनी, अस्तीत्युक्तागतो यस्मादास्तिकस्तेन कथ्यते।⁶ वाचस्पत्यम् वृहत् संस्कृताभिधान में आस्तिक पद का अर्थ इस प्रकार किया गया—

अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य।⁷ दोनों कोषों में नास्तिक पद का अर्थ इस प्रकार समझाया गया—नास्ति परलोकस्तत्साधनमदृष्टं, तत्साक्षीश्वरो वा इति मतिरस्य। 1. परलोकाभाववादिनी 2. तत्साधनादृष्टा—भाववादिनी 3. तत्साक्षिण ईश्वरस्यासत्त्ववादिनी च चार्वाकादौ।⁸ अर्थात् जो व्यक्ति परलोक नहीं है और परलोक का साधन अदृष्ट या धर्माधर्म नहीं है एवं धर्माधर्म का साक्षी ईश्वर भी नहीं है, ऐसा मत रखते हैं और जो व्यक्ति परलोक के अभाव को बताने वाले हैं, परलोक के साधन अदृष्ट का अभाव कहने वाले हैं और उसके साक्षी ईश्वर की असत्ता घोषित करने वाले हैं, उन्हें नास्तिक कहा जाता है, यथा चार्वाक आदि।

इन सब परिभाषाओं की समीक्षा करने पर निष्कर्ष निकलता है कि पुनर्जन्म, परलोक, ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखने वाला आस्तिक है। जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में इसे देखें तो हम पायेंगे कि जैन दर्शन में ये सभी तत्त्व उपलब्ध हैं। अतः वह आस्तिक ही है। जो वेद की बात करते हैं कि वेद को मानने वाला आस्तिक है। वेद ज्ञान को कहते हैं। वैसा ज्ञान जो परलोक, पूर्व जन्म, सुख-दुःख आदि का ज्ञान कराकर निज स्वरूप में प्रतिष्ठित करता है। आगम और वेद एकार्थक है। जो

ज्ञान है वह वेद है और उसका परम्परा से आगमन आगम है। प्रवृत्ति निमित्त का भेद है। वैदिक परम्परा में वेद है, वही जैन परम्परा में आगम है। जैन दर्शन परलोक, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य आदि पर विश्वास करता है, इसलिए वह आस्तिक है।

सभी ने दुःख मुक्ति के लिए प्रयास किया है, साधना की है। सुख-दुःख आदि सब बाहरी होते हुए भी आत्मा को ही प्रभावित करते हैं। सबका मूल है—आत्मा। यही कारण है कि सबने आत्मा के विषय में चिन्तन किया है। सर्वप्रथम हम 'वेद में आत्मविचार' के विषय में विचार-विमर्श करते हैं।

वेद में आत्मविचार

वेद का अर्थ है 'ज्ञान', जिसका ऋषियों ने तपस्या के द्वारा 'अभय-ज्योति' के रूप में साक्षात्कार किया था और शब्दों के द्वारा जिसे मंत्र रूप में प्रकाशित किया था। वेदों को अपौरुषेय कहा जाता है।

वेदों में अध्यात्मविद्या उपलब्ध होती है। वहां आत्मा शब्द का नामोल्लेख नहीं है तथापि अभय-ज्योति के रूप में आत्मा की खोज की गई है। सांसारिक साधनों के द्वारा अपने दुःख को दूर करने में असमर्थ जिज्ञासु देवता की स्तुति करता है—हे आदित्य! मुझे दाहिने और बायें का ज्ञान नहीं है, मैं पूर्व और पश्चिम दिशाओं को नहीं जानता। मेरा ज्ञान परिपक्व नहीं है और मैं मूढ़ और हतोत्साह हो गया हूं। यदि आपकी कृपा हो तो मैं अवश्य ही उस अभय-ज्योति को प्राप्त कर सकता हूं।⁹ इसके अनन्तर ऋग्वेद के एक दूसरे मंत्र में भी इसी अभय-ज्योति के लिए साधक ने प्रार्थना की है।¹⁰ इन मंत्रों में परम तत्त्व को जानने के लिए जिज्ञासु ने आत्मसमर्पण किया है। बिना आत्मसमर्पण के आत्मज्ञान उदय हो ही नहीं सकता।

वेदों में अभय-ज्योति को ही प्राप्य बताया है। तभी तो उस समय के लोग सब कुछ जानते हुए भी अभय-ज्योति को पाने के लिए तत्पर हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है कि उस समय के लोग सांसारिक बातों से पूर्ण अभिज्ञ थे। उन्हें क्षिति, जल, तेजस् तथा वायु के गुणों का पूर्ण परिचय था। किस प्रकार की उपासना से कौन सी शक्ति प्रसन्न होती थी, उन्हें यह भी मालूम था। उपासना के द्वारा उन्हें मनोरथ सिद्धि में पूर्ण विश्वास था। सुख-दुःख का, ज्ञान-अज्ञान का, नित्य-अनित्य का, अभय, अमर, अजर का, इस लोक एवं परलोक का

उन्हें पूर्ण ज्ञान था। इसलिए वे लोग अभय-ज्योति स्वरूप उस परमात्मा के ज्ञान के लिए देवताओं से प्रार्थना करते थे।¹¹ ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्त' में उस परमतत्त्व का निर्देश मिलता है। 'पुरुष सूक्त' में उसे सर्वव्यापक तथा सर्वसमर्थ कहा गया है।

वेदों में देवताओं की उपासना की बात कही गई है। उससे आगे वे आत्मा का चिन्तन करते हैं। इसके लिए अहंकारमुक्त होने की वहां चर्चा है। परमसुख की प्राप्ति के लिए लौकिक उपाय सफल नहीं हो सकते। यहां तक कि उपासना में भी जो सूक्ष्म रूप से अहंकार विद्यमान है, उसे भी अन्तःकरण से सर्वथा निकालना है। उपासनाओं के अवसर पर साधक अपने साध्य में लीन हो जाता था।¹²

वेदों को ज्ञान का भण्डार कहा जाता है। अतः यह स्वाभाविक है कि वेदों में पवित्र कर्म और शुद्ध आचार का वर्णन है। परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए पवित्र आहार, शुद्ध पान तथा निश्चल-पवित्र विचार—ये सभी परमावश्यक हैं। इनके बिना कोई भी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता। वे लोग ऋत को ज्योतिष्पति: कहते थे और उसे बहुत ऊंचा स्थान देते थे।¹³ पाप से बहुत डरते थे और उससे बचने के लिए देवताओं से प्रार्थना करते थे। असत्य बोलना बड़ा पाप समझा जाता था। ये लोग सूनृता-वाग् अर्थात् सत्य और प्रिय वचन बोलते थे।¹⁴ लोभ, छल, अभिमान, क्रोध, देवनिन्दक, चोर, द्वेषी, कृपण एवं दुष्ट कर्म करने वालों से वे घृणा करते थे। जीवों पर दया रखते थे तथा सभी जीवों की भलाई के लिए देवताओं से प्रार्थना करते थे।¹⁵

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में आत्मा का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, 'पुरुष' तथा परमात्मा के रूप में मिलता है। आत्मा शब्द का भले ही स्पष्ट उल्लेख ना हो, पर जो मंत्र वहां हैं, वे सभी आत्मा के आसपास ही परिक्रमा करते हैं। जैसी जीवन-पद्धति वर्णित है, वह आत्मप्राप्ति का उद्देश्य लिए हुए है। अतः कहा जा सकता है कि वेद आत्मसंगान करते हैं। आरण्यकों में तथा ब्राह्मण ग्रंथों में आत्मा का स्वरूप दिखाई पड़ता है।

आत्मा के स्वरूप का भिन्न-भिन्न रूप अपने-अपने ज्ञान के विकास के अनुसार लोगों ने माना है। शतपथ ब्राह्मण में मनुष्य के शरीर के मध्यम भाग के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है।¹⁶ पुनः त्वक्, शोणित, मांस और अस्थि के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग हुआ

है।¹⁷ उसी ग्रंथ में मनस्, बुद्धि, अहंकार और चित्त के लिए भी आत्मा शब्द आया है।¹⁸ क्रमशः जीवन की जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय—इन चारों अवस्थाओं के लिए भी आत्मा शब्द का प्रयोग उसी ग्रंथ में मिलता है।¹⁹ आगे चलकर इसे आकाश के साथ अभिन्न माना गया²⁰ और इस प्रकार आत्मा की एक पृथक् सत्ता स्वीकृत की गई।

आरण्यक ग्रंथों में आत्मा के स्वरूप के संबंध में उपर्युक्त भावना के अतिरिक्त प्राण के साथ आत्मा की अभेद भावना है।²¹ आत्मा को विज्ञानमय एवं आनन्दमय भी कहा गया है।²² ऐतरेय ब्राह्मण में द्यावा—पृथिवी के बीच में आकाश के साथ आत्मा को अभिन्न कहा गया है।²³ उसी में आत्मा के स्वरूप का पूर्ण परिचय मिलता है।

इस प्रकार वेद और आरण्यक ग्रंथों में आत्मतत्त्व की अवधारणाओं का क्रमशः विकसित रूप हमें दिखाई पड़ता है।

उपनिषदों में आत्मविचार

उपनिषदों को आत्मविद्या कहा जाता है। उपनिषदों का मुख्य विषय आत्मा है। संहिता से लेकर आरण्यक पर्यन्त जो ब्रह्म आत्मा से भिन्न रूप में प्रतिपादित है, वह उपनिषद् में उससे अभिन्न माना गया है।²⁴

आत्मा को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु माना गया है। संसार के जितने स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ हैं, सारे आत्मा के ही रूप हैं। संसार में विद्यमान सभी वस्तुओं का सार आत्मा है। इसके समान प्रिय वस्तु कोई दूसरी नहीं है।²⁵ उपनिषदों में जो आत्मविषयक चिन्तन उपलब्ध होता है, उससे दो महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश पड़ता है, एक यह कि उपनिषद् काल के पूर्व ही आत्म—विषयक चिन्तन विद्यमान था। दूसरे उपनिषदों का आत्मा विषयक चिन्तन परम्परा प्राप्त ऋग्वैदिक चिन्तन से भिन्नता रखता था। डॉ. राधाकृष्णन् ने लिखा है—“आत्मा, पुनर्जन्म, अरण्य, संन्यास, मुक्ति और तप—ये सभी तत्त्व आपस में जुड़े हुए हैं। आत्मविद्या का एक छोर पुनर्जन्म है और दूसरा छोर मुक्ति है। संन्यास लेकर अरण्य में तप करना मुक्ति का उपाय है, ये सब तत्त्व वैदिकेतर संस्कृति से प्रविष्ट हुए हैं। इसलिए विद्वानों का कहना है कि अवैदिक तत्त्वों का प्रभाव केवल देश में विचारों के विकास के लिए एक नये प्रकार के दृश्य से परिचय में परिलक्षित नहीं होता किन्तु सत्य तक पहुंचने के लिए उपायों के परिवर्तन में परिलक्षित होता है।”²⁶ आत्मविषयक प्रसंग

में उपनिषदों के निम्नलिखित सन्दर्भ उल्लेखनीय हैं—

1. कठोपनिषद् के नचिकेतोपाख्यान में उल्लेख किया गया है कि वाजश्रवस् के पुत्र नचिकेता के द्वारा आत्म-तत्त्व जानने की इच्छा प्रकट²⁷ करने पर यम संसार की अनन्त विभूतियों को देकर उसे आत्मा सम्बन्धी प्रश्न से विरत करना चाहता है और नचिकेता को बताता है कि इस विषय में देवताओं को भी जिज्ञासा हुई थी। वे भी इसे नहीं जान सके हैं। नचिकेता यम द्वारा प्रदत्त समस्त सांसारिक सम्पत्तियों को टुकरा देता है और आत्मा को जानने की उसकी जिज्ञासा और भी प्रबल हो जाती है। अंत में यम को आत्मा का प्रतिपादन करना पड़ता है।²⁸ इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद्, छांदोग्योपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रंथों में आत्मा-संबंधी जिज्ञासाएं एवं समाधान उपलब्ध होते हैं।²⁹ उपनिषदों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उपनिषदों में आत्मा सम्बन्धी विचार एक प्रकार के नहीं हैं। उनमें विभिन्नता है। वेदों में जिस तत्त्व को प्राण, श्वास अथवा किसी वस्तु का सार रूप समझा जाता था, उपनिषदों में वही तत्त्व मानवीय स्वरूप के अर्थों में प्रयुक्त हुआ परिलक्षित होता है।

डॉ. राधाकृष्णन् ने लिखा है—“ऋग्वेद में³⁰ इसका अर्थ प्राण अथवा जीवनाधार बताया गया है। शनैः-शनैः आगे चलकर इसका अर्थ आत्मा एवं अहं हो गया।”³¹

आत्मा का स्वरूप छांदोग्योपनिषद् में वर्णित है। प्रजापति के शब्दों में “आत्मा वह है जो पाप से निर्लेप, जरा, मरण और शोक से रहित, भूख और प्यास से रहित है। सत्य काम और सत्य संकल्प से आत्मा को जानना और खोजना चाहिए। प्रजापति ने इन्द्र को लम्बे वार्तालाप में जो आत्म स्वरूप का उपदेश दिया, उससे एक ओर तो आत्म-स्वरूप के क्रमिक विकास पर प्रकाश पड़ता है और दूसरी ओर यह भी सिद्ध हो जाता है कि आत्मा ऐसा तत्त्व है जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में रहता है।”³²

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी आत्मा को कर्ता तथा जाग्रतादि अवस्थाओं, मृत्यु और पुनर्जन्म में एक समान रहने वाला तत्त्व कहा है।³³

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि चन्द्रमा और सूर्य इसके चक्षु, अन्तरिक्ष और दिशाएं श्रोत्र और वायु इसका उच्छ्वास है।³⁴ छांदोग्योपनिषद् में भी इसी प्रकार का विवेचन उपलब्ध होता है।³⁵

कठोपनिषद् में बतलाया गया है कि आत्मा न उत्पन्न होता है,

न मरता है, न किसी से उत्पन्न होता है, यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर नष्ट हो जाता है किन्तु यह नहीं मरता है। यह अशरीरी, महान् एवं विभु है। यह आत्मा प्रवचनों, तर्क-वितर्क और वेदों को पढ़ने से नहीं मिलता है। यह प्रज्ञा द्वारा प्राप्त होता है।³⁶ इसी में आत्मा को रथी और शरीर को रथ, मन को लगाम, इन्द्रियों को घोड़ा तथा इन्द्रिय-विषयों को मार्ग कहा है। इसी उपनिषद् में आत्मा को इन्द्रियादि से महान् बतलाया है।³⁷

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है कि आत्मा सम्पूर्ण वस्तुओं में व्यापक है। नखों के अग्रभाग तक उसी प्रकार प्रविष्ट है जिस प्रकार छुरा नाई की पेटी में और अरणि में आग रहती है।³⁸

कहीं-कहीं तो आत्मा को सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वान्तर सबका एकायन कहा है। अन्यत्र कहा है “आत्मा न तो चल है, न अचल है, न स्थायी है, न क्षणिक है, न सूक्ष्म है।” वह सभी द्वन्द्वों से रहित है।³⁹

श्वेताश्वरोपनिषद् में आत्मा को अंगुष्ठमात्र, सुई की नोक के बराबर सूक्ष्म तथा बाल के अगले हिस्से के हजारवें भाग के बराबर बताया है। जीवात्मा को लिंगहीन बताते हुए कहा है कि जीवात्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। कर्मानुसार भिन्न-भिन्न शरीर प्राप्त करता है। जीवात्मा कर्मों का कर्ता, भोक्ता, सुखादि गुण वाला प्राणों का स्वामी है।⁴⁰

माण्डूक्योपनिषद्, बृहदारण्यक और प्रश्नोपनिषद् में जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय— इन चार अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है।⁴¹

तैत्तिरीयोपनिषद् में आत्मा के पांच कोश—अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोश का वर्णन किया गया है।⁴²

इस प्रकार उपनिषदों में वर्णित आत्म स्वरूप पर विचार करने से ज्ञात होता है कि ऋषियों का चिन्तन स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख था। जिस आत्मस्वरूप का उपदेश दिया, उपनिषदों में उस आत्मतत्त्व के विषय में विविध विचार प्रकट किये गये हैं, जो आत्मस्वरूप के चिन्तन के विकास का परिणाम है।

इस प्रकार विचार करते-करते जब हम आगे बढ़ते हैं तो कुछेक विचार ऐसे सामने आते हैं जो शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन आदि को आत्मा

मानते हैं। उनके विषय में भी विचार करना अनिवार्य प्रतीत होता है। प्रस्तुत हैं कुछ ऐसे विचार—

1. शरीरात्मवाद

जब हम आत्म विचार करते हैं तो उपनिषदों में यह बात मिलती है कि बाह्य विश्व को गौण कर अपने भीतर जिस चैतन्य का अनुभव होता है, वह क्या है? अन्य जड़ पदार्थों की अपेक्षा अपने समस्त शरीर में ही इस स्फूर्ति का विशेष रूप से अनुभव होता है, अतः यह स्वाभाविक है कि विचारक का मन सर्वप्रथम देह को ही आत्मा मानने के लिए आकृष्ट हो। एक और बात उपनिषदों में उल्लिखित है कि असुरों में से वैरोचन और देवों में से इन्द्र आत्मज्ञान की शिक्षा लेने प्रजापति के पास गए। पानी के पात्र में उन दोनों के प्रतिबिम्ब दिखाकर प्रजापति ने पूछा कि तुम्हें क्या दिखाई देता है? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि पानी में नख से शिख तक हमारा प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर हो रहा है। प्रजापति ने कहा कि जिसे तुम देख रहे हो, वही आत्मा है। वैरोचन ने जाने के बाद असुरों में इस बात का प्रचार किया कि देह ही आत्मा है।⁴³ किन्तु इन्द्र का इस बात से समाधान नहीं हुआ।

तैत्तिरीयोपनिषद् में जहां अन्नमय आत्मा की चर्चा आती है वहां यह कहा गया है कि अन्न से पुरुष की उत्पत्ति हुई है, उसकी बुद्धि भी अन्न से होती है और वह अन्न में ही विलीन होता है। अतः यह पुरुष अन्नरसमय है।⁴⁴ इस विचार की पृथग्भूमि में भी देहात्मवाद परिलक्षित होता है।

जैनागम एवं बौद्ध त्रिपिटक में इस बात का भी कथन मिलता है कि देहात्मवाद से मिलता जुलता चतुर्भूत अथवा पंचभूत को आत्मा मानने वालों का सिद्धान्त प्रचलित था। ऐसा लगता है कि विचारकों ने जब देहतत्त्व का विश्लेषण शुरू किया तो किसी ने उसे चतुर्भूतात्मक⁴⁵ और किसी ने पंचभूतात्मक⁴⁶ माना होगा। देहात्मवादी अपने पक्ष के समर्थन में कुछ युक्तियां देते हैं—

जिस प्रकार कोई पुरुष म्यान से तलवार बाहर खींचकर उसे अलग दिखा सकता है, उसी प्रकार आत्मा को शरीर से निकालकर कोई भी पृथक् रूपेण नहीं बता सकता। जिस प्रकार तिलों में से तेल निकाल कर बताया जा सकता है या दही से मक्खन निकाल कर दिखाया जा सकता है, उसी प्रकार जीव को शरीर से पृथक् निकालकर नहीं बताया

जा सकता। जब तक शरीर स्थिर रहता है, तभी तक आत्मा की स्थिरता है। शरीर के नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है।⁴⁷

राजप्रश्नीय सूत्र के वर्णन के अनुसार राजा प्रदेशी ने 'जीव शरीर से पृथक् नहीं है' इस बात को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रयोग किये थे। उसने मृत्यु प्राप्त लोगों को कहा था कि तुम मरकर जिस लोक में जाओ, वहां से मुझे समाचार बताने के लिए अवश्य आना। किन्तु उनमें से एक भी व्यक्ति उसे 'मृत्यूपरान्त' की स्थिति के विषय में समाचार देने नहीं आया। अतः उसे यह विश्वास हो गया कि मृत्यु के समय ही आत्मा का नाश हो जाता है, शरीर से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है। 'शरीर ही आत्मा है' इस बात को प्रमाणित करने के लिए राजा ने जीवित चोर को लोहमयी कुंभी में बन्द करके देखना चाहा कि आत्मा निकलने का छिद्र है या नहीं। कोई छेद नहीं मिलने पर उसने निश्चय किया कि आत्मा अलग नहीं है, शरीर ही आत्मा है। शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके हरेक टुकड़े में खोज की, पर नहीं पाया। जीवित और मृत व्यक्ति के वजन की परीक्षा की और समान वजन पाया। प्रदेशी ने कहा कि यदि मृत्यु के समय जीव चला जाता तो वजन में कमी आनी चाहिए जो कि नहीं आयी। यों अनेक युक्तियों द्वारा राजा प्रदेशी यही प्रमाणित करने की कोशिश करता है कि जो शरीर है वही जीव है।

राजप्रश्नीय के वर्णनानुसार प्रदेशी का दादा भी उसी की तरह नास्तिक था। इससे ज्ञात होता है कि आत्मा को भौतिक समझ कर उसके विषय में विचार करने वाले व्यक्ति अति प्राचीन काल में भी थे। इस बात का समर्थन तैत्तिरीयोपनिषद् से भी होता है।⁴⁸ इसके अतिरिक्त उपनिषद् से भी प्राचीन ऐतरेय आरण्यक में आत्मविकास प्रदर्शक जो सोपान वर्णित हैं, उनसे भी यह बात प्रमाणित होती है कि आत्मविचारणा में आत्मा को भौतिक मानना उसका प्रथम सोपान है। इस प्रकार देहात्मवाद या शरीरात्मवाद भौतिक विचारणा हो सकती है। शरीरात्मवाद के पक्ष में आचार्य माधव का प्रतिपादन है कि 'मैं स्थूल हूँ' 'मैं कृश हूँ' इत्यादि सामान्य वचन देह का ही संकेत करते हैं—

अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति समानाधिकरण्यतः।

देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः।⁴⁹

हरिभद्र सूरि ने निर्देश किया है कि प्रत्यक्ष दृष्टिगोचरीभूत शरीर के अतिरिक्त अन्य किसी भी अनुमितिगम्य विशिष्ट आत्मा का अस्तित्व

नहीं है—ऐसा शरीर को आत्मा मानने वाला यह देहात्मवाद है।⁵⁰

चार्वाक दर्शन का एक सम्प्रदाय शरीर को ही आत्मा मानता है सूत्रकृतांग में तज्जीवतच्छरीरवाद के रूप में शरीरात्मवाद का विवेचन किया गया है।⁵¹ इस मत को मानने वालों का तर्क है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु—इन चार महाभूतों की सत्ता है। इन चारों भूतों के शरीराकार में परिणत होने से चैतन्य उसी प्रकार उत्पन्न हो जाता है⁵² जैसे मादक द्रव्य महुआ आदि में गुड़ आदि मिलने से मादकता उत्पन्न हो जाती है।⁵³ शरीर के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई तत्त्व नहीं है।

समीक्षा

अकलंकदेव शरीरात्मवाद का निराकरण करते हुए कहते हैं कि यदि चैतन्य भूतों के संयोग के उत्पन्न होता है तो जिस प्रकार पृथिवी आदि के विभक्त होने पर कम और अविभक्त होने पर अधिक गुण दिखलाई पड़ते हैं। उसी प्रकार शरीर के अवयवों के विभक्त होने पर ज्ञानादि गुणों की न्यूनता और अविभक्त होने पर अधिकता परिलक्षित नहीं होती है।⁵⁴ इसलिए सिद्ध है कि शरीराकार परिणत भूतों से चैतन्य उत्पन्न नहीं होता है।

अकलंकदेव एवं हरिभद्र कहते हैं कि यदि सुखादि चैतन्य शरीर के धर्म हैं तो मृत शरीर में भी रूपादि गुणों की भांति चेतना विद्यमान होनी चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं होता है। अतः सिद्ध है कि चैतन्य शरीर का धर्म नहीं है।⁵⁵

शरीरात्मवादियों के दृष्टान्त का खण्डन करते हुए भट्ट अकलंकदेव कहते हैं कि यह दृष्टान्त विषम है। मदिरा के प्रत्येक घटक में मादकता भरी रहती है लेकिन प्रत्येक भूत में चैतन्यता नहीं रहती है। अतः शरीराकार परिणत भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है।⁵⁶

इसके अतिरिक्त और भी ऐसी बातें हैं जिनसे शरीरात्मवाद में कुछ तथ्य नजर नहीं आता।

2. इन्द्रियात्मवाद

शरीर में होने वाली क्रियाओं के जो भी साधन हैं, उनमें इन्द्रियों का भाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः विचारकों का ध्यान इस ओर प्रवृत्त हुआ और वे इन्द्रियों को ही आत्मा मानने लगे। बृहदारण्यक उपनिषद् में इन्द्रियों की प्रतियोगिता का उल्लेख है और उनके इस दृढ़ निर्णय का भी वर्णन है कि वे स्वयं ही समर्थ हैं।⁵⁷ अतः यह भी माना जा सकता

है कि कुछ लोगों की प्रवृत्ति इन्द्रियों को आत्मा समझने की रही होगी।

सांख्य-सम्मत वैकृतिक बंध की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने इन्द्रियों को पुरुष मानने वालों का उल्लेख किया है। वह भी इन्द्रियात्मवादियों के विषय में समझना चाहिए,⁵⁸ मनुष्य श्रोत्र आदि इन्द्रियों की विकृति से अपने को विकारी मानकर 'मैं बधिर हूँ', 'मैं अन्ध हूँ' इत्यादि वचन कहता है। इसमें मैं का प्रयोग तो आत्मा के लिए ही हुआ है और चार्वाक पक्ष श्रोत्र तथा चक्षुरादि इन्द्रियों को ही आत्मा मानता है, यही मत इन्द्रियात्मवाद है। चार्वाक सम्प्रदाय का एक वर्ग इन्द्रियों को ही आत्मा मानता है। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य⁵⁹ और वेदान्तसारादि⁶⁰ ग्रंथों में इस सिद्धान्त का परिचय उपलब्ध होता है।

इस मत के मानने वालों का तर्क है कि शरीरादि इन्द्रियों के अधीन हैं। इन्द्रियों के विद्यमान रहने पर ही पदार्थों का ज्ञान होता है और उनके अभाव में नहीं होता है।⁶¹

समीक्षा

इन्द्रियां आत्मा नहीं हैं क्योंकि इन्द्रियां अचेतन हैं, भूतों के विकार हैं और बसूलादि की तरह वे करण हैं। अतः जिस प्रकार अचेतन और करण रूप बसूला आत्मा नहीं है, इसी प्रकार इन्द्रियां भी आत्मा नहीं हैं।⁶² न्यायकंदली⁶³ में भी यही तर्क दिया है।

चैतन्य को इन्द्रियों का गुण मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों के नष्ट होने पर चैतन्य नष्ट नहीं होता है।⁶⁴ प्रशस्तपाद भाष्य⁶⁵ में यही तर्क उपलब्ध होता है।

इसके अलावा किसी भी कारण से इन्द्रियात्मवाद ठीक नहीं है।

3. प्राणात्मवाद

चिन्तनशील व्यक्तियों ने जब शरीर की आध्यात्मिक क्रियाओं का निरीक्षण-परीक्षण प्रारंभ किया होगा तो सर्वप्रथम उनका ध्यान प्राण की ओर आकृष्ट हुआ होगा, ऐसा लगता है। इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्थगित होने पर श्वासोच्छ्वास रूप में प्राण रहता है। केवल मृत्यु के पश्चात् प्राण के दर्शन नहीं होते। अतः इस बात से इस निष्कर्ष पर पहुंचा गया कि जीवन में प्राणतत्त्व का सर्वाधिक महत्त्व है। अतः प्राण तत्त्व को ही जीवन की समस्त क्रियाओं का कारण माना।⁶⁶ जिस समय विचारकों ने शरीर में स्फुरित होने वाले तत्त्व की प्राणरूप में पहचान की, उस समय उसका महत्त्व बहुत बढ़ गया और उस विषय में अधिक से अधिक विचार

होने लगा। परिणामतः प्राण के संबंध में छांदोग्योपनिषद् में कहा गया कि विश्व में जो कुछ है वह प्राण है।⁶⁷ बृहदारण्यकोपनिषद् में प्राण को देवों के भी देव का पद प्रदान किया।⁶⁸

अनुभव और ज्ञान के विकास के साथ भौतिकवादियों की दृष्टि सूक्ष्मतर होती है और इन्द्रियां तथा मन प्राणों के अधीन प्रतीत होने लगते हैं। शरीर की स्थिति प्राणमय है। प्राणवायु के निकल जाने पर शरीर तथा इन्द्रियसमूह मृत हो जाते हैं। जब क्षुधा से व्याकुल मनुष्य के प्राण शरीर से निकलने लगते हैं, तब मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य या कृत्याकृत्य का विवेक छोड़कर अपने प्रियतम प्राणों की पूरी शक्ति से रक्षा करता है। प्राणात्मवाद का एक रूप शास्त्रों में उपवर्णित हुआ है। एक समय अनेक वर्षव्यापी महान् दुर्भिक्ष के कारण ऋषि विश्वामित्र अपने प्रिय प्राणों की रक्षा करने के लिए रात्रि में चौर्यकर्म से एक चाण्डाल के घर में जाकर उसके उच्छिष्ट कुत्ते का मांस भक्षण करने को तत्पर हो गए।⁶⁹

समीक्षा

जैन दर्शन प्राण को आत्मा नहीं मानता है, क्योंकि जैन दर्शन में दो प्रकार के प्राण माने गये हैं—द्रव्य प्राण और भाव प्राण। चार्वाक जिन प्राणों को आत्मा मानता है वे इस दर्शन में अचेतन और पौद्गलिक माने गये हैं। आत्मा चैतन्य स्वरूप है इसलिए प्राणों को आत्मा कहना ठीक नहीं है। न्याय-वैशेषिक दर्शन ने इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहा है कि प्राण आत्मा नहीं है, क्योंकि प्राण आत्मा का प्रयत्न विशेष है। प्राण आत्मा पर आधारित हैं और आत्मा उसका आधार है। अतः आत्मा प्राण से भिन्न है।⁷⁰

4. मनसात्मवाद

इन्द्रियात्मवादी दल की अपेक्षा कुछ अधिक उन्नतावस्थापन्न एक दल का सिद्धान्त है कि समस्त कार्य मन के अधीन हैं। क्योंकि मन जब निद्रालीन रहता है, तब शरीर कार्य करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। मन स्वतंत्र है और यही ज्ञान प्रदान करता है। प्राणरूप कही जाने वाली इन्द्रियां भी मन के बिना सार्थक नहीं हैं, मन का संपर्क होने पर ही इन्द्रियां अपने विषयों का ग्रहण कर सकती हैं, अन्यथा नहीं। इसके बाद विचारणा के विषय में तो इन्द्रियां कुछ भी नहीं कर सकती। इन्द्रियों की विचारणा के अभाव में मन कहीं का कहीं पहुंच जाता है। अतः प्राण से आगे मन को आत्मा मानना प्रारंभ कर दिया। जिस प्रकार

उपनिषद् काल में प्राणमय आत्मा को अन्नमय आत्मा का अन्तरात्मा माना गया, उसी प्रकार मनोमय आत्मा को प्राणमय आत्मा का अन्तरात्मा स्वीकार किया गया। इससे अनुमान किया जाता है कि विचार-प्रगति के इतिहास में प्राणमय आत्मा के पश्चात् मनोमय आत्मा की कल्पना की गयी होगी।⁷¹

यह ठीक है कि इन्द्रियों और प्राण की अपेक्षा मन सूक्ष्म है। यह भी है कि प्राचीनकाल में मन को अभौतिक माना जाता था। इसीलिए न्यायवैशेषिक आदि दार्शनिकों ने मन को अणुरूप मानकर भी पृथ्वी आदि भूतों के सभी परमाणुओं से उसे विलक्षण माना है।⁷² सांख्य मत भी यह मानता है कि भूतों की उत्पत्ति होने से पूर्व ही प्राकृतिक अहंकार से मन की उत्पत्ति हो जाती है। इससे यह संकेत मिलता है कि मन भूतों की अपेक्षा सूक्ष्म है। वैभाषिक बौद्धों ने मन को विज्ञान का समनन्तर कारण माना है, अतः मन विज्ञान रूप है।⁷³ अतः आत्मविचार करते हुए आत्मा को भौतिक और मन को अभौतिक श्रेणी में रखकर ही मनसात्मवाद का जन्म हुआ होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

दार्शनिक सूत्रग्रंथों और उनकी टीकाओं से भी ज्ञात होता है कि मन को आत्मा मानने वाले दार्शनिक सूत्रकाल में विद्यमान थे।⁷⁴ मन को आत्मा मानने वालों का कहना था कि जिन हेतुओं द्वारा आत्मा को देह से भिन्न सिद्ध किया जाता है, उनसे वह मनोमय सिद्ध होती है। मन सर्वग्राही है। अतः वह ऐसा प्रतिसंधान कर सकता है कि एक इन्द्रिय द्वारा देखा गया और दूसरी इन्द्रिय द्वारा स्पर्श किया गया विषय एक ही है। अतः मन को आत्मा मान लेना चाहिए, मन से भिन्न आत्मा को मानने की आवश्यकता नहीं है। सदानन्द ने वेदान्तसार में कहा है कि तैत्तिरीयोपनिषद् में जो 'अन्योन्तरात्मा मनोमयः'⁷⁵ लिखा गया है, उसके आधार पर ही चार्वाक मन को आत्मा मानते हैं। सांख्यों द्वारा मान्य विकृत के उपासकों में मन को आत्मा मानने वालों का समावेश है।⁷⁶

मन के विषय में बृहदारण्यकोपनिषद् में अनेक दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। उसमें बताया गया है कि 'मेरा मन दूसरी ओर था अतः मैं देख नहीं सका' 'मेरा मन दूसरी ओर था अतः मैं सुन नहीं सका'—यानि ये बातें जाहिर करती हैं कि वस्तुतः मनुष्य मन से देखता और सुनता है। काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय—ये सब मन ही हैं। कोई मनुष्य किसी को स्पर्श

करता है तो वह मन से इस बात का ज्ञान कर लेता है।⁷⁷ उससे मन को परम ब्रह्म सम्राट कहा गया है।⁷⁸ छांदोग्योपनिषद् में भी उसे ब्रह्म कहा है।⁷⁹ मन के कारण होने वाले विश्व-प्रपंच व मन की महिमा का वर्णन तेजोबिन्दूपनिषद् में मिलता है।⁸⁰

इस प्रकार शरीर, इन्द्रिय, प्राण व मन को आत्मा मानने की यह प्रक्रिया है।

समीक्षा

प्रमेयकमलमार्तण्ड में मानसात्मवाद के निराकरण में कहा है कि मन बसूलादि की तरह अचेतन करण है, इसलिए वह चैतन्य का आधार नहीं हो सकता है। चैतन्य का आधार न होने के कारण मन को आत्मा कहना ठीक नहीं है।⁸¹ न्यायवैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसकों ने भी यही तर्क दिया है।⁸²

दूसरी बात यह है कि मन को आत्मा मानने से वह रूपादि समस्त विषयों का ज्ञाता हो जाएगा। ऐसा मानने पर किसी दूसरे को आन्तरिक करण मानना पड़ेगा, जिसके द्वारा चार्वाकों का मानसात्मा आन्तरिक और बाह्य विषयों को जान सके अन्यथा क्रिया नहीं हो सकेगी। इसलिए सिद्ध है कि मन आत्मा नहीं है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि यदि अन्य कोई आन्तरिक करण सम्भव है तो इसका अर्थ है कि प्रकारान्तर से मानसात्मवादियों ने आत्मा को स्वतंत्र रूप से स्वीकार कर लिया है।⁸³

5. विषयचैतन्यवाद

कुछ चार्वाक विचारकों का मत है कि आत्मा की सत्ता नहीं है और न चैतन्य इन्द्रियादि का गुण है। क्योंकि यह देखा जाता है कि इन्द्रियां नष्ट हो जाती हैं, मगर विषयों का स्मरण बना रहता है। अतः चैतन्यता विषय या पदार्थ का गुण है।

समीक्षा

प्रभाचन्द्राचार्य ने इस सिद्धांत का भी खण्डन किया है। उनका तर्क है कि अर्थ चैतन्यता का आधार नहीं है क्योंकि विषयों के निकट न होने पर भी चैतन्य गुण की प्रतीति होती है। यदि चैतन्यता अर्थ का गुण या धर्म होता तो विषयों के दूर होने पर या नष्ट हो जाने पर भी स्मृत्यादि की प्रतीति नहीं होनी चाहिए, मगर उनकी प्रतीति होती है। इसीलिए यह सिद्ध है कि चैतन्य का आधार विषय नहीं है।⁸⁴

दूसरी बात यह है कि गुणों के नष्ट होने पर भी गुण की प्रतीति होना माना जाए तो इस गुणी में ये गुण हैं, यह कथन नहीं बन सकेगा। इसलिए सिद्ध है कि चैतन्य विषयों का गुण नहीं है किन्तु अर्थ से भिन्न नित्य पदार्थ का गुण है जो नित्य पदार्थ इस चैतन्य का आधार है, वही आत्मा है।

अतः यह कहा जा सकता है कि आत्म विचारणा के लिए हमें शरीर, इन्द्रिय, प्राण व मन से ऊपर जाना होगा।

बौद्ध दर्शन में आत्मचिन्तन

बौद्ध धर्म विश्व के महनीय धर्मों में अन्यतम है। सबसे पहले विचारक बाह्य दृष्टि से ग्राह्यभूत को मौलिक तत्त्व मानते थे। कालक्रम से धीरे-धीरे उन्होंने आत्मतत्त्व को स्वीकार कर लिया। उनके समक्ष ये प्रश्न उठे कि आत्मा कैसा है, आत्मा का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया जाए, उसका स्वरूप क्या है आदि। वास्तविक आत्मविद्या का श्रीगणेश इसी समय हुआ और लोगों को इस विद्या का ऐसा व्यसन लगा कि उन्होंने आत्मा की खोज में ही अपनी इतिश्री समझी। नचिकेता जैसे बालक, मैत्रेयी जैसी महिलाएं आत्मविद्या की शोध में तल्लीन हो गईं। कुछ लोग तो पुकार-पुकार कर कहने लगे कि जिसमें द्युलोक, अंतरिक्ष तथा सर्व प्राणों सहित मन ओतप्रोत है, ऐसे एकमात्र आत्मा का ही ज्ञान प्राप्त करो, शेष सब झंझट छोड़ दो। अमरता प्राप्त करने के लिए यह आत्मा सेतु के समान है।¹⁶⁵ सभी उपनिषदों का अंतिम निष्कर्ष यही है कि विश्व के मूल में मात्र एक ही शाश्वत आत्मा—ब्रह्म तत्त्व है और इसे छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं है। उपनिषद् के ऋषियों ने अंत में यहां तक कह दिया कि अद्वैत तत्त्व के होते हुए भी जो व्यक्ति संसार में भेद की कल्पना करते हैं, वे अपने सर्वनाश को निमन्त्रण देते हैं।¹⁶⁶ इस प्रकार उस समय आत्मवाद की भीषण बाढ़ आई थी। अतः उस बाढ़ को रोकने के लिए बांध बांधने का काम भगवान् बुद्ध ने किया। आत्मवाद की इस बाढ़ को उन्होंने अनात्मवाद की ओर मोड़ने का भरसक प्रयत्न किया।

भगवान् बुद्ध के अनात्मवाद का अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने आत्मा जैसे पदार्थ का सर्वथा निषेध किया है। उस निषेध का अभिप्राय इतना ही है कि उपनिषदों में जिस प्रकार शाश्वत अद्वैत आत्मा का प्रतिपादन किया गया है और उसे विश्व का एकमात्र मौलिक तत्त्व माना है, भगवान् बुद्ध ने उसका विरोध किया। बौद्ध दर्शन का मन्तव्य है कि

परिवर्तन या क्षणिकता ही यथार्थसत् है। क्षणिकवाद सिद्धान्त के आधार पर बौद्ध दर्शन में आत्मा अनित्य ही नहीं बल्कि क्षणिक माना गया है। इसलिए बौद्धों का आत्मवाद सिद्धांत अनात्मवाद से प्रसिद्ध है। उपनिषद्, वैदिक दर्शन और जैन दर्शन में मान्य आत्मा के विषय में भगवान् बुद्ध चुप दिखलाई पड़ते हैं या यह कह सकते हैं कि आत्मतत्त्व सिद्धांत की बौद्धों की व्याख्या यह प्रकट नहीं करती कि चैतन्य का आधारभूत कोई स्थायी आत्मा है।

बौद्ध दर्शन के अनन्त को समझ लेने पर उनकी आत्मा सम्बन्धी विचारणा को सरलता से समझा जा सकता है। अनन्त की व्याख्या विनय पिटक के महावग्ग में आये हुए अनन्तलक्षण सुत्त में मिलती है।^{१७} वहां पर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—इन पंचस्कन्धों को अनन्त सिद्ध किया है।^{१८} अनन्त मानने में उन्होंने तर्क दिया है कि वे अनित्य एवं दुःखरूप हैं। पंचस्कन्धों को अनन्त कह कर बतलाया गया है कि इन स्कन्धों से भिन्न कोई अन्य सूक्ष्म तत्त्व नहीं है जिसे आत्मा कहा जा सके। जिसे ज्ञान हो या जो निर्वाण प्राप्त करना हो ऐसे शाश्वत तत्त्व के विषय में पालि त्रिपिटक में कोई संकेत प्राप्त नहीं है। महावग्ग के अनन्तलक्षण सुत्त के अतिरिक्त अभिधम्मपिटक के कथावत्थु^{१९} में भी इसी प्रकार अनन्त की व्याख्या की गई है। आत्मा के शाश्वत स्वरूप के विषय में भगवान् बुद्ध सर्वत्र मौन ही परिलक्षित होते हैं।^{२०} इस मौन से यह नहीं लगता है कि उनका अभिप्राय शाश्वत आत्मा को स्वीकार करना है। उनके इस कथन का आधार इसे आगे आत्मा को वेदना धर्म वाला बतलाना है।^{२१} स्पष्ट है कि शाश्वतवाद में मान्य आत्मा की दृष्टि से बौद्ध दर्शन अनात्मवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसमें क्षणिक संवेदनाओं से पृथक् किसी नित्य आत्मा को मान्य नहीं किया है।^{२२} दीघनिकाय में सीलक्खन्धवग्ग के ब्रह्मजालसुत्त और मज्झिमनिकाय के मूलपण्णासकसुत्त का अभिप्राय यही है कि आत्मा स्कन्ध संघात से भिन्न नहीं है।

जैसा कि हम देखेंगे कि बौद्ध दर्शन (पालि त्रिपिटक) जैन दर्शन की भांति इन्द्रिय, विषय, मन, विज्ञान, वेदना और तृष्णा, जो पुद्गल रूप हैं^{२३}, उन्हें आत्मा नहीं मानता है। लेकिन जैन दर्शन से बौद्ध दर्शन इस अर्थ में भिन्न है कि वह इनसे भिन्न आत्मा की कल्पना ही नहीं करता है लेकिन जैन दर्शन में आत्मा ऐसा तत्त्व है जो उपयोग-स्वरूप,

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप द्रव्य है।

हीनयान बौद्ध दर्शन में वसुबन्धु ने स्पष्ट कहा है कि पंचस्कन्धों को छोड़कर आत्मा नामक कोई तत्त्व नहीं है।⁹⁴

महायान दर्शन में भी स्वप्रवाह को आत्मा कहा है और नित्य आत्मा के होने का निषेध किया है। दिङ्नाग जैसे आचार्यों⁹⁵ ने आत्मा और अनात्मा को संज्ञा मात्र कह कर उनकी पारमार्थिक सत्ता न होने का उल्लेख किया है। महायान दर्शन में अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद का अभिप्राय आत्मा का उच्छेद नहीं है। इस कथन की पुष्टि महायानसूत्र⁹⁶ और लंकावतार⁹⁷ में आये हुए प्रसंगों से हो जाती है। फिर भी वे आत्मा को शाश्वत न मानकर शरीर घटक धातुओं का समुच्चय कहते हैं। नागार्जुन ने तत्त्वमात्र को सत्, असत्, उभय और अनुभयात्मक कोटियों से विनिर्मुक्त कह कर⁹⁸ स्पष्ट किया कि बौद्ध मत न आत्मवादी है और न अनात्मवादी है।⁹⁹ स्पष्ट है कि धातु और स्कन्ध का समष्टि रूप ही आत्मा है। धातुओं के संघात से भिन्न आत्मा की परमार्थ सत्ता नहीं है। आत्मदृष्टि का उच्छेद करना चाहिए—यह कथन करने के कारण महायानवादी पुद्गल नैरात्म्यवादी कहलाने लगे। इसी प्रकार से समस्त धर्मों को अनुत्पन्न बतलाने से वे धर्म नैरात्मवादी के रूप में प्रसिद्ध हुए।

प्रज्ञापारमिता की व्याख्या करते हुए स्व के प्रवाह को आत्मा कहा है। उसी में रूपादि को आत्मरूप कह कर आत्मा के स्थिर तत्त्व होने का निर्देश किया गया है।¹⁰⁰

अन्य भारतीय दर्शनों में आत्मचिन्तन

आत्म चिन्तन की जो धारा उपनिषदों में प्रवाहित हुई, उसका वहीं समापन नहीं हुआ। कालक्रम से विकसित होने वाले विविध दर्शनों में आत्म-तत्त्व चिन्तन प्रधान विषय बन गया। उपनिषद् के उत्तरकालवर्ती दर्शनों ने आत्म-स्वरूप का स्वतन्त्र दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक चिन्तन किया और उस विषय में अपनी-अपनी धारणाएं प्रस्तुत कीं। उपनिषदों में उपलब्ध आत्मा के विविध रूपों के परिणामस्वरूप वैदिक-दर्शनों में आत्मा सम्बन्धी विविध विचारधाराओं का प्रतिपादन हो सका है। सर्वदर्शन संग्रह, षड्दर्शनसमुच्चय आदि में प्राचीन आचार्यों ने न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा को वैदिक दर्शन कहा है। क्योंकि इन दर्शनों में उपलब्ध दार्शनिक चिन्तन का प्रमुख आधार वेद वाङ्मय है। जैसा कि हम देखेंगे कि हिन्दू दर्शनों में आत्मस्वरूप के

विषय में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा इसलिए उनमें एकरूपता नहीं है। इस दृष्टि से यह परम्परा बौद्ध परम्परा से समता रखती प्रतीत होती है। जैन दर्शन में ऐसी बात नहीं है। वहां आगमकालीन साहित्य से लेकर आज तक उपलब्ध दार्शनिक साहित्य का आलोडन करने से प्रतीत होता है कि आत्मवाद की जो मान्यता ऋषभदेव के समय में थी वैसी ही आज भी है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। अतः वैदिक दर्शनों में आत्मा सम्बन्धी विविध विचारणाएं उपलब्ध होने से प्रत्येक वैदिक परम्परा का उल्लेख करना आवश्यक है।

न्याय वैशेषिक

न्याय वैशेषिक दर्शन वस्तुवादी दर्शन है। इस परम्परा में आत्मा को शरीरादि से भिन्न एक स्वतंत्र द्रव्य माना गया है।¹⁰¹ इस परम्परा के चिन्तकों ने आत्मा को स्वभाव से जड़वत् बतलाया है। अन्य जड़ द्रव्यों से इस द्रव्य में यह भेद किया गया है कि चैतन्य, जो आत्मा का स्वाभाविक नहीं आगन्तुक गुण है, की उत्पत्ति आत्मा में ही हो सकती है।¹⁰² इस तरह आत्मा को चैतन्य या ज्ञान का आधार माना है।¹⁰³ इस विषय में उनका तर्क है कि ज्ञान या चैतन्य की उत्पत्ति आत्मा का मन के साथ और मन का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का विषय के साथ सन्निकर्ष या संयोग होने पर होती है। अपने इस सिद्धांत के कारण न्याय-वैशेषिक आत्मा को चैतन्य स्वरूप न कह कर चैतन्यवान् कहना अभीष्ट समझते हैं। इन्होंने मुक्तावस्था में शरीरादि का अभाव होने से उसे चैतन्यविहीन माना है। न्याय-वैशेषिक का यह सिद्धांत अन्य भारतीय दार्शनिकों को संतुष्ट नहीं कर सका, अतः उसे कड़ी आलोचना का विषय बनना पड़ा। उन्होंने आत्मा को क्षेत्रज्ञ, निरन्वयी, शाश्वत, अविनाशी, व्यापक, ज्ञाता, द्रष्टा, कर्ता, पाप-पुण्य, कर्मों का भोक्ता, प्रति शरीर भिन्न, अनेक और अपरिणामी बताया है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आत्मा के विशेष गुण¹⁰⁴ तथा संख्यादि बताये गये हैं।

मीमांसा दर्शन में आत्मचिन्तन

नैयायिकों की तरह मीमांसक भी शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न आत्मा की सत्ता मानते हैं। यह एक द्रव्य है। वेद में कहा है कि यज्ञ के अनन्तर 'यजमानः स्वर्गं लोकं याति' अर्थात् यजमान स्वर्ग लोक को जाता है। यजमान का शरीर तो यहीं दग्ध हो जाता है। अतः शरीर तो स्वर्ग जाता नहीं, जो जाता है, वही है आत्मा। इसी प्रकार वह इस

जीवन मरण के बन्धन से मुक्त होता है—इस कथन से भी स्पष्ट है कि मुक्त होने वाला शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न सत्ता कोई है, जो नित्य है, जिसका नाश नहीं होता, जो इस लोक से परलोक को जाता है, वही है आत्मा। आत्मा में ज्ञान का उदय होता है किन्तु स्वप्नावस्था में विषय न होने पर आत्मा में ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार यह जड़ और बौद्ध स्वरूप भी है।

यह नित्य है। इसका नाश नहीं होता। वस्तुतः यह कर्ता और भोक्ता है। यह विभु है, क्योंकि यह अहं भाव के रूप में सर्वत्र विद्यमान है। यह शुद्ध ज्ञान स्वरूप है और देश तथा काल से अपरिच्छिन्न है।¹⁰⁵ यही ज्ञाता है।¹⁰⁶ यह एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। भिन्न-भिन्न अनुभव के कारण एक शरीर में एक ही आत्मा होती है और वह दूसरे शरीर में रहने वाली आत्मा से भिन्न है अतएव अनेक आत्माएं हैं। अनेक मानने से ही बद्ध और मुक्त की व्याख्या हो सकती है अन्यथा एक के मुक्त होने पर सभी को मुक्त होना पड़ेगा।¹⁰⁷ यह स्वानुभवगम्य भी है।¹⁰⁸ अतएव उसे मानसप्रत्यक्षगम्य कहा गया है।

आत्मज्ञान के सम्बन्ध में भट्ट और प्रभाकर मीमांसकों में मतभेद है। भट्ट मीमांसकों के अनुसार आत्मा का ज्ञान कभी-कभी होता है, हमेशा नहीं। आत्म-संवित्ति अर्थात् अपने को जानने में आत्मज्ञान होता है। पर प्रभाकर मतावलंबी इसका खंडन करते हैं। इनके अनुसार एक ही वस्तु एक साथ कर्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकती जैसे अन्न और अन्न खाने वाला एक नहीं है। प्रत्येक वस्तु-ज्ञान में उसी ज्ञान के द्वारा आत्मा का ज्ञान भी कर्ता के रूप में होता है। परन्तु कुमारिल कहते हैं कि आत्मज्ञान का कर्ता और विषय दोनों ही होता है। शास्त्रवाक्य है—‘आत्मानं विद्धि’ और लौकिक अनुभव है कि हम अपने को जानते हैं। इस प्रकार आत्म-संवित्ति के द्वारा आत्मज्ञान संभव है।

सांख्यदर्शन में आत्मविचार

भारतीय दर्शनों में सांख्यमत प्रायः प्राचीन माना जाता है। सांख्यशास्त्र में ब्रह्माण्ड के निखिल तत्त्वों को मूलतः दो वर्गों में रखा गया है—प्रकृति एवं पुरुष। प्रकृति की दो अवस्थाएं हैं—अव्यक्त एवं व्यक्त। पुरुष को ज्ञ कहते हैं। व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ के स्वरूप की यथार्थ रूप से जानकारी ही ‘व्यक्ताव्यक्तज्ञ’ विज्ञान है। ज्ञ एवं अव्यक्त के तो एक-एक प्रकार ही होते हैं। पर अव्यक्त से उत्पन्न व्यक्त के 23

भेद-प्रभेद होते हैं। व्यक्त का प्रथम रूप महत्तत्त्व है, जिसे हम बुद्धि कहते हैं, उसी का समदिष्ट रूप महत्तत्त्व है। दूसरा भेद अहंकार है। इस अहंकार से एक ओर एकादश इन्द्रियां तथा दूसरी तरफ पांच तन्मात्रायें मिलाकर 16 प्रभेद उत्पन्न होते हैं। इन्हीं तन्मात्राओं से अलग-अलग पंच-महाभूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार निखिल ब्रह्माण्ड में निहित तत्त्वों की कुल संख्या पच्चीस हो जाती है—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।

तस्मादपि षोडशकात् पञ्चम्यः पञ्चभूतानि।।¹⁰⁹

तीनों गुण (सत्त्व, रजस् एवं तमस्) जहां अपने पूर्ण परिणाम में रहते हैं, वही तत्त्व पुरुष है। इस बात को सांख्यशास्त्र में त्रिगुणादि-विपर्यात् से प्रतिपादित किया गया है। इसके अतिरिक्त व्यक्ताव्यक्त प्रकृति चौबीस तत्त्वों का एक संघात है। पलंग, रथ और गृह के समान यह भी अवश्य ही किसी के लिए होना चाहिए। निखिल प्रकृति का कारण एवं कार्यभाव से जो उपभोक्ता है, वही तत्त्व पुरुष है।¹¹⁰

चेतन पुरुष ही अचेतन प्रकृति का अधिष्ठाता है।¹¹¹ प्रकृति के नाना प्रकार की सुमधुर ध्वनियां शीतोष्ण स्पर्श, नील, हरित आदि रूप, रस, गंध आदि का भोक्ता जो सचेतन तत्त्व है, वह तत्त्व ही पुरुष है।¹¹² कैवल्य की ओर व्यक्ति की प्रवृत्ति उस पुरुषतत्त्व की पहचान है जो प्रकृति से सर्वथा भिन्न एवं स्वतंत्र है। यह कैवल्य ही इसका अपना स्वरूप है जिसका अनुभव कर व्यक्ति उसे पाने के लिए छटपटाने लगता है।¹¹³ गुणत्रय के सर्वथा अभावरूप होने से पुरुष गुणों के क्रियाकलाप या परिणाम से सर्वथा अछूता है। फलस्वरूप उसमें सुख, दुःख एवं मोहात्मकता का सर्वथा अभाव होता है। चेतन होने से वह विवेकी एवं विषयी होता है। रजोगुण का उसमें लेश तक नहीं होता। पुरुष वस्तुतः बद्ध एवं मुक्त उभयरूप से व्यावृत्त होता है। अर्थात् उसमें स्वरूपगत भेद नहीं होता।¹¹⁴ वह व्यक्त एवं शान्त चित्त का निर्विकार द्रष्टा है। पुरुष की साक्षिता बुद्धि उसके साक्षात् सम्बन्ध के कारण है। वह बुद्धि का ही साक्षी होता है अन्य का द्रष्टामात्र।¹¹⁵

इसके अतिरिक्त पुरुष स्वरूपतः नित्यमुक्त है। पुरुष उदासीन है। उसकी उदासीनता उसका अकर्तृत्वभाव है। पुरुष में कर्तृत्व की जो प्रवृत्ति होती है उसका कारण अग्नि एवं लोहपिण्ड या जल एवं सूर्य के समान बुद्धि एवं पुरुष का उपराग है।¹¹⁶ इससे ही पुरुष में क्रियाशीलता

एवं बुद्धि में चेतनता की प्रतीति होने लग जाती है जो दोनों पर परस्पर के धर्म का आरोप मात्र है, यथार्थ नहीं।¹¹⁷

सांख्यशास्त्र में प्रतिपादित अनेक पुरुषों को भी हम दो वर्गों में स्थापित कर सकते हैं— बद्ध और मुक्त। सामान्य रूप से प्रत्येक पुरुष अनादि काल से ही बद्ध है। विवेक हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है।

अतः हम कह सकते हैं कि सांख्यदर्शन विचारधारा के क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रकार की पद्धति को प्रस्तुत करता है, जो मन के औपचारिक स्वभाव से भिन्न है। रिचर्ड गार्बे, जिसने इस दार्शनिक शाखा का विशेष अध्ययन किया है, कहता है—कपिल के सिद्धांत में, संसार के इतिहास में सबसे प्रथम, मानव मन की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा अपनी शक्तियों में उसका पूर्ण विश्वास दिखाई देता है।¹¹⁸

वेदान्त (अद्वैत) में आत्मविचार

“ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः” ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और आत्मा ब्रह्म का ही रूप है। आत्मा और ब्रह्म में द्वैत नहीं है। आत्मा और ब्रह्म में अभेद है। इसे अहं ब्रह्मास्मि¹¹⁹ तथा तत्त्वमसि¹²⁰ और अयमात्मा ब्रह्म¹²¹ में व्यक्त किया गया है। तत्त्वमसि में त्वम् (जीव) तत् (ब्रह्म) है। अर्थात् ब्रह्म और जीव एक है। दोनों में कोई भिन्नता नहीं है। दोनों शुद्ध चैतन्य हैं। त्वम् का अर्थ अल्पज्ञ चेतन जीव और तत् का अर्थ सर्वज्ञ चेतन है। ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’¹²² ‘नेह नानास्ति किंचन’¹²³, एकमेवाद्वितीयम्¹²⁴, ‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्’¹²⁵ आदि सूत्र अभेद के परिचायक हैं।

आत्मा अपरिच्छिन्न है। वह ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता। आत्मा ऐसा द्रष्टा है जो स्वयमेव देखा नहीं जा सकता। चैतन्य आत्मा का गुण नहीं है। उसका स्वरूप लक्षण है। आत्मा का अस्तित्व स्वप्रामाणित है। आत्मा विभु है। अद्वैत, निरवयव, देशकालातीत, परमार्थ और परम सत् है। आत्मा का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि जो निषेध कर रहा है, वही आत्मा है। आत्मा ज्ञान स्वरूप भी है और ज्ञाता भी। ‘आत्मा आत्मानं जानाति’ इस वाक्य में कर्त्तारूप आत्मा और कर्मरूप आत्मा एक ही है। शंकराचार्य के अनुसार इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार और शरीर की उपाधियों से जीव घिरा हुआ है। अनन्त चैतन्य का अविद्या के दर्पण पर जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही जीव है। यह प्रतिबिम्बवाद है। कुछ अद्वैतवादी अन्य उपमा का सहारा लेते हैं, जैसे

आकाश सर्वव्यापी है, पर उपाधिभेद से घटाकाश और महाकाश रूपों में आभासित होता है। उसी प्रकार सर्वव्यापी ब्रह्म अविद्या के कारण नाना जीवों और जगत् के रूप में प्रतीत होता है। मुक्ति का अर्थ है अविद्यामूलक उपाधियों को तोड़कर निरुपाधिब्रह्म हो जाना। इसे अवच्छेदवाद कहते हैं।

मोक्ष का अर्थ ब्रह्म और आत्मा की एकता है। आत्मा मुक्त है।

विशिष्टाद्वैतवाद

रामानुज के अनुसार ब्रह्म चित् और अचित् से विशिष्ट है। अतः इसे विशिष्टाद्वैत कहा है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म निर्विशेष नहीं सविशेष है। जीव और जगत् उसे विशिष्ट करते हैं। जीव और ईश्वर में अद्वैत अवश्य है पर एक विशिष्ट प्रकार का अद्वैत है।

शंकर आत्मा को ज्ञान स्वरूप मानते हैं, पर रामानुज के अनुसार आत्मा ज्ञान नहीं ज्ञाता है। आत्मा स्वयं तो अणु है, पर उसका धर्म भूतज्ञान विभु है। सुख दुःखादि विकार धर्म भूतज्ञान के विकार या परिणाम हैं। ज्ञान चेतन आत्मा तथा ईश्वर का गुण है। ज्ञान आत्मा पर आश्रित है क्योंकि आत्मा के बिना ज्ञान की सिद्धि संभव नहीं। आत्मा और ज्ञान का संबंध दीपक और उसके प्रकाश की भांति है। आत्मा दीपक है और ज्ञान उसका प्रकाश है। आत्मा अणु है।

रामानुज ने तत्त्वमसि का अर्थ विशिष्ट प्रकार से किया है। तत् का अर्थ है वह ईश्वर जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सृष्टि का कर्ता है तथा त्वम् का अर्थ है वह ईश्वर जो अचेतन शरीर से विशिष्ट जीव में है। ईश्वर के एक विशिष्ट रूप तथा दूसरे विशिष्ट रूप में अभेद है। इसलिए इसे विशिष्टाद्वैतवाद कहते हैं।

रामानुज के अनुसार शरीर और आत्मा दोनों ही सत्य है। ब्रह्म के अचित् अंश से शरीर की उत्पत्ति होती है और आत्मा नित्य चित् सत्त्व है। वह भी ईश्वर का अंश है। आत्मा सूक्ष्म होने से भौतिक तत्त्व में प्रविष्ट हो सकता है। चैतन्य आत्मा का गुण है। यह सदैव उसमें वर्तमान करता है। आत्मा शरीर के प्रत्येक भाग में चेतनता भर देता है।

रामानुज जीवों की अनेकता के समर्थक हैं। मुक्तावस्था में भी जीवों में भिन्नता रहती है। मुक्त जीवों में गुणात्मक भेद नहीं, पर संख्यात्मक भेद है। जीव तीन प्रकार के होते हैं—बद्ध, मुक्त और नित्य। संसार में उत्पन्न शरीरबद्ध जीव बद्ध है। मुक्त जीव भगवान् में

तदाकार होकर दिव्य शरीर प्राप्त कर लेते हैं। नित्य जीव कभी संसार में नहीं आते, वे भगवान् के साथ बैकुण्ठ में निवास करते हैं।

मुक्ति का अर्थ जीवात्मा या ब्रह्म में लीन होना नहीं है। क्योंकि जीव अंश है, ब्रह्म अंशी है। ईश्वर साक्षात्कार ही मोक्ष है। मुक्तात्मा ईश्वर का साहचर्य प्राप्त करता है, तादात्म्यीकरण नहीं। भगवान् की कृपा के बिना मोक्ष संभव नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में चिन्तन के प्रारम्भ से आज तक आत्म-तत्त्व शोध का विषय रहा है और भविष्य में रहेगा। हर युग के चिन्तकों ने आत्मा विषयक विचारों को व्यक्त किया है, भले ही कुछ दार्शनिकों ने आत्मास्तित्व का निषेध किया हो पर आत्मा ने उनके विचार मंथन को अछूता नहीं छोड़ा है। आत्मा का अस्तित्व मानने वालों के लिए तो आत्मज्ञान ही सर्वोच्च ज्ञान है, क्योंकि आत्मज्ञान ही मुक्ति का मार्ग है। आत्म साक्षात्कार करके हम बृहत् साक्षात्कार की अनुभूति प्राप्त करते हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. तत्त्वार्थसूत्र, 1. 2
2. प्रमाण नय तत्त्वालोकालंकार, 2. 7
3. छांदोग्योपनिषद्, 6. 7
4. पाणिनी व्याकरण, 4. 4. 60
5. पाणिनी व्याकरण के सूत्र 4. 4. 60 पर लिखी गई आचार्य कैयट की प्रदीप टीका
6. शब्दस्तोममहानिधि, पृ. 72
7. वाचस्पत्यम्, पृ. 862
8. ऋग्वेद, 2. 27. 11
9. वही, 2. 27. 14
10. ऋग्वेद, 10. 164, अथर्ववेद, 3. 2. 4, 20. 16. 9, ऋग्वेद, 8. 13. 6
11. यजुर्वेद, 1. 5, 10
12. ऋग्वेद, 1. 23. 5
13. वही, 1. 8. 8, 1. 23. 9, 22
14. वही, 1. 15. 6, 1. 90. 2, 1. 94. 9, 1. 115. 6, 1. 22. 5, 4. 5. 5
15. शतपथ ब्राह्मण, 7. 1. 1
16. वही, 7. 1. 1
17. वही, 7. 1. 1. 18
18. वही, 7. 1. 1. 18

19. जैमिनीय ब्राह्मण, 2. 54
20. तैत्तिरीय आरण्यक, 9. 1
21. वही, 9. 1
22. वही, 1. 3-8
23. बृहदारण्यक, 2. 5. 19
24. वही, 4. 5. 6
25. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन्, भाग 1, पृ. 32
26. येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ कठोपनिषद् 1. 20
27. वही, 1. 23, 29
28. बृहदारण्यक, 2. 4. 1-3, 5, छांदोग्योपनिषद्, 8. 1. 1-2, 8. 1. 2, 7. 1. 3-5 एवं 16, 5. 3-1, 3, 6, 5. 3.7, 5. 11. 1, 4, 6, 5. 12. 18, 10. 6. 1
29. ऋग्वेद, 10. 16. 3
30. भारतीय दर्शन, भाग 1, डॉ. राधाकृष्णन्, पृ. 138
31. छांदोग्योपनिषद्, 8. 7, 4, 8. 11. 2
32. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4. 4. 3
33. मुण्डकोपनिषद्, 1. 1
34. छांदोग्योपनिषद्, 3. 13. 7
35. कठोपनिषद्, 1. 2. 18, 1. 2. 22, 23
36. वही, 3. 10. 6, 6-8
37. मुण्डकोपनिषद्, 3. 2. 3
38. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1. 4. 7
39. भारतीय दर्शन, डॉ. न. कि. देवराज, पृ. 75
40. श्वेताश्वरोपनिषद्, 5. 8. 5, 7
41. माण्डूक्योपनिषद् 2, बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.2.4, प्रश्नोपनिषद्, 4. 5. 6
42. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2. 1. 5
43. छांदोग्योपनिषद्, 8. 8
44. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2. 1, 2
45. ब्रह्मजाल सुत्त (हिन्दी), पृ. 12
46. सूत्रकृतांग, 1. 1. 1. 7, 8
47. वही, 2. 1. 9, 2. 1. 10
48. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2. 1. 2
49. सर्वदर्शनसंग्रह, 1. 7. 8
50. षड्दर्शनसमुच्चय, 1. 7. 8
51. सूत्रकृतांग, 2. 1. 9
52. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2. 4. 12
53. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 3. 3. 53

54. तत्त्वार्थवार्तिक, अकलंकदेव, 2. 7. 27, पृ. 117
55. शास्त्रवार्तासमुच्चय, 1. 65, 66
56. तत्त्वार्थवार्तिक, 2. 7. 27, पृ. 117
57. बृहदारण्यकोपनिषद्, 3. 5. 21
58. सांख्यकारिका, 44
59. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, पृ. 52
60. वेदान्तसार, पृ. 26
61. चार्वाकदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, डॉ. सर्वानन्द पाठक, सूत्र 5. 36, पृ.40
62. प्रमेयकमलमार्तण्ड, 1. 7, पृ. 114
63. न्यायकन्दली, श्रीधराचार्य, पृ. 172
64. प्रमेयकमलमार्तण्ड, 1. 7, पृ. 114, न्यायकुमुदचन्द्र, भाग 1, पृ. 346
65. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. 49
66. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2. 2. 3, कौषीतकी, 3. 2
67. छांदोग्योपनिषद्, 3. 15. 4
68. बृहदारण्यकोपनिषद्, 1. 5. 22, 23
69. अन्योऽन्यतर आत्मा मनोमयः—तैत्तिरीयोपनिषद्, 2. 3. 1
70. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. 176
71. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2. 3
72. न्यायसूत्र, 3. 2. 61, वैशेषिकसूत्र, 7. 1. 23
73. अभिधर्मकोश, 2. 17
74. न्यायसूत्र, 3. 1. 16
75. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2. 3
76. सांख्यकारिका, 44
77. बृहदारण्यकोपनिषद्, 1. 5. 3
78. वही, 4. 1. 6
79. छांदोग्योपनिषद्, 7. 3. 1
80. तेजोबिन्दूपनिषद्, 5. 98. 101
81. प्रमेयकमलमार्तण्ड, 1. 7, पृ. 115
82. न्यायकन्दली, वात्स्यायनभाष्य, पृ. 42, परमात्मप्रकाश, पृ. 149
83. प्रमेयकमलमार्तण्ड, 1. 7, पृ. 115
84. वही, न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. 172, न्यायदर्शनम्, वात्स्यायनभाष्य, 3. 2. 18, पृ. 395
85. मुण्डकोपनिषद्, 2. 2. 5
86. बृहदारण्यकोपनिषद्, कठोपनिषद्—4. 4. 19, 4. 11
87. विनयपिटक, 1. 8. 20—23
88. अभिधम्मपिटक, 11. 112
89. दीघनिकाय, महावग्ग 2. 1
90. मज्झिमनिकाय, मूलपण्णासक, 35. 3. 5—24

91. मज्झिमनिकाय, 1. 28. 34
92. मज्झिमनिकाय, उपरिपण्णासक 2. 2. 1-6
93. कुन्दकुन्द, समयसार, 39-55
94. नात्मारित्रस्कन्धमात्रं तु कर्मश्लेषभिसंस्कृतम्—अभिधर्मकोश, 3. 18
95. (क) प्रज्ञापारमिता, पिण्डार्थ 50
(ख) लंकावतारसूत्र, 10/429
96. महायानसूत्र, पृ. 103
97. लंकावतार, 2. 99, 2. 6
98. माध्यमिक कारिका, 17. 20
99. वही, 18/6
100. (क) प्रज्ञापारमिता टीका पृ. 14
(ख) वही पृ. 18
101. प्रशस्तपादभाष्यम्, पृ. 49, 50
102. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन् (भाग 2), पृ. 148, 49
103. (क) तर्कभाषा, केशवमिश्र पृ. 148
(ख) तर्कसंग्रहः, पृ. 12
104. (क) न्यायसूत्रम्, 1. 1. 10
(ख) तर्कभाषा, केशवमिश्र पृ. 190
105. तन्त्रवार्तिक, शास्त्रदीपिका पृ. 123, निर्णयसागर संस्करण
106. शास्त्रदीपिका, पृ. 123
107. वही, पृ. 124—25
108. श्लोकवार्तिकम्, आत्मवाद 1-5
109. सांख्यकारिका, 22
110. सांख्यसूत्रम्, 1. 66
111. वही, 1. 142
112. सांख्यसूत्रम्, 1. 105, 143
113. सांख्यकारिका 17, सांख्यसूत्रम् 1. 144
114. सांख्यसूत्रम्, 1. 160
115. वही, 1. 161
116. वही, 1. 163, 164
117. सांख्यकारिका, 20
118. फिलॉसाफी आफ एन्शियन्ट इंडिया, पृ. 30
119. बृहदारण्यकोपनिषद्, 1. 4. 10
120. छांदोग्योपनिषद्, 6. 8. 7
121. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2. 5. 19
122. छांदोग्योपनिषद्, 3. 4. 1
123. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4. 4. 19
124. छांदोग्योपनिषद्, 6. 14. 1
125. ऐतरेयोपनिषद्, 2. 1. 1

द्वितीय अध्याय आत्म-निरूपण—विभिन्न दृष्टियां

अस्तित्ववादी चिन्तनसरणि और आत्मा

अस्तित्व और आत्मा—दोनों ही समान हैं। आत्मा है तो अस्तित्व है। अतः दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। जब हम अस्तित्व की चर्चा करते हैं तो वहां हमारा मतलब 'त्रैकालिक अस्तित्व' से होता है। जो तीनों कालों में वर्तमान है। ऐसा अस्तित्व सिर्फ आत्मा का ही हो सकता है। ऐसा क्यों हो रहा है? क्या यह शृंखला कभी समाप्त होगी? ऐसी अनेक जिज्ञासाओं का उत्तर एक छोटा सा शब्द 'कर्म' लिये हुए है। कर्म के साथ जुड़ा है पुनर्जन्म का सिद्धांत। अतः हम अस्तित्व विषयक चर्चा में कर्म व पुनर्जन्म की चर्चा कर रहे हैं।

जन्म होते ही बच्चा जब आंखें खोलता है तो अपने चारों ओर कुछ अजीब सा देखता है। जैसे-जैसे वह समझदार होता है, वैसे-वैसे कुछ जिज्ञासाएं उत्पन्न होती हैं। जब उस युवक की रुचि अन्तर्मुखी होती है तो आत्म-जिज्ञासा का समुद्र लहलहा उठता है। उसके मुख से सहज ही निःसृत होता है—मैं कौन हूं? कहां से आया हूं और कहां जाऊंगा—

कोऽहं? अरे, कहां से आया?

और कहां जाऊंगा?

धीरे-धीरे यही जिज्ञासा तीव्र वेदना बनने लगती है। उसी वेदना में तड़पकर ऋषि पुकार उठता है।

‘न वा जानामि यदिव इदमस्मि’¹

‘मैं कौन हूं अथवा कैसा हूं मुझे इसका पता नहीं चलता।’

अनजान जगत् की खोज में अनजानी राहों पर चरण चल पड़ते हैं। जैसे-जैसे खोज गहरी होती है, वैसे-वैसे उसके नजदीक पहुंच जाते हैं। तब उसका साक्षात् होता है, जिसे आत्मा कहा गया है। आत्मा है तो

हम हैं। एक आवश्यकता। फिर क्यों वह साक्षात् नहीं दिखाई देती? उसके अस्तित्व से ही मेरा अस्तित्व है फिर क्यों वह मनचाहे समय सामने नहीं आती? समाधान मिलता है—आवरण के कारण, लेप के कारण। घड़ा पानी पर तैर सकता है। उस पर लेप करते जायें तो वह डूबता जाएगा। जैसे-जैसे लेप उतरेगा, घड़ा ऊपर आता जाएगा। यों समाधान मिलता है कि आत्मा भी कर्मों से लिप्त है, अतः साक्षात् होना कठिन है।

कर्म शब्द दर्शन का प्रचलित शब्द है। कर्म का साधारण अर्थ क्रिया होता है। वेदों से लेकर ब्राह्मणकाल तक वैदिक परम्परा में इसका यही अर्थ दृष्टिगोचर होता है। वैदिक परम्परा में यज्ञयागादि नित्य नैमित्तिक क्रियाओं को कर्म की संज्ञा दी गई है। यह माना जाता था कि कर्मों का आचरण देवों को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है और देव इन्हें करने वाले व्यक्ति की मनोकामना पूर्ण करते हैं।

वैदिक काल का समस्त तत्त्वज्ञान क्रमशः देव और यज्ञ को केन्द्रबिन्दु बनाकर विकसित हुआ। सर्वप्रथम अनेक देवों की और उसके बाद प्रजापति के समान एक देव की कल्पना की गई। शत्रुओं का नाश करने के लिए या सुखी होने के लिए मनुष्य को उन देवों की स्तुति करनी होगी, सजीव या निर्जीव इष्ट वस्तु को यज्ञ कर उसे समर्पित करना होगा—ऐसा चिन्तन वैदिककाल में था। इससे देव संतुष्ट होकर मनोकामना पूरी करते हैं। यह मान्यता वेदों से लेकर ब्राह्मण काल तक विकसित होती रही।

ब्राह्मणकाल के पश्चात् रचित उपनिषद् भी वेदों और ब्राह्मणों का अंतिम भाग होने के कारण वैदिक साहित्य के ही अंग हैं और उन्हें वेदान्त कहते हैं। पर इनसे पता चलता है कि देव और यज्ञ परम्परा का अंत निकट ही था। उपनिषदों में संसार और कर्म-अदृष्ट-विषयक नये विचार भी दृष्टिगोचर होते हैं। कर्म कारण है—ऐसा वाद भी उपनिषदों का सर्वसम्मत वाद नहीं कहा जा सकता।^{१२} अतः इसे वैदिक विचारधारा का मौलिक विचार तो नहीं कहा जा सकता। श्वेताश्वतर उपनिषद् में जहां अनेक कारणों का उल्लेख किया है वहां काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत अथवा पुरुष अथवा इन सबके संयोग का प्रतिपादन है।^{१३}

वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करने पर यह तो नहीं कहा जा सकता वैदिक ऋषियों को मनुष्यों में तथा अन्य अनेक प्रकार के पशु,

पक्षी एवं कीट पतंगों में विद्यमान् विविधता का अनुभव नहीं हुआ होगा। किन्तु ऐसा लगता है कि उन्होंने इस विविधता का कारण अन्तरात्मा में ढूँढने की बजाय उसे बाह्यतत्त्व में मानकर ही संतोष कर लिया था। किसी ने कल्पना की कि सृष्टि की उत्पत्ति का कारण एक अथवा अनेक भौतिक तत्त्व हैं अथवा प्रजापति जैसा तत्त्व सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है। किन्तु इस सृष्टि में विविधता का आधार क्या है, इसके स्पष्टीकरण का प्रयत्न नहीं किया गया। जीवसृष्टि के अन्य वर्गों की बात छोड़ केवल मानवसृष्टि में शरीरादि की, सुख-दुःख की, बौद्धिक शक्ति-अशक्ति की जो विविधता है, उसके कारण की भी शोध नहीं की गई, ऐसा प्रतीत होता है।

वेदान्त में मिलने वाले अदृष्ट तत्त्व पर जैनसम्मत कर्मवाद का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। जैन परंपरा प्राचीनकाल से ही कर्मवादी है। उसमें देववाद को कभी स्थान प्राप्त नहीं हुआ। कर्मवाद की जैसी व्यवस्था जैन ग्रंथों में दृष्टिगोचर होती है, वैसी व्यवस्था अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। अनेक जीवों के उन्नत और अवनत जितने भी प्रकार संभव हैं, एक जीव के आध्यात्मिक विकास क्रम के जितने भी सोपान हैं, उन सबमें कर्म का क्या प्रभाव है तथा इस दृष्टि से कर्म की कैसी विविधता है, इन सब बातों का विस्तृत शास्त्रीय निरूपण जैसा जैन ग्रंथों में है वैसा अन्यत्र नहीं है। कर्म का विकास भी जैन परम्परा में हुआ और इसे व्यवस्थित रूप भी इसी परम्परा में प्राप्त हुआ है। जैनों के कर्म स्फुलिंगों ने दूसरी विचारधाराओं को भी तेजस्वी बनाया है।

कर्म के दो प्रकार संक्षेप में किये जा सकते हैं—द्रव्यकर्म व भावकर्म। संसारी जीव की प्रत्येक क्रिया अथवा प्रवृत्ति को भावकर्म कहा जा सकता है। भावकर्म अर्थात् जीव की क्रिया द्वारा जो अजीव द्रव्य-पुद्गल द्रव्य आत्मा के संसर्ग में आकर आत्मा को बंधन में बांध देता है, उसे द्रव्य कर्म कहते हैं। द्रव्य कर्म पुद्गल द्रव्य है, उसकी कर्म संज्ञा औपचारिक है। चूंकि वह आत्मा की क्रिया या उसके कर्म से उत्पन्न होता है, अतः उसे भी कर्म कहते हैं। हम कह सकते हैं कि जीव की क्रिया भावकर्म है और उसका फल द्रव्यकर्म। इन दोनों में कार्यकारणभाव है। यह कार्यकारणभाव मुर्गी और उसके अंडे के कार्यकारणभाव के सदृश है। दोनों में पहले कौन, यह नहीं कहा जा सकता। संतति की अपेक्षा से इनका पारस्परिक कार्यकारणभाव अनादि है। फिर भी व्यक्तिशः

विचार करने पर पता चलता है कि किसी एक द्रव्यकर्म का कारण कोई एक भावकर्म ही होगा, इसलिए उनमें पूर्वापरभाव का निश्चय किया जा सकता है। जिस एक भावकर्म से किसी विशेष द्रव्यकर्म की उत्पत्ति हुई है, वह उस द्रव्यकर्म का कारण है और वह द्रव्यकर्म उस भावकर्म का कार्य है, कारण नहीं। इसलिए हमें यह मानना पड़ता है कि व्यक्तिशः पूर्वापर भाव होने पर भी जाति की अपेक्षा से पूर्वापरभाव का अभाव होने के कारण दोनों अनादि हैं। द्रव्यकर्म और भावकर्म का कार्यकारणभाव उपादानोपादेय रूप न होकर निमित्तनैमित्तिक रूप है।

कर्म के स्वरूप पर विचार करने पर यही सार निकलता है कि भावकर्म के विषय में किसी दार्शनिक को आपत्ति नहीं है। सभी मानते हैं कि राग, द्वेष और मोह भावकर्म अथवा कर्म के कारण रूप हैं। जैन के द्रव्यकर्म को ही अन्य दर्शनों में कर्म कहा गया है। संस्कार, वासना, अविज्ञप्ति, माया, अपूर्व इसी के नाम हैं। हम देख सकते हैं कि कर्म के पुद्गल द्रव्य, गुण, धर्म अथवा अन्य स्वतंत्र द्रव्य होने में दार्शनिकों का मतभेद हो सकता है, पर वस्तु के संबंध में विशेष विवाद नहीं है।

कर्म के भेद

भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने विविध प्रकार से कर्म के भेद किये हैं, लेकिन पुण्य-पाप, कुशल-अकुशल, शुभ-अशुभ, धर्म-अधर्म रूप भेद सभी को मान्य है। इसलिए इन भेदों को प्राचीन कहा जा सकता है। सर्वप्रथम प्रारंभ में अनुकूल कर्म को पुण्य एवं प्रतिकूल कर्म को पाप कहकर कर्म के दो प्रकार किये गये। इस प्रकार के भेद जैन, उपनिषद्, सांख्य, बौद्ध, योग, न्याय- वैशेषिक—इन सब दर्शनों में दृष्टिगोचर होते हैं।⁴

कर्म के पुण्य-पाप—ये दो भेद वेदना की दृष्टि से किये गए हैं। वेदना के अतिरिक्त अन्य दृष्टियों से भी कर्म के भेद किए जाते हैं। कर्म को अच्छा और बुरा समझने की दृष्टि को सम्मुख रखकर बौद्ध और योगदर्शन में चार भेद, कृत्य, पाकदान और पाककाल एवं पाकस्थान की दृष्टि से किये गये हैं।⁵ जैनशास्त्रों में कर्म की प्रकृति अथवा स्वभाव की दृष्टि से कर्म के आठ मूल भेदों का वर्णन है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन आठ मूल भेदों की अनेक उत्तर-प्रकृतियां भी उपलब्ध होती हैं।⁶

देखना यह है कि आखिर कर्म का बंधन क्यों होता है। ऐसे

कौन से कारण बनते हैं जिनसे आत्मा बंधन में बंध जाती है। योग और कषाय दोनों ही कर्मबंधन के कारण गिने गए हैं। वैसे कर्मबंधन का प्रबल कारण कषाय है। कषाय की अभिव्यक्ति मन, वचन, काय से होती है। तीनों में से किसी एक का आश्रय लेकर कषाय प्रकट होता है, दूसरा अन्य कोई आश्रय नहीं बनता। मन, वचन, काय—इन तीनों में से भी प्रबलतम कारण है मन। ब्रह्मबिन्दूपनिषद् में कथन है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्।।⁷

इससे पता लगता है कि मन ही प्रबल कारण है बंधन का। मन के सहयोग से ही काय व वचन की प्रवृत्ति होती है। गीता में भी अर्जुन, श्रीकृष्ण को यही कह रहे हैं—

‘चंचल हि मनः कृष्ण।’⁸

अतः मन का निरोध तब तक जारी रखना चाहिए जब तक इसका क्षय न हो जाए। जब आत्मा मन का पूर्ण निरोध कर लेती है, तब ही वह परमपद को प्राप्त होती है।⁹ मन दो प्रकार का माना गया है—शुद्ध और अशुद्ध। काम या संकल्प रूप मन अशुद्ध है और इससे रहित शुद्ध।¹⁰ जैन मान्यतानुसार जब तक कषाय का नाश नहीं हो जाता, तब तक अशुद्ध मन होता है। क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में अशुद्ध मन और बाद में शुद्ध मन होता है। केवली सर्वप्रथम इसका निरोध करता है और उसके बाद वचन एवं काय का निरोध करता है।¹¹ जहां हिंसा-अहिंसा की चर्चा आती है वहां भी काययोग अथवा वचनयोग के स्थान पर मानसिक अध्यवसाय राग और द्वेष को ही कर्मबंध का मुख्य कारण माना गया है।¹² इससे यह भ्रम समाप्त हो जाता है कि जैन कायदंड अथवा कायकर्म को महत्त्व देते हैं। इसी प्रकार बौद्धों ने भी मन को ही कर्म का प्रधान कारण माना है।¹³

एक विशिष्ट कर्मबंध की प्रक्रिया का चित्र भगवती सूत्र में गौतम गणधर एवं भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तर के रूप में मिलता है। वह इस प्रकार है—

गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा—भंते! जीव कांक्षामोहनीय कर्म किस कारण से करता है?

भगवान्—प्रमाद से।

गौतम—भंते! प्रमाद कैसे होता है?

भगवान्—योग (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति) से।

गौतम—योग किससे होता है?

भगवान्—वीर्य (क्रियात्मक शक्ति) से।

गौतम—वीर्य किससे होता है?

भगवान्—शरीर (औदारिक या वैक्रिय शरीर) से।

गौतम—शरीर किससे होता है?

भगवान्—कर्म (कार्मण) शरीर से।

गौतम—कर्म शरीर किससे होता है?

भगवान्—जीव से।

इसके विपरीत क्रम से चलने पर कार्मिक प्रक्रिया का स्थूल चित्र सामने आ जाता है। जीव से कर्मशरीर, कर्मशरीर से स्थूल शरीर, फिर स्थूल शरीर से क्रियात्मक शक्ति, क्रियात्मक शक्ति से योग, योग से प्रमाद और प्रमाद से कर्मबंध।¹⁴

जिज्ञासा होती है कि ये कर्म आते कहां से हैं? समग्र आकाशमण्डल में कर्मवर्गणा के परमाणु व्याप्त हैं। वे सारे आकाश में ठसाठस भरे हैं। जब कोई जीव उन्हें ग्रहण नहीं करता, तब तक वे आकाशमण्डल में अव्यवस्थित रूप से फैले परमाणुमात्र होते हैं, कर्म नहीं बनते। हालांकि वे कर्मप्रायोग्य अवश्य होते हैं किन्तु जब जीव के मन में कषायात्मक भाव निर्मित हो जाता है तो तदनु रूप कर्म परमाणुओं को वह वहां बैठे-बैठे ही आकाशमण्डल से ग्रहण कर लेता है। खींच लेने के बाद वे कर्म परमाणु जीव को अपने प्रभावक्षेत्र में ले लेते हैं यानी बंधन में बांध लेते हैं। एक क्षण पहले जो कर्म परमाणु आकाश में फैले हुए थे, दूसरे क्षण वे ही कर्म परमाणु आत्मा से सम्बद्ध हो गए।

आशय यह है कि जीव अपने स्थान में था और कर्म परमाणु अपने स्थान में, किन्तु ज्यों ही जीव में रागद्वेषात्मक भावकर्म उदित हुआ कि वे आसपास के आकाशमण्डल व्याप्त कर्म पुद्गल आकर्षित होकर जीव के साथ सम्बन्ध स्थापित कर चुके। उन कर्मपुद्गलों को जीव के भावकर्म कहें या आस्रव। उसके द्वारा द्रव्यकर्म लिये जाते हैं, तब वे जीव को बन्धनबद्ध कर लेते हैं।¹⁵

कर्म का बंधन होने के पश्चात् तत्काल ही फल मिलना प्रारंभ नहीं होता। जैन शास्त्रों में बंधन के चार प्रकारों का वर्णन मिलता है। संसारी जीव की प्रवृत्ति से कर्मप्रायोग्य पुद्गलों का ग्रहण सभी दिशाओं

से होता है। इसमें ज्ञातव्य यह है कि जितने प्रदेश में आत्मा होती है, वह उतने ही प्रदेश में विद्यमान परमाणुस्कंधों का ग्रहण करती है। प्रवृत्ति के तारतम्य के आधार पर परमाणुओं की संख्या में तारतम्य होता है। यह प्रदेश बंध कहलाता है। ग्रहण किये गए परमाणुओं का ज्ञानावरण आदि भिन्न-भिन्न प्रकृति रूप में परिणत होना प्रकृति बंध कहलाता है। गृहीत परमाणुओं में कर्मविपाक के काल और सुख-दुःख विपाक की तीव्रता-मन्दता का निश्चय होता है आत्मा की प्रवृत्ति या योग में विद्यमान कषाय की तीव्रता के अनुसार। काल का निश्चय स्थिति बंध करता है और विपाक की तीव्रता का निश्चय होता है अनुभाग बंध के द्वारा। कषाय की स्निग्धता के अभाव में सूखी दीवार की भांति कर्म-परमाणु आत्मा के साथ संबद्ध नहीं हो सकते। योगदर्शन में क्लेशरहित योगी को अशुक्लाकृष्ण माना है। बौद्धों ने क्रिया चेतना के सद्भाव में अर्हत् में कर्म की सत्ता को नहीं माना। उसका भावार्थ यही है कि वीतराग नवीन कर्मों का बंध नहीं करता। जैन जिसे ईर्यापथ क्रिया मानते हैं, वही बौद्धों की क्रियाचेतना है।

कर्मबंधन के पश्चात् कर्मपाक में समय लगता है। चूल्हे पर रखी वस्तु के समान कर्मविपाक शीघ्र ही नहीं हो जाता। विविध वस्तुओं के विविध पाककाल की भांति विविध कर्मों का पाककाल भी विविध प्रकार का होता है। कर्म के पाक योग्यता काल को 'आबाधाकाल' कहा जाता है। आबाधाकाल के पश्चात् कर्म फल देना प्रारंभ करते हैं, उस अवस्था को उदय कहा जाता है। फल देकर आत्मा से अलग होना निर्जरा कहलाता है। यों कर्मप्रक्रिया की सामान्य रूपरेखा मैंने प्रस्तुत की।

कर्म का फल प्रकृतियों के अनुसार ही प्राप्त होता है। ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण का घात करता है और दर्शनावरणीय दर्शन गुण का। दर्शन मोहनीय से तत्त्वरुचि या सम्यक्त्व गुण का घात होता है और चारित्र मोहनीय से परम सुख या सम्यक् चारित्र का घात होता है। अन्तराय का कार्य है वीर्य का प्रतिघात करना। आत्मगुणों का घात करने के कारण ये चारों घाती कर्म कहलाते हैं।

वेदनीय कर्म से आत्मा में अनुकूल अथवा प्रतिकूल वेदना का अनुभव होता है। आयुष्य कर्म नरकादि गतियों की प्राप्ति का कारण है। जीवों को विविध जाति, शरीर आदि की उपलब्धि नामकर्म के कारण

होती है। उच्चत्व-नीचत्व गोत्रकर्म का फल है। ये चारकर्म अघाती कहलाते हैं।

इस प्रकार जीवन के महत्त्वपूर्ण एवं आधारभूत कारण कर्म का संक्षेप में वर्णन किया गया। अब हमें देखना है कि पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धांत को, जिससे हमें कर्म-अस्तित्व या आत्मास्तित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल सके।

कर्म और पुनर्जन्म

पुनर्जन्म का प्रश्न आत्मवादी के लिए नहीं अपितु प्रत्येक बुद्धिवादी के लिए महत्त्वपूर्ण है। इस प्रश्न की उपेक्षा करके हम जीवन मृत्यु सम्बन्धी सत्य से आँख मूंद लेते हैं। मैं कौन था— यह पूर्वजन्म के संज्ञान का विचयसूत्र है। परलोक में मैं क्या होऊंगा—यह भावी जन्म के संज्ञान का विचयसूत्र है।

जीवन का जो स्वरूप वर्तमान में दिखाई पड़ रहा है, वह उतने तक ही सीमित नहीं है अपितु उसका सम्बन्ध अनन्त भूतकाल और भविष्य के साथ भी जुड़ा हुआ है। वर्तमान जीवन तो उस अनन्त शृंखला की एक कड़ी है। भारत के लगभग सभी आस्तिक दर्शन कर्म और पुनर्जन्म की व्याख्या विशद रूप से करते हैं। कर्मविज्ञान के रहस्य को जानने वाला इस तथ्य को स्वीकार करता है कि प्राणी जो भी मानसिक, वाचिक, कायिक एवं बौद्धिक क्रिया करता है, उसका मूल आधार पूर्वकृत कर्म हैं, वे पूर्वकृत कर्म इस जन्म के हों, पूर्वजन्म के हों या सैंकड़ों-हजारों जन्म पहले के हों।¹⁶ वर्तमान में मनुष्य जो कुछ अच्छी-बुरी प्रवृत्ति करता है, उसका परिणाम भविष्य में उसे उसी रूप में मिलेगा ही, चाहे वह इसी जन्म में मिले या अगले कई जन्मों में मिले।¹⁷ इस दृष्टि से कर्म प्राणी के साथ तीनों कालों में अनूस्यूत है। जब तक वह कर्म से सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता, तब तक कर्म उसकी आत्मा के साथ संलग्न रहते हैं।¹⁸ सभी भारतीय आस्तिक दर्शन इस तथ्य से पूर्णतया सहमत हैं कि अपने किये हुए कर्मों का क्षय उनका फल भोगे बिना करोड़ों कल्पों तक नहीं हो पाता।¹⁹ आत्मा के द्वारा पूर्ववर्ती शरीर को छोड़कर उत्तरवर्ती नूतन शरीर धारण करना पूर्वजन्म कहलता है और इस जन्म के शरीर को आयुष्य पूर्ण होने पर छोड़कर कर्मानुसार अगले जन्म का नया शरीर धारण करना पुनर्जन्म कहलाता है। पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म को भारतीय दार्शनिकों ने पुनर्भव, पूर्वभव, जन्मान्तर,

प्रेत्यभाव, परलोक, पर्याय-परिवर्तन तथा भवान्तर भी कहा है।²⁰

सभी आस्तिक दर्शनों में यथास्थान पुनर्जन्म का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद की ऋचा में कर्म और पुनर्जन्म के सम्बन्ध का सर्वाधिक प्राचीन संकेत प्राप्त होता है।²¹ उपनिषदों में कठोपनिषद् में नचिकेता के उद्गार, बृहदारण्यक में दिया गया उपदेश एवं विभिन्न उदाहरणों के द्वारा समझाया गया पुनर्जन्म का रहस्य एवं छांदोग्योपनिषद् में कर्म के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेने सम्बन्धी तथ्य पुनर्जन्म की सत्यता के द्योतक हैं।²² भगवद्गीता में कर्मानुसार पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले अनेक प्रमाण मिलते हैं।²³

अनात्मवादी दर्शन होते हुए भी बौद्धदर्शन ने कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन किया है। त्रिपिटक, मज्झिमनिकाय, भगवान् बुद्ध के पैर में कांटा चुभने पर उनके उद्गार, दीघनिकाय एवं थेरीगाथा में पुनर्जन्म सम्बन्धी तथ्य स्पष्ट रूप में वर्णित है।²⁴ न्याय-वैशेषिक दर्शन में पुनर्जन्म में रागद्वेषादि को कारण मानते हुए अनेकों संकेत प्राप्त होते हैं।²⁵ सांख्यदर्शन में सांख्यकारिका में सूक्ष्म शरीर को पुनर्जन्म का कारण बताते हुए विभिन्न योनियों में परिभ्रमण की बात को स्पष्ट किया गया है।²⁶ मीमांसादर्शन में भी योनि-भ्रमण की बात कही गई है।²⁷ योगदर्शन में भी कर्मों के फल की बात आगामी जन्म में मिलने की कही गई है।²⁸ बाइबिल में ईसा ने पुनर्जन्म की निश्चितता घोषित की है।²⁹ सूफी संत मौलाना रूम ने लिखा है कि वे अब मनुष्य योनि से देववर्ग में प्रविष्ट होने की तैयारी कर रहे हैं। 'इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स' के बारहवें खण्ड में अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और अमेरिका के आदिवासियों के सम्बन्ध में अभिलेख है कि वे सभी समान रूप से पुनर्जन्म को मानते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो, गेटे, फिश, शोलिंग, लेसिंग आदि ने अपने ग्रन्थों में पुनर्जन्म का प्रतिपादन किया है।

जैन दर्शन में पुनर्जन्म के प्रतिपादन के अनेक तथ्य एवं घटना प्रसंग दिखाई पड़ते हैं। जैन आगमों में स्थान-स्थान पर कर्म और पुनर्जन्म की बात कही गई है। जैन दर्शन आत्मा को परिणामी नित्य और कथंचित् मूर्त्त कहकर शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता मानता है। उसका मन्तव्य है कि अनादिकाल से आत्मा का कर्म के साथ संयोग होने से वह अशुद्ध है। इस अशुद्ध दशा के कारण ही आत्मा विभिन्न शुभाशुभ गतियों में परिभ्रमण करता रहता है। आत्मा जो भी कर्म करता

है उसका फल उसे अगले जन्मों में भोगना पड़ता है। क्योंकि बंधे हुए कर्म फल दिये बिना नष्ट नहीं होते। वे आत्मा का तब तक अनुसरण करते रहते हैं तब तक अपना फलभोग न करा दें।³⁰

आदिकाल से ही यह प्रश्न मानव मन को झकझोरता रहा है कि मैं कौन था? जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् मैं कौन था, क्या बनूंगा? कहां जाऊंगा? इन प्रश्नों का समाधान उन महापुरुषों ने किया, जो वीतराग, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी एवं प्रत्यक्षज्ञानी थे। जिन्होंने स्वयं अनुभव और साक्षात्कार कर लिया था—जीवन और मृत्यु का। आचारांग सूत्र में इसी सन्दर्भ में इस युग के अंतिम तीर्थंकर महावीर के उद्गार हैं—संसार में कई लोगों को यह संज्ञा नहीं होती कि “मैं पूर्वदिशा से आया हूँ, दक्षिण दिशा से आया हूँ पश्चिम दिशा से आया हूँ, उत्तर दिशा से आया हूँ, ऊर्ध्व दिशा से आया हूँ, अधोदिशा से आया हूँ अथवा अन्य किसी अनुदिशा से आया हूँ।”³¹

इसी प्रकार कई लोगों को यह ज्ञात नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्म करने वाली है अथवा पूर्वजन्म से आई है) है अथवा ऐसी नहीं है, मैं कौन था? अथवा मैं यहां से च्यवकर (आयुष्य समाप्त होने पर) आगामी लोक (परलोक) में क्या होऊंगा?

प्रत्यक्षज्ञानियों, तीर्थंकरों तथा उनके गणधरों विशेषतः श्री गौतम स्वामी, सुधर्मास्वामी आदि ने एवं पश्चाद्वर्ती ज्ञानी आचार्यों एवं मुनिवरों ने अनेक शास्त्रों एवं ग्रन्थों में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले घटनाचक्रों का यत्र तत्र उल्लेख किया है। भगवान् महावीर के पूर्वभवों का उल्लेख सर्वप्रथम हमें आवश्यक निर्युक्ति, विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, चउप्पन्न महापुरिस चरियं में मिलता है। कल्पसूत्र की टीकाओं में वर्णित भगवान् महावीर स्वामी के तीर्थंकर भव से पूर्व के 27 भवों का वर्णन पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की मुँहबोलती कहानी है।³²

इसी प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ के दस भवों का वर्णन भी कल्पसूत्र टीका त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र आदि शास्त्रों एवं ग्रन्थों में मिलता है। इसमें भगवान् पार्श्वनाथ के साथ कई जन्मों तक जन्म-मरण के रूप में कमठ की वैर-परम्परा चालू रहने का वर्णन है। यह घटनाचक्र भी पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म के अस्तित्व को प्रमाणित करता है।³³

सतीराजीमती तथा भगवान् अरिष्टनेमी का नौ जन्मों का स्नेह,³⁴

ऋषभदेव, शांतिनाथ, मल्लिनाथ आदि³⁵ तीर्थकरों के पूर्वभवों का वर्णन पुनर्जन्म स्वीकार करने को बाध्य करता है। यह सारा कर्मों के आधार पर ही वर्णित है।

उत्तराध्ययन सूत्र में नमि प्रव्रज्या अध्ययन भी पुनर्जन्म के अस्तित्व का साक्षी है। इसमें देवलोक से मनुष्य लोक में आए हुए नमिराजर्षि का मोह उपशान्त होने पर पूर्वजन्म के स्मरण का तथा अनुत्तरधर्म में स्वयं सम्बुद्ध होकर प्रव्रजित होने का स्पष्ट उल्लेख है।³⁶ उत्तराध्ययनसूत्र का चित्त-सम्भूतीय अध्ययन तो छह जन्मों तक चित्र और सम्भूत के साथ-साथ जन्म लेने वाली घटनाएं कर्म और पुनर्जन्म की शृंखला का ज्वलन्त प्रमाण है।³⁷ इषुकारीय अध्ययन में भी भृगु पुरोहित के दोनों पुत्रों का कर्मानुसार जन्म प्राप्ति का तथा वर्तमान जन्म में आचरित तप-संयम का आचरण करके विरक्त होने का स्पष्ट वर्णन है।³⁸ संजयीय अध्ययन में तो स्पष्टतः पुनर्जन्म और शुभाशुभ कर्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रूप गठबन्धन का उल्लेख किया है।³⁹ उन्नीसवां मृगापुत्रीय अध्ययन में मृगापुत्र अपने पूर्वजन्म का तथा देवलोक भव से पूर्वजन्म में आचरित पंचमहाव्रतरूप श्रमण धर्म का स्मरण करता है, साथ ही नरक और तिर्यचगति में प्राप्त हुई भयंकर वेदनाओं और यातनाओं को भी सहन करने का वर्णन करता है।⁴⁰

इसके अतिरिक्त विपाकसूत्र में पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुए पुनर्जन्म का घटनाओं सहित उल्लेख मिलता है।⁴¹ समरादित्य केवली, सती अंजना, चन्दनबाला, द्रौपदी, सुभद्रा, कुन्ती, दमयन्ती, प्रभावती, कलावती आदि को जो भयंकर कष्ट सहने पड़े उनके पीछे पूर्वजन्मकृत कर्मों का ही हाथ है, यह प्रत्येक की जीवनगाथा से प्रमाणित होता है।⁴²

आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, विपाकसूत्र, निरयावलिकासूत्र आदि में भी प्रत्यक्षज्ञानी आप्त पुरुषों ने सर्वत्र यही प्रतिध्वनित किया है कि जो आत्मवादी होता है, वह लोकवादी अवश्य होता है अर्थात् वह इहलोक-परलोक या स्वर्गनरक, मनुष्यलोक-तिर्यचलोक को अवश्य मानता है। दूसरे शब्दों में पुनर्जन्म को असंदिग्ध रूप में मानता है और जो लोकवाद को मानता है, उसे इहलोक में जन्म लेने और मृत्यु के बाद विविध परलोक में जाने के मुख्य कारण 'कर्मवाद' को अवश्य मानना पड़ता है।⁴³

कर्मों के कारण ही कर्मणशरीर युक्त आत्मा का इहलोक-परलोक में आवागमन होता है। इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञानियों के वचनों से पुनर्जन्म का अस्तित्व सिद्ध होने से कर्म का अस्तित्व भी निःसन्देह रूप से सिद्ध हो जाता है। वीतराग सर्वज्ञ महावीर स्वामी पुनर्जन्म के अस्तित्व के साथ कर्म के अविच्छिन्न प्रवाह को फिर से समझाते हुए कहते हैं—“कई जीव इस जीवन के पूर्व का और इस जीवन के आगे का स्मरण-चिन्तन ही नहीं करते कि इस जीव का अतीत क्या था और इसका भविष्य क्या है?”

इसको लेकर कितने ही मानव यों कह देते हैं कि इस संसार में इस जीव का जो अतीत था, वही भविष्य होगा किन्तु तथागत अतीतार्थ को और भविष्यार्थ को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है अतीत अथवा भविष्य जीवों के अपने-अपने कृतकर्मों के अनुसार ही होता है। अतः पवित्र आचरणयुक्त महर्षि इस सिद्धान्त को अथवा पूर्वजीवन या पुनर्जीवन या वर्तमान जीवन के कर्म से अविच्छिन्न सम्बन्ध को जानकर कर्मों को धुनकर क्षय कर डाले।⁴⁴

इस सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए उन्होंने स्पष्टरूप से कहा—“अतीत में जैसा भी कुछ कर्म किया गया है, भविष्य में वह उस-उस कर्म के अनुसार उसी रूप में उपस्थित होता है क्योंकि सभी प्राणी अपने-अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण विभिन्न गतियों में भ्रमण करते हैं।⁴⁵ अतीत (पूर्व) लोक (गति) से आगमन (आगति) और भविष्य में गति को भली भांति जानकर अदृश्यमान इन दोनों अन्तों-जन्म और मरण या राग और द्वेष का जो त्याग कर देता है, वह फिर समग्र लोक में किसी के द्वारा छिन्न, विद्ध, दग्ध या नष्ट नहीं होता।⁴⁶

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कर्म और पुनर्जन्म ऐसे रूप हैं जो प्रमाण, अनुभूति एवं कर्मों से स्पष्टतः सिद्ध होते हैं।

पुनर्जन्म पर आक्षेप और परिहार—चार्वाक दर्शन, यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम धर्म पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते हैं। ये सम्प्रदाय एकजन्मवादी कहलाते हैं। इन सम्प्रदायों की यह मान्यता है कि मृत्यु के बाद आत्मा नष्ट नहीं होती है, वह न्याय के दिन तक प्रतीक्षा में रहती है और न्याय के दिन तत्सम्बन्धी देवता द्वारा उन्हें उनके कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक भेज दिया जाता है, उनकी जो यह मान्यता है, यह भी पुनर्जन्म की सूचना है। कर्मों के अनुसार वे स्वर्ग या नरक में

अलग-अलग क्यों जाते हैं? यदि पुनर्जन्म न हो तो सभी को एक जगह ही भेज दिया जाए। दूसरा दोष यह आता है कि यदि पुनर्जन्म नहीं हो तो नरक वाले नरक में रहेंगे और स्वर्ग वाले स्वर्ग में। यह ठीक नहीं है। अतः एकजन्मवादियों को अपना मन्तव्य बदलना चाहिए क्योंकि उनका हेतु ही ठीक नहीं है।

पुनर्जन्म पर वे जो अन्धविश्वास आदि का आक्षेप लगाते हैं, उन आक्षेपों में कोई दम नहीं है। आज तो अनुसंधान करके ही सिद्ध हो चुका है पुनर्जन्म का अस्तित्व। समाचारपत्रों, दूरदर्शन पर इसके अनेक प्रमाण दिखाये गये हैं। सभी प्रमाणों को छोड़कर मैं मेरा प्रमाण उद्धृत कर रही हूँ। मेरी बुआ को पिछले नौ जन्मों की स्मृति एक साथ हुई। उन्होंने सारी बात बता दी। मेरी छोटी बहिन को अपने पूर्वजन्म की स्मृति हुई और उसने सारी बात बताई। उसके बेटों ने उसे लाठी से मार डाला था। वह पूर्वजन्म में दिल्ली की निवासी थी। जब किसी अवसर पर दिल्ली जाने का काम पड़ा तो वहाँ वह इतनी भयभीत रही कि तीन दिनों तक उसने कुछ भी खाया पिया नहीं।

कहने का तात्पर्य है कि जो लोग पुनर्जन्म को नहीं मानते हैं, उन्हें इसे मान्य करना चाहिए क्योंकि यह बिना किसी तर्क के ही प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।

पुनर्जन्म के संज्ञान के हेतुओं का भी वर्णन आचारांग में दृष्टिगोचर होता है। वहाँ भगवान् ने तीन हेतुओं का निर्देश किया है—1. स्वस्मृति 2. परव्याकरण 3. दूसरों के पास सुनना।

1. स्वस्मृति—यह प्रथम हेतु है। कुछ बच्चों को बाल्यावस्था में ही पूर्वजन्म की सहज स्मृति होती है। आधुनिक परामनोवैज्ञानिकों ने ऐसी अनेक घटनाओं का संग्रह किया है।

2. परव्याकरण—किसी आप्त के साथ व्याकरण-प्रश्नोत्तरपूर्वक मनन कर कोई व्यक्ति उस ज्ञान को प्राप्त करता है। निर्युक्ति में कहा गया—परवचन व्याकरण ही जिन-व्याकरण है क्योंकि जिन से उत्कृष्ट कोई नहीं है।⁴⁷ मेघकुमार इसका उदाहरण है।

3. दूसरों के पास सुनना—बिना पूछे किसी अतिशयज्ञानी के द्वारा स्वतः ही निरूपित तथ्य को सुनकर कोई पूर्वजन्म का संज्ञान प्राप्त कर लेता है। निर्युक्ति में कहा गया—तीर्थकरों से अतिरिक्त सभी अन्य है।⁴⁸

कुछ मनुष्यों को किसी निमित्त के मिलने पर पूर्वजन्म की स्मृति

होती है। वे इस प्रकार आचारांग में निर्दिष्ट हैं

1. मोहनीय कर्म का उपशम।
2. अध्यवसानशुद्धि
3. ईहापोहमार्गणगवेषणाकरण।

आचारांग सूत्र में निर्दिष्ट कारण पूर्वजन्म संज्ञान के हेतु बनते हैं, यह बात प्रामाणिक प्रतीत होती है। ऋजुतापूर्ण बचपन में चित्त निर्मल होता है। यह मोहनीय कर्म के उपशम की स्थिति है। बचपन में पूर्वजन्म स्मृति की अनेकानेक घटनाएं हमारे सामने हैं। पत्र-पत्रिकाओं और टी. वी. के माध्यम से हमें पढ़ने व सुनने को मिलती रहती हैं आश्चर्यचकित कर देने वाली घटनाएं। अतः उनके प्रमाण देने की आवश्यकता मैं यहां नहीं समझती। मैं तो प्रत्यक्ष प्रमाण उद्धृत कर रही हूं। मेरी बुआ को बचपन में मेरी दादी ने थप्पड़ मार दिया। वे रोती-रोती ऊपर छत पर चलीं गयीं। रोते-रोते चिन्तन से परे पहुंच गयीं। तब उन्होंने अपने पिछले नौ जन्मों को साक्षात् देखा। दूसरा उदाहरण मेरी छोटी बहिन का है। बचपन से ही वह लड़कों की भाषा प्रयोग करती थी। एक दिन कुछ-कुछ बोलने लग गयी। हमारे पूछने पर उसने बताया अपना पूर्वजन्म। यों पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म दोनों ही स्वतः सिद्ध हैं। अतः जैन दर्शन का कर्मवाद जटिल न होकर अत्यन्त सरल है और यह साबित करता है कि ऋजु चित्त ऋजु मार्ग का निर्माण करता है एवं वक्र चित्त वक्र मार्ग का।

इस प्रकार आत्मा की यात्रा अस्तित्व से प्रारंभ होकर पुनर्जन्म पर समाप्त होती है।

हमने कर्म और पुनर्जन्म को शास्त्रों के परिप्रेक्ष्य में समझा। पर आधुनिक युग तर्कयुग है। इसलिए हमें अपनी बात तर्क द्वारा भी कहनी चाहिए। हम कुछ उत्तरकालीन आचार्यों के उद्धरणों को उद्धृत कर रहे हैं।

1. प्राणापान कार्य द्वारा आत्म-अस्तित्व का बोध

पूज्यपादाचार्य ने सर्वार्थसिद्धि में आत्मा की सत्ता को सिद्ध करते हुए कहा है कि श्वासोच्छ्वास रूप कार्य से क्रियावान् आत्मा का अस्तित्व उसी प्रकार सिद्ध है, जिस प्रकार यन्त्रमूर्ति की चेष्टाओं से उसके प्रयोक्ता का अस्तित्व सिद्ध होता है। भट्टअकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में पूज्यपादाचार्य के इस तर्क को संवर्धित करते हुए कहा है कि

श्वासोच्छ्वास रूपी क्रियाएं बिना कारण के नहीं होती हैं, क्योंकि ये क्रियाएं नियमपूर्वक होती हैं। रूपस्कन्ध के द्वारा भी क्रियाएं नहीं हो सकती हैं क्योंकि रूपस्कन्ध अचेतन है। अतः सिद्ध है कि श्वासोच्छ्वास रूप कार्य का जो कर्ता है, वही आत्मा है।⁴⁹ स्याद्वादमंजरी में मल्लिषेण ने भी प्राणापान की क्रिया से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है।⁵⁰

2. बाधक प्रमाण के अभाव से आत्मास्तित्व सिद्धि

भट्टअकलंकदेव का कहना है कि अनात्मवादियों का यह तर्क कि आत्मा के उत्पादक कोई कारण नहीं हैं इसलिए मेंढक की चोटी की तरह आत्मा का अभाव है, ठीक नहीं है क्योंकि उनका हेतु असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक दोष से दूषित है।⁵¹

(अ) 'अकारणत्वात्' हेतु असिद्ध इसलिए है कि इससे आत्मा का अभाव सिद्ध नहीं होता है। नर-नारकादि पर्यायों से पृथक् आत्मा नहीं मिलता है और इन पर्यायों की उत्पत्ति मिथ्यादर्शनादि कारणों से होती है। अतः आत्मा की सत्ता असिद्ध नहीं है। पर्यायों से भिन्न आत्मा की सत्ता नहीं है इसलिए प्रतिपक्षी का अकारणत्वात् हेतु आश्रयासिद्ध दोष से दूषित है।⁵²

(आ) अकारणत्वात् हेतु विरुद्ध दोष से दूषित है, क्योंकि यह हेतु आत्मा का अभाव सिद्ध न करके उसका सद्भाव सिद्ध करता है। सभी घटादि पदार्थ स्वभाव से ही सत् हैं, किसी कारण विशेष से नहीं। जो सत् होता है, वह अकारण ही होता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने भी सत् को उत्पादादि रहित कहा है।⁵³ जो स्वयं सत् है, वह नित्य ही है। उसे अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य कारण की आवश्यकता नहीं होती है। इसके विपरीत कारण-जन्य कार्य असत् ही होता है।

(इ) अकारणत्वात् हेतु अनैकान्तिक दोष से भी दूषित है क्योंकि 'मण्डूक-शिखण्ड' भी 'नास्ति' इस प्रत्यय के होने से सत् तो है लेकिन उसके उत्पादक कारण नहीं हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिपक्षियों द्वारा दिया गया उदाहरण 'मण्डूक-शिखण्ड' दृष्टान्ताभास से दूषित भी है।⁵⁴

3. सकल प्रत्यक्ष से आत्मास्तित्व सिद्धि

भट्टअकलंकदेव आत्मवादियों से कहते हैं कि आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होने से उसका अभाव है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रिय-निरपेक्ष आत्मजन्य केवल ज्ञान रूप सकल प्रत्यक्ष⁵⁵ के द्वारा शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष होता है और देश प्रत्यक्ष⁵⁶ अवधि और मनःपर्यायज्ञान

के द्वारा कर्म-नोकर्म संयुक्त अशुद्धात्मा का प्रत्यक्ष होता है।⁵⁷

4. इन्द्रिय प्रत्यक्ष से आत्मा का प्रत्यक्ष न होने से उसका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष जैन दर्शन में परोक्ष माना गया है।⁵⁸ घटादि परोक्ष हैं क्योंकि अग्राहक निमित्त कारणों से धूप से अनुमित अग्नि की तरह ग्राह्य होते हैं। इन्द्रियां अग्राहक हैं क्योंकि उनके नष्ट हो जाने पर स्मृति उत्पन्न होती है। जिस प्रकार खिड़की के नष्ट हो जाने पर उसके द्वारा देखने वाला विद्यमान रहता है उसी प्रकार इन्द्रियों से देखने वाले आत्मा की सत्ता रहती है।⁵⁹ एक प्रश्न के उत्तर में भट्ट अकलंकदेव का कहना है कि यदि बौद्ध विज्ञान को स्वसंवेदन तथा योगियों के प्रत्यक्ष मानते हैं तो आत्मा को भी स्वसंवेदन तथा योगियों के प्रत्यक्ष मानना चाहिए।⁶⁰

5. भट्ट अकलंकदेव ने अन्य भारतीय दार्शनिकों की तरह इन्द्रिय संकलनात्मक ज्ञान द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है। उनका कथन है कि इन्द्रिय और उनसे उत्पन्न ज्ञानों में 'जो मैं देखता हूँ वही मैं चखता हूँ' एकत्वविषयक फल नहीं पाया जाता है। लेकिन इस प्रकार का एकत्वविषयक ज्ञान होता है। अतः सभी इन्द्रियों द्वारा जाने गए विषयों एवं ज्ञानों में एकसूत्रता देखने वाले ग्रहीता आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है। आत्मस्वभाव के होने पर ही ज्ञान और विषयों की प्राप्ति होती है। इन्द्रियों से ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि वे अचेतन एवं क्षणिक हैं। अतः इन्द्रियों से भिन्न सकल ज्ञान और विषय का ग्रहण करने वाला कोई होना चाहिए और जो ऐसा है वही आत्मा है।⁶¹ मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी में भी संकलनात्मक ज्ञान के द्वारा आत्मा की सिद्धि की है।⁶²

6. संशय द्वारा आत्मास्तित्व सिद्धि

भट्ट अकलंकदेव ने संशय द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि 'आत्मा है' इस प्रकार का होने वाला ज्ञान यदि संशय रूप है तो आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है, क्योंकि अवस्तु का संशय नहीं होता है। जिसका अस्तित्व नहीं है उसके विषय में संशय होने का प्रश्न ही नहीं होता है।⁶³ अनात्मवादियों को आत्मा के विषय में संशय होता है। इसलिए सिद्ध है कि आत्मा की सत्ता है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने भी ऐसा ही तर्क प्रस्तुत किया है।⁶⁴

7. भट्ट अकलंकदेव का कहना है कि 'आत्मा है' यह ज्ञान अनध्यवसाय

नहीं हो सकता है क्योंकि अनादिकाल से प्रत्येक व्यक्ति आत्मा का अनुभव करता है। इस ज्ञान को विपर्यय मानने से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है क्योंकि अप्रसिद्ध पदार्थ का विपर्यय ज्ञान नहीं होता है।⁶⁵ इस प्रकार आत्मा की सत्ता सिद्ध है।

8. भट्ट अकलंकदेव ने कहा है कि किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अचानक राग द्वेष की प्रवृत्ति होने से सिद्ध है कि पहले उस वस्तु के द्वारा सुख दुःख का अनुभव हुआ था। अतः रागादि की प्रवृत्ति के कारण आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।⁶⁶

9. भट्ट अकलंकदेव ने पूर्वभव तथा जाति आदि के स्मरण से आत्मा की सत्ता सिद्ध की है। राक्षस, व्यन्तर आदि अनेक जीव पूर्वजन्म की घटनाएं सुनाया करते हैं। पूर्वभव की स्मृति संस्कारपूर्वक होती है, अतः पूर्वभव के स्मरण से दोनों जन्म से रहने वाले धारणा ज्ञान के धारक के रूप में चैतन्यवान् आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।⁶⁷ अनन्तवीर्य के प्रमेयरत्नमाला⁶⁸ में भी इसी युक्ति से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है। इस प्रकार भट्ट अकलंकदेव ने विभिन्न युक्तियों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है।

10. गुणों के आधार के रूप में आत्म-सिद्धि

जिनभद्रगणि ने विज्ञान रूप गुणों के आधार पर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करते हुए कहा है कि आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि उसके स्मरणादि विज्ञान रूप गुणों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। जिस गुणी के गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है उसका भी प्रत्यक्ष होता है। जैसे घट रूप गुण के रूपादि गुणों के प्रत्यक्ष अनुभव होने से घट का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्मा के गुण ज्ञानादि का प्रत्यक्ष अनुभव होने से आत्मा का भी प्रत्यक्ष अनुभव होना मानना चाहिए। यदि गुण और गुणी को भिन्न मानने वाले ज्ञान गुण से आत्मा रूप गुणी की सत्ता स्वीकार न करें तो रूपादि गुणों का आधार घटादि पदार्थों की भी सत्ता नहीं माननी चाहिए। अतः स्मरणादि गुणों द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है।⁶⁹ षड्दर्शन समुच्चय की टीका में गुणरत्न सूरि ने भी ज्ञान गुण के द्वारा आत्मद्रव्य की सत्ता सिद्ध की है।⁷⁰ अमृतचन्द्र सूरि, मल्लिषेण सूरि, प्रभाचन्द्राचार्य आदि आचार्यों ने भी ज्ञान को आत्मा का असाधारण गुण मानकर उसके गुणी के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध की है।⁷¹

11. इन्द्रियों के रूप में

न्याय-वैशेषिकादि भारतीय दार्शनिकों की तरह जिनभद्रगणि ने इन्द्रियों के अधिष्ठाता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि इन्द्रियां करण हैं। इसलिए इनका कोई अधिष्ठाता उसी प्रकार होना चाहिए जैसे दंडादि करणों का अधिष्ठाता कुम्भकार होता है। जिसका कोई अधिष्ठाता नहीं होता है, आकाश की तरह वह करण भी नहीं होता है। इन्द्रियां करण हैं, अतः उनका जो अधिष्ठाता है वही आत्मा है।⁷² प्रभाचन्द्राचार्य एवं गुणरत्न सूरि ने भी इन्द्रियों को वसूला आदि की तरह मानकर उनके प्रेरक के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध की है।⁷³

12. शरीर के कर्ता के रूप में

जिनभद्रगणि ने शरीर के कर्ता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि विद्यमान शरीर घड़े की तरह सादि एवं नियत शरीर वाला है, अतः घड़े के कर्ता की तरह देह का कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए। जिसका कोई कर्ता नहीं होता है उसका कोई सादि एवं निश्चित आकार भी नहीं होता है। जैसे बादल है। बादल सादि एवं निश्चित आकार वाला नहीं है, अतः उसका कोई कर्ता नहीं है। शरीर के नियत आकारवान् एवं सादि होने से सिद्ध है कि इसका कोई बनाने वाला है और जो इनका कर्ता है वही आत्मा है।⁷⁴ मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी में और षड्दर्शन समुच्चय में गुणरत्न सूरि ने भी आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के लिए यह तर्क दिया है।⁷⁵

13. आदाता के रूप में

जिनभद्रगणि ने आत्मा की सिद्धि के लिए एक यह भी तर्क दिया है कि इन्द्रिय और विषयों में ग्राहक-ग्राह्य भाव सम्बन्ध है, इनका कोई ग्रहण करने वाला भी होना चाहिए, क्योंकि जहां आदान-आदेय भाव होता है वहां उसका आदाता भी होता है। उदाहरणार्थ संडासी और लोहे में आदान-आदेय सम्बन्ध है और उसको ग्रहण करने वाला लुहार होता है। इसी प्रकार इन्द्रिय और विषय में आदान-आदेय सम्बन्ध होने से उनके आदाता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है।⁷⁶

14. शरीरादि के भोक्ता के रूप में

शरीरादि के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए जिनभद्रगणि ने कहा कि जिस प्रकार भोजन एवं वस्त्रादि पदार्थ भोग्य होने से पुरुष

उनका भोक्ता होता है, उसी प्रकार देहादि भोजनादि की तरह भोग्य होने से इनका कोई भोक्ता अवश्य होना चाहिए क्योंकि भोग्य पदार्थ स्वयं अपने भोक्ता नहीं होते हैं। अतः देहादि का जो भोक्ता है वही आत्मा है।⁷⁷ विद्यानंद एवं गुणरत्न सूरि ने भी इसी तर्क का उपयोग किया है।⁷⁸

15. देहादि संघातों के स्वामी के रूप में

आचार्य जिनभद्रगणि ने सांख्य दार्शनिकों की तरह एक यह भी तर्क दिया है कि शरीरादि का कोई स्वामी अवश्य होना चाहिए क्योंकि ये संघात रूप होता है। जैसे कोई मकान संघात रूप है इसलिए गृहपति उसका स्वामी होता है। इसी प्रकार देहादि संघात रूप वस्तुओं के विद्यमान होने से उनके स्वामी का अनुमान होता है। जो इनका स्वामी है, वही आत्मा है।⁷⁹

16. व्युत्पत्तिमूलक हेतु द्वारा

जिनभद्रगणि ने व्युत्पत्तिमूलक हेतु के द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करते हुए कहा है कि जीव पद, घट पद के समान व्युत्पत्तियुक्त शुद्ध पद होने के कारण सार्थक होना चाहिए। जो पद सार्थक नहीं होता है वह व्युत्पत्तिमूलक शुद्ध पद भी नहीं होता है। उदाहरणार्थ डित्थ, खरविषाणादि सार्थक न होने से व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद भी नहीं है। जीव पद व्युत्पत्तितया शुद्ध है, अतः उसका अर्थ अवश्य होना चाहिए। जीव पद का अर्थ शरीरादि से भिन्न जन्तु, प्राणी, सत्त्व, आत्मा आदि है। अतः सिद्ध है कि आत्मा की सत्ता है।⁸⁰ आचार्य विद्यानन्द एवं मल्लिषेण ने भी जीव शब्द के वाच्य के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है।⁸¹ इन आचार्यों के अतिरिक्त हरिभद्राचार्य ने शास्त्रवार्ता समुच्चय में, आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्री में, आचार्य वादीभसिंह ने, आचार्य प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र में एवं आचार्य मल्लिषेण सूरि ने स्याद्वादमंजरी में आत्मास्तित्व सिद्धि के तर्कों को प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार समस्त जैन दार्शनिकों ने बहुमुखी सबल, अबाध्य एवं निर्दोष युक्तियों द्वारा अनात्मवादियों के तर्कों का निराकरण करके सिद्ध कर दिया कि शरीरादि से भिन्न आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता वास्तविक है, काल्पनिक नहीं। वैदिक और जैन दार्शनिकों ने आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये हैं उनमें केवल शाब्दिक भेद है, वास्तविक नहीं। पारमार्थिक या अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अर्थात् केवलज्ञान,

मनःपर्यवज्ञान और अवधिज्ञान द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष सिद्ध करना जैन दार्शनिकों की अपनी मौलिक विशेषता है। इस प्रकार अस्तित्ववादी चिन्तनसरणि से आत्मास्तित्व सिद्ध होता है।

मूल्यात्मक चिन्तनसरणि और आत्मा

मूल्य शब्द की धातु पर विचार करने पर यह बात सामने आई कि मूल्य शब्द 'मूल प्रतिष्ठायाम्' धातु से यत् प्रत्यय करने पर बना है। जिसका शाब्दिक अर्थ है जो प्रतिष्ठा का कारक हो, जो उत्कृष्ट संस्कारों को प्रतिष्ठित कर दे, वह मूल्य है। उत्कृष्ट पथ पर ले जाने वाली, उच्च संस्कारों में प्रतिष्ठित करने वाली प्रविधियां मूल्य कहलाती हैं। अतः मूल्य शब्द आज बहुत मूल्यवान् बन गया है। भारतीय दर्शन, भारतीय संस्कृति में मूल्य की अवधारणा बहुत प्राचीन है। मूल्य शब्द का प्रयोग वहां भले ही न हुआ हो, पर मूल्य उसके शब्द-शब्द में बसा है। आज जो यह अवधारणा है कि मूल्य नवीन शब्द है एवं पाश्चात्य दर्शन से यह शुरु हुआ तो यह अवधारणा मुझे ठीक नहीं लगती। भारतीय दर्शन को गहराई से पढ़ा जाए तो हमें मालूम होगा कि वह तो मूल्य पर ही टिका है। प्रत्येक प्रकार के मूल्य की वहां चर्चा मिलती है। भारतीय दर्शन, साहित्य, संस्कृति में सब कुछ है। इसे सभी दृष्टियों से परिपूर्ण कहा जा सकता है। जो यह स्वर सुनाई देता है कि अच्छी बातें पश्चिम से भी ग्रहण कर ली जाए तो मेरा इस विषय में मानना है कि भारत में वह सब कुछ है जो हमें ग्रहण करना चाहिए। आवश्यकता है गहरे अध्ययन, मनन, निदिध्यासन की व प्रतिभाओं को उभारने की। यह सब होने पर हमें हमारे भारत में वह सब मिलेगा जो हमें आवश्यक है। अतः मूल्य शब्द हमारे यहां प्राचीन समय से ही है। भारतीय दर्शन तत्त्वज्ञान के सम्प्रदायों में विभक्त है और तत्त्वज्ञान के प्रायः दो ही विभाग मिलते हैं—अध्यात्म विद्या और न्याय विद्या, जिसे आन्वीक्षिकी अथवा तर्कशास्त्र भी कहते हैं। अध्यात्म विद्या में परमार्थ की व्याख्या की गई है। आत्मतत्त्व का चिन्तन भी इसी के अन्तर्गत आ जाता है।

ज्ञान और कर्म का जब सहज सामरस्य था, जिसमें जीवन का स्वीकार, ज्ञान की प्रगतिशील खोज एवं ऋतानुकूल श्रेयोभीप्सा समन्वित रूप में सार्थकता लाभ करते थे, वह उत्तर वैदिक काल में भंग हो गया। ऋत शब्द अंग्रेजी के Right (ठीक, सीधा) और Rite (कर्म काण्ड) दोनों ही से जुड़ा हुआ है, किन्तु उत्तर वैदिक काल में कर्मकाण्ड को ही

प्रधानता दी जाने लगी। कर्म का नियामक आन्तरिक न होकर बाहरी और आनुष्ठानिक होने लगा। साथ ही नित्य और अनित्य के विवेक के प्रमुखतया लाभ करने के कारण भोगों की असारता और आत्मिक जीवन की पारमार्थिकता का विरोध विचार का विषय बनने लगा। फलतः श्रेयस् और प्रेयस् का भेद आध्यात्मिक आचार दर्शन के मूल मन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

मूल्य के दो रूप हैं—ईश्वर रूप पारमार्थिक सत् और सुखात्मक मानव हित। मानव हित के भी दो रूप हैं प्राकृत और अप्राकृत। प्राकृत मानव हित बुद्धि संगत जीवन की नैतिकता और दार्शनिकता के द्वारा इस जीवन में प्राप्य सुख में चरितार्थ होता है, अप्राकृत मानव हित स्वर्ग में। आत्मा अपने आपमें प्रशस्ततम है और मनुष्य की संरचना इस प्रकार की है कि उसके हृदय की प्यास आत्म-दर्शन से ही बुझ सकती है, किन्तु मनुष्य की प्राकृत बुद्धि आत्मा का अनुमान ही कर सकती है। उसका स्वरूप ज्ञान अथवा साक्षात्कार नहीं। मूल्य के बहुत प्रकार हो सकते हैं जैसे—व्यावहारिक मूल्य, सात्त्विक मूल्य और नैतिक मूल्य, आदर्श मूल्य, पारमार्थिक मूल्य आदि।

मूल्य का अर्थ साध्य भी हो सकता है जब हम किसी घोड़े को श्रेष्ठ घोड़ा कहते हैं तो श्रेष्ठता से हमारा तात्पर्य 'जातीय विशेषता का उत्कर्ष' होता है। जब हम किसी मरियल टट्टू को विदूषक की अच्छी सवारी कहते हैं तो अच्छाई से हमारा तात्पर्य प्रयोजनानुकूलता से है। इस प्रकार मूल्य के तीन अर्थ किये जा सकते हैं—स्वाभाविक उत्कर्ष, उपयुक्तता एवं साध्यता। इनमें से यदि पहले अर्थ को आत्माश्रयी समझकर लक्षण के बाहर रख दिया जाए तो शेष दो अर्थों में इच्छा और ज्ञान दोनों की ही विषयता प्राप्त होती है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक जिस विषय को हम पाना चाहते हैं, उसे मूल्यवान् मानते हैं। साध्य के प्रत्यय में योग्यता, औचित्य, प्राशस्त्य और परत्व या उत्कर्ष के प्रत्यय अन्तर्भूत हैं। साध्य में एषणा और प्राप्ति का विषय बनने की योग्यता होनी चाहिए। अतः इस दृष्टि से देखें तो आत्मा ही साध्य है और वही मूल्य है।

मूल्यवान् पदार्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह चेतना का सम्भव विषय हो। आत्मसत्ता या चेतना स्वयं एक मूल्यवान् विषय है। आत्मबोध में भी गहराई, सच्चाई की खोज या विवेक रहता है। आत्मिक मूल्य की खोज में आत्मविषयभूत मूल्यों की पहचान अन्तर्भूत होती है।

क्योंकि जहां तक आत्मसत्ता एक एषणात्मक क्रियाशील चेतना है, उसका मूल्य उसके प्रयोजनीय विषयों से पृथक् नहीं किया जा सकता।

मूल्यज्ञान एक अनन्तशोध्य ज्ञान है। उसके विषय का प्रत्यय एक सम्पूर्णता का प्रत्यय है। यह खोज सीमित विषयों के अनन्त रूपों, गुणों और सम्बन्धों में भटक कर पूरी नहीं हो सकती। यह खोज तो अनन्त ज्ञान-दर्शनमय, आनन्दस्वरूप, शक्तिस्वरूप आत्मा को प्राप्त करके ही पूरी हो सकेगी। मूल्य पुरुषार्थ है न कि पदार्थ। न वे प्रत्यक्षवादी के इन्द्रिय-संवेद्य भोग- पदार्थ हैं, न बुद्धिवादी के प्रमेयतत्त्व। पुरुष में कोई वास्तविक अभाव नहीं है जिसकी पूर्ति के लिए उसे अपने अतिरिक्त कोई अर्थ अपेक्षित हो। न पुरुष से श्रेष्ठ कोई तत्त्व है जो पुरुष के लिए उपास्य हो—पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि।⁸² सभी आगमों में एक ही स्वर मुखरित हुआ है कि तुम स्वयं अनन्त शक्ति के भण्डार हो, तुम ही स्वयं परमात्मा बन सकते हो। तुम ही अरहंत हो, सिद्ध हो आदि सभी उद्घोषणाएं आत्मा के सम्बन्ध में ही की गई हैं।

मूल्यात्मक चिंतनसरणि और आत्मा—इस बिन्दु के निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सारे मूल्य आत्मा की परिक्रमा करते हैं। सभी का लक्ष्य आत्मा की प्राप्ति का है। आत्मा सर्वश्रेष्ठ मूल्य है। चाहे कोई स्पष्ट रूप से आत्मा को स्वीकार करे या न करे, पर चरम लक्ष्य सबका वही है—आत्मा कहें या परमात्मा। जैन दर्शन का तो साध्य ही आत्मा है और वही साधन-संपिक्खई अप्पगमप्पएण।⁸³ इस प्रकार आज सर्वाधिक चर्चा मूल्य की ही है। यदि जैन दर्शन के आत्मतत्त्व को समझ लें तो मूल्य की अवधारणा स्पष्ट हो जाती है।

आत्मनिरूपण में अनेकान्तदृष्टि

भगवान् महावीर ने प्राचीन तत्त्व-व्यवस्था में नया क्या प्रदान किया, इसे जानने के लिए आगमों से बढ़कर हमारे पास कोई साधन नहीं है। जीव और अजीव के भेदोपभेदों के विषय में, मोक्षलक्षी आध्यात्मिक उत्क्रान्तिक्रम के सोपानरूप गुणस्थान के विषयमें, लोकरचना के विषय में, चार प्रकार के ध्यान के विषय में या कर्मशास्त्र के सूक्ष्म निरूपण में भगवान् महावीर ने कोई नया मार्ग अगर दिखाया है तो आगमों के अध्ययन से यह ज्ञात होगा। किन्तु तत्कालीन क्षेत्र में तत्त्व के स्वरूप के विषय में नये-नये प्रश्न उठते रहते थे, उनका जो स्पष्टीकरण

भगवान् महावीर ने तत्कालीन अन्य दार्शनिकों के विचार के प्रकाश में किया है, वही उनकी दार्शनिक क्षेत्र में देन समझनी चाहिए। ईसा के बाद होने वाले जैन दार्शनिकों ने जैन तत्त्व विचार को अनेकान्तवाद के नाम से प्रतिपादित किया है और भगवान् महावीर को इस वाद का उपदेशक बताया है।⁸⁴ भगवान् महावीर को केवलज्ञान होने के पहले जिन दस महास्वप्नों का दर्शन हुआ था, उनका उल्लेख भगवती सूत्र में आया है।⁸⁵ उनका तीसरा स्वप्न इस प्रकार है, जिसका अर्थ है—एक चित्र-विचित्र बड़े पांख वाले पुंस्कोकिल को स्वप्न में देखकर वे प्रतिबुद्ध हुए। यह चित्र-विचित्र शब्द ध्यान देने योग्य है। इससे अनेकरंगी-अनेकान्तवाद की सिद्धि होती है।

जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु के निरूपण में अनेकान्त का प्रयोग करता है। आचार्य समन्तभद्र ने अनेकान्त की व्याख्या अनेकान्तदृष्टि से की है। अखंड वस्तु के बोध और प्रतिपादन के लिए जहां स्याद्वाद प्रमाण का उपयोग किया जाता है, वहां अनेकान्त अपेक्षित है और उसके एक धर्म और बोध के प्रतिपादन के लिए नय का उपयोग किया जाता है, वहां एकान्त भी अपेक्षित है। अनेकान्तवादी को एकान्त व अनेकान्त दोनों मान्य हैं, इसलिए अनेकान्त की सप्तभंगी हो सकती है—⁸⁶

1. स्यात् एकान्तः— कथंचित् एकान्त है।
2. स्यात् अनेकान्तः— कथंचित् अनेकान्त है।
3. स्यात् उभयः— कथंचित् दोनों हैं।
4. स्यात् अवक्तव्यः— कथंचित् अवक्तव्य है।
5. स्यात् एकान्तश्च अवक्तव्यश्च— कथंचित् एकान्त है और अवक्तव्य है।
6. स्यात् अनेकान्तश्च अवक्तव्यश्च — कथंचित् अनेकान्त है और अवक्तव्य है।
7. स्यात् एकान्तश्च अनेकान्तश्च अवक्तव्यश्च — कथंचित् एकान्त है, अनेकान्त है, अवक्तव्य है।

हमारा एकान्त से विरोध नहीं है। हम उस एकान्त को अस्वीकार करते हैं, जो मिथ्या है—दूसरे नय के मत का खंडन करता है। इस आधार पर एकान्त के दो भेद होते हैं—सम्यक् एकान्त, मिथ्या एकान्त। सम्यक् एकान्त नय है और मिथ्या एकान्त दुर्नय। अनेकान्त से हमारा

कोई गठबंधन नहीं है। हम उस अनेकान्त को भी स्वीकार नहीं करते जो एक वस्तु में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरुद्ध अनेक धर्मों की कल्पना करता है। इस आधार पर अनेकान्त के भी दो भेद होते हैं—सम्यग् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। सम्यक् अनेकान्त प्रमाण है और मिथ्या अनेकान्त प्रमाणाभास है।⁸⁷

जैन दर्शन में आत्मा का भी अनेकान्त की दृष्टि से निरूपण हुआ है। भगवती सूत्र में इसके अनेकों उदाहरण मिलते हैं। वहां जीव शब्द का प्रयोग किया गया है।

जीव-शरीर का भेदाभेद

जीव और शरीर का भेद है या अभेद—इस विषय में मन्तव्य इस प्रकार है—

“आया भन्ते!, काये अन्ने काये?”

“गोयमा, आयावि काये अन्नेवि काये।”

“रूविं भन्ते! काये अरूविं काये?”

“गोयमा, रूविं वि काये अरूविं वि काये।”

“एवं एक्केक्के पुच्छा।”

“गोयमा सच्चित्ते वि काये अच्चित्ते वि काये।”⁸⁸

उपर्युक्त संवाद से स्पष्ट है कि भगवान् महावीर ने गौतम के प्रश्न के उत्तर में आत्मा को शरीर से अभिन्न भी कहा है और उससे भिन्न भी कहा है। ऐसा कहने पर दो और प्रश्न उपस्थित होते हैं कि शरीर आत्मा से अभिन्न है तो आत्मा की तरह यह अरूपी भी होना चाहिए और अचेतन भी। इन प्रश्नों का उत्तर भी स्पष्ट रूप से दिया गया है कि काय अर्थात् शरीर रूपी भी है और अरूपी भी। शरीर सचेतन भी है और अचेतन भी है।

जब शरीर को आत्मा से पृथक् माना जाता है, तब वह रूपी और अचेतन है और जब शरीर को आत्मा से अभिन्न माना जाता है, तब शरीर अरूपी और सचेतन है।

भगवान् बुद्ध के मत से यदि शरीर को आत्मा से भिन्न माना जाए तब ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं और यदि अभिन्न माना जाए तब भी ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं। अतएव इन दोनों अन्तों को छोड़कर भगवान् ने मध्यममार्ग का उपदेश दिया और शरीर के भेदाभेद के प्रश्न को अव्याकृत बताया।⁸⁹

किन्तु भगवान् महावीर ने इस विषय में अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर उपर्युक्त दोनों विरोधी वादों का समन्वय किया। एकान्त भेद और अभेद मानने पर जो दोष होते हैं, वे उभयवाद मानने पर नहीं होते। जीव और शरीर का भेद इसलिए मानना चाहिए कि शरीर का नाश हो जाने पर भी आत्मा दूसरे जन्म में मौजूद रहती है या सिद्धावस्था में अशरीरी आत्मा भी होती है। अभेद इसलिए मानना चाहिए कि संसारावस्था में शरीर और आत्मा का क्षीर-नीरवत् या अग्नि-लोहपिण्डवत् तादात्म्य होता है। इसीलिए काय से किसी वस्तु का स्पर्श होने पर आत्मा में संवेदन होता है और कायिक कर्म का विपाक आत्मा में होता है। भगवती सूत्र में जीव के परिणाम दस गिनाए हैं यथा गति-परिणाम, इन्द्रिय-परिणाम, कषाय-परिणाम, लेश्या-परिणाम, योग-परिणाम, उपयोग-परिणाम, ज्ञान-परिणाम, चारित्र-परिणाम और वेद-परिणाम।⁹⁰

जीव और काय का यदि अभेद माना जाए तो इन परिणामों को जीव के परिणामस्वरूप से नहीं गिनाया जा सकता। इसी प्रकार भगवती में⁹¹ जो जीव के परिणाम रूप से वर्ण, गन्ध, स्पर्श का निर्देश है, वह भी जीव और शरीर के अभेद को मानकर ही घटाया जा सकता है।

अन्यत्र जीव के कृष्णवर्ण पर्याय का भी निर्देश है।⁹² ये सभी निर्देश जीव-शरीर के अभेद की मान्यता पर निर्भर है।

इसी प्रकार आचारांग में जो सव्ये सरा.....आदि निर्देश हैं,⁹³ वह भी संगत नहीं हो सकता यदि आत्मा शरीर से भिन्न न माना जाए। शरीर भिन्न आत्मा को लक्ष्य करके स्पष्ट रूप से भगवान् ने कहा है कि उसमें वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श नहीं होते।⁹⁴ चार्वाक शरीर को ही आत्मा मानता था और औपनिषद ऋषिगण आत्मा को शरीर से अत्यन्त भिन्न मानते थे। भगवान् बुद्ध को इन दोनों मतों में दोष नजर आया, किन्तु वे विधि रूप से समन्वय न कर सके। जबकि भगवान् महावीर ने इन दोनों मतों का समन्वय उपर्युक्त प्रकार से भेद और अभेद दोनों पक्षों का स्वीकार कर के किया।

जीव की नित्यानित्यता

मृत्यु के बाद तथागत होते हैं कि नहीं इस प्रश्न को भगवान् बुद्ध ने अव्याकृत कोटि में रखा है, क्योंकि ऐसा प्रश्न और उसका उत्तर सार्थक नहीं, आदि ब्रह्मचर्य के लिए नहीं, निर्वेद, निरोध, अभिज्ञा,

संबोध और निर्वाण के लिए भी नहीं।⁹⁵ उन्होंने कहा कि आत्मा के अस्तित्व, नास्तित्व, नित्य, ध्रुव, आदि प्रश्नों को छोड़कर दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोध का मार्ग—इन चार आर्यसत्त्यों के विषय में ही मन लगाना चाहिए। उसी से आस्रव निरोध होकर निर्वाण लाभ होता है।⁹⁶

भगवान् बुद्ध के इन उपदेशों के विपरीत भगवान् महावीर का उपदेश है। इस बात की प्रतीति प्रथम अंग आचारांग के प्रथम वाक्य से ही हो जाती है।⁹⁷ भगवान् महावीर के मत से जब तक अपनी या दूसरे की बुद्धि से यह पता न लग जाए कि मैं या मेरा जीव एक गति से दूसरी गति को प्राप्त होता है, जीव कहां से आया, कौन था और कहां जाएगा?—तब तक कोई जीव आत्मवादी नहीं हो सकता, लोकवादी नहीं हो सकता, कर्म और क्रियावादी नहीं हो सकता। अतएव आत्मा के विषय में विचार करना, यही संवर और मोक्ष का भी कारण है।

आत्मा की नित्यानित्यता के प्रश्न के उत्तर में भगवान् बुद्ध को शाश्वतवाद या उच्छेदवाद में पड़ जाने का डर था, इसलिए उन्होंने इस प्रश्न को अव्याकृत कोटि में रखा है जब कि भगवान् महावीर ने दोनोंवादों का समन्वय स्पष्ट रूप से किया है। भगवान् महावीर ने जीव को अपेक्षा भेद से शाश्वत और अशाश्वत बताया है। इसकी स्पष्टता निम्न संवाद से हो जाती है—

“जीवो णं भन्ते! किं सासया असासया?”

“गोयमा! जीवा सिय सासया सिय असासया। गोयमा! दव्वट्टयाए सासया भावट्टणाए असासया।”⁹⁸

स्पष्ट है कि द्रव्यार्थिक अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से जीव नित्य है और भाव की अपेक्षा से जीव अनित्य है। चेतन-जीव द्रव्य का विच्छेद कभी नहीं होता, इस दृष्टि से जीव को नित्य मान कर के शाश्वतवाद को प्रश्रय दिया है और जीव की नाना अवस्थाएं जो स्पष्ट रूप से विच्छिन्न होती हुई देखी जाती हैं, उनकी दृष्टि से उच्छेदवाद को भी प्रश्रय दिया है। अवस्थाएं अस्थिर हैं, इसलिए उनका परिवर्तन होता है किन्तु चेतन द्रव्य शाश्वत स्थिर है। जीवगत बालत्व-पाण्डित्यादि अस्थिर धर्मों का परिवर्तन होगा, तब भी जीव द्रव्य तो शाश्वत ही रहेगा।

“से नूणं भन्ते! अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ, अथिरे भज्जइ नो थिरे भज्जइ, सासए बालए बालियत्तं असासयं सासए पंडिए पंडियत्तं असासयं?”

“हंता गोयमा! अथिरे पलोदृइ, जाव पंडियत्तं असासयं।”

द्रव्यार्थिक नय का दूसरा नाम अव्युच्छित्ति नय है और भावार्थिकनय का दूसरा नाम व्युच्छित्ति नय है। इससे भी यही फलित होता है कि द्रव्य अविच्छिन्न ध्रुव शाश्वत होता है और पर्याय का विच्छेद होता है। अतएव वह अध्रुव, अनित्य, अशाश्वत है। जीव और उसके पर्याय का अर्थात् द्रव्य और पर्याय का परस्पर अभेद और भेद भी इष्ट है। इसीलिए जीव द्रव्य को जैसे शाश्वत और अशाश्वत बताया, इसी प्रकार जीव के नारक, वैमानिक आदि विभिन्न पर्यायों को भी शाश्वत बताया है और अशाश्वत भी। इनकी नित्यतानित्यता का उदाहरण दर्शनीय है—

“नेरइया णं भंते! किं सासया असासया?”

“गोयमा! सिय सासया सिय असासया।”

“से केणट्टेण भंते! एवं वुच्छइ।”

“गोयमा! अव्वोच्छित्तिणयट्टयाए सासया, वोच्छित्तिणयट्टयाए असासया।” एवं जाव वेमाणिया।⁹⁹

जमाली के साथ हुए प्रश्नोत्तरों में भगवान् ने जीव की शाश्वतता के मन्तव्य का जो स्पष्टीकरण किया है, उससे नित्यता से उनका क्या मतलब है व अनित्यता से क्या मतलब है यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। वह इस प्रकार है—

“सासए जीवे जमाली, जं न कयाइ णासी, णो कयावि न भवति, ण कयावि ण भविस्सइ, भुविं च भवइ य भविस्सइ य, ध्रुवे णित्तिए सासए, अक्खए, अव्वए अवट्टिए णिच्चे। असासए जीवे जमाली, जन्नं नेरइए भवित्ता तिरिक्खजोणिए भवइ भवित्ता मणुस्से भवइ मणुस्से भवित्ता देवे भवई।”¹⁰⁰

तीनों काल में ऐसा कोई समय नहीं जब जीव न हो। इसीलिए जीव शाश्वत, ध्रुव एवं नित्य कहा जाता है। किन्तु जीव नारक मिटकर तिर्यच होता है, तिर्यच मिटकर मनुष्य होता है—इस प्रकार जीव क्रमशः नाना अवस्थाओं को प्राप्त होता है। अतएव उन अवस्थाओं की अपेक्षा से जीव अनित्य, अशाश्वत, अध्रुव है। इसीलिए जीव शाश्वत और अशाश्वत है।

इस व्याकरण में औपनिषदिक ऋषि सम्मत आत्मा की नित्यता और भौतिकवादी सम्मत आत्मा की अनित्यता के समन्वय का सफल प्रयत्न हुआ है।

जीव की सान्ता-अनन्ता

इस विषय में भी भगवान् का मन्तव्य स्पष्ट है। स्कंदक परिव्राजक का मनोगत प्रश्न जीव की सान्ता-अनन्ता के विषय में था, उनका निराकरण भगवान् महावीर ने जिन शब्दों में किया है¹⁰¹ उनका सारांश यह है कि एक जीव व्यक्ति—

द्रव्य से सान्त।

क्षेत्र से सान्त।

काल से अनन्त

और भाव से अनन्त है।

इस प्रकार जीव सान्त भी है और अनन्त भी। इसमें काल की दृष्टि से और पर्यायों की अपेक्षा से उसका कोई अन्त नहीं है। किन्तु वह द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से सान्त है। यह कह कर भगवान् महावीर ने 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इस औपनिषद मत का निराकरण किया है। क्षेत्र की दृष्टि से व्यापकता भगवान् का मन्तव्य नहीं और एक आत्मद्रव्य ही सब कुछ है यह भी महावीर को मान्य नहीं। किन्तु आत्मद्रव्य और उसका क्षेत्र भी मर्यादित है इस बात को स्वीकार करके उन्होंने उसे सांत कहते हुए काल की दृष्टि से अनन्त भी कहा है और एक दूसरी दृष्टि से भी उन्होंने उसे अनन्त कहा है—जीव के ज्ञान-पर्यायों का कोई अन्त नहीं। क्योंकि प्रत्येक क्षण में इन पर्यायों का नया-नया आविर्भाव होता रहता है। उसके दर्शन और चारित्र पर्यायों का भी कोई अन्त नहीं। क्योंकि प्रत्येक क्षण में इन पर्यायों का नया-नया आविर्भाव होता रहता है और पूर्व पर्याय नष्ट होते रहते हैं। इस भाव-पर्याय दृष्टि से भी जीव अनन्त है।

इस प्रकार आत्मनिरूपण में अनेकान्तदृष्टि का स्वर भगवतीसूत्र में मुखर हुआ है। सभी धर्मों का समन्वय करने वाला अनेकान्त का सिद्धान्त आत्मा के निरूपण में किस प्रकार अपनी बात प्रस्तुत करता है, यह उपर्युक्त बातों से स्पष्ट हो जाता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. ऋग्वेद, 1. 164. 37
2. Outlines of Indian Philosophy, P. 80; History of Indian Philosophy, P. 82

3. श्वेताश्वतरोपनिषद्
4. पंचम कर्मग्रंथ, 15 से तत्त्वार्थ, 8. 21; बृहदारण्यकोपनिषद्, 3. 2. 13, प्रश्नोपनिषद्, 3.7; सांख्यकारिका, 44; विसुद्धिमग्ग, 17. 88; योगसूत्र, 2.14, योगभाष्य, 2.12; न्यायमंजरी, पृ. 472, प्रशस्तपाद, पृ. 637, 643
5. योगदर्शन, 4. 7; दीघनिकाय, 3. 1. 2; बुद्धचर्या, पृ. 496; अभिधम्मत्थ संग्रह, 5. 19; विसुद्धिमग्ग, 19. 14-16
6. कर्मग्रंथ, 1-6, गोम्मटसार—कर्मकांड
7. ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, 2
8. गीता, 6. 34
9. ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, 5
10. वही
11. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 3059—3064
12. वही, गा. 1762—1768
13. धम्मपद, गा. 1
14. भगवती, 1. 3. 27-37
15. पंचास्तिकाय, गा. 64, तत्त्वार्थराजवार्तिक, 6. 2. 51
16. सूत्रकृतांग, 1. 2. 6
17. वही, 1. 5. 2. 23
18. उत्तराध्ययन, 13. 23, भगवती
19. उत्तराध्ययन, 4. 2
20. अष्टसहस्री, 88, वही, पृ. 165, वही, पृ. 181, अमरकोष, 3. 4. 8
21. ऋग्वेद, 10. 16. 3
22. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4. 4. 3-5, कठोपनिषद्, 2. 5. 7, छांदोग्योपनिषद्, 5. 10. 7, कौषीतकी उपनिषद्, 1. 2
23. भगवद्गीता, 2. 13, 22, 27, 4. 5, 7. 19, 8. 23, 9. 21
24. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ. 478, मज्झिमनिकाय, 3. 4. 5, मज्झिमनिकाय का तेविज्जवच्छगोत्तसुत्त, बोधिराजकुमारसुत्त और अंगुत्तरनिकाय का वेरंजक ब्राह्मणसुत्त, थेरीगाथा 400—447, दीघनिकाय, 2. 3
25. वैशेषिक सूत्र, 6. 2. 14, न्यायसूत्र, 1. 1. 2
26. सांख्यसूत्र, 6. 41, वही, 6. 16, सांख्यसूत्र प्रवचनभाष्य, 6. 9, सांख्यकारिका, 40, 42
27. मीमांसादर्शन, तंत्रवार्तिक, पृ. 395, शांकरभाष्य, 3. 2. 40
28. योगदर्शन व्यासभाष्य, 2. 9, 4. 10, पातंजलयोगदर्शन, 2. 12, 3. 18, योगदर्शन व्यासभाष्य, 2. 12
29. बाइबिल, 3. 3—7
30. समयसार, गा. 160

31. आचारांग, 1. 1. 1. 1—2
32. कल्पसूत्र, भगवान् महावीर का पंच कल्याणक वर्णन
33. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित (पार्श्वनाथ चरित), 9. 3
34. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व 8
35. वही, पर्व 1. 3. 15, 3. 18, ज्ञाताधर्मकथा, 8
36. उत्तराध्ययनसूत्र, 9. 1, 2
37. वही, 13. 19
38. वही, 14. 5—7
39. वही, 18. 17
40. वही, 18. 19
41. विपाकसूत्र
42. समराइच्चकहा, सोलह सती, जैन कथाएं
43. आयारो, 1. 1. 1. 5
44. आयारो, 1. 3. 3. 40
45. सूत्रकृतांग, 1. 5. 2. 23
46. आयारो, 1. 3. 3. 400
47. आचारांग निर्युक्ति, गा. 66
48. वही
49. सर्वार्थसिद्धि, 5. 19, पृ. 288
50. तत्त्वार्थवार्तिक, 5. 11. 38
51. स्याद्वादमंजरी, का. 17, पृ. 174
52. तत्त्वार्थवार्तिक, अकलंकदेव, 2. 8. 18, पृ. 121
53. वही, 2. 8. 18, पृ. 121
54. पंचास्तिकाय, गा. 15, प्रवचनसार, गा. 10 एवं 18 की तात्पर्यवृत्ति टीका
55. तत्त्वार्थवार्तिक, 2. 8. 18, पृ. 121
56. (क) प्रवचनसार, गा. 58
(ख) न्यायदीपिका, पृ. 26
57. वही
58. तत्त्वार्थवार्तिक, 2. 8. 18, पृ. 123
59. प्रवचनसार, गा. 58
60. तत्त्वार्थवार्तिक, 2. 8. 18, पृ. 122
61. वही
62. तत्त्वार्थवार्तिक, 2. 8. 19, पृ. 122
63. स्याद्वादमंजरी, का. 17, पृ. 173
64. तत्त्वार्थवार्तिक, 2. 8. 20, पृ. 123
65. विशेषावश्यकभाष्य, गणधरवाद, गा. 1556, 1554
66. तत्त्वार्थवार्तिक, भट्ट, 2. 8. 20, पृ. 123

67. न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रयी, पृ. 64
68. वही, 2. 249
69. प्रमेयरत्नमाला, अनन्तवीर्य, पृ. 296
70. विशेषावश्यकभाष्य, गणधरवाद, गा. 1558—60
71. षड्दर्शनसमुच्चयटीका, पृ. 230
72. समयसार, आत्मख्याति टीका, परिशिष्ट, पृ. 554—555
73. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 1567
74. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. 349
75. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 1567
76. (क) स्याद्वादमंजरी, का. 17, पृ. 174
(ख) षड्दर्शनसमुच्चय, पृ. 228
77. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 1568
78. वही, गा. 1569
79. षड्दर्शनसमुच्चय, टीका पृ. 229
80. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 1569
81. वही, गा. 1571—75
82. (क) सत्यशास्त्र परीक्षा, पृ. 25
(ख) स्याद्वादमंजरी, का. 17, पृ. 174
83. आचारांग सूत्र
84. दसवैकालिक, बिड़िया चूलिया, श्लोक 12
85. लघीयस्त्रयी, का. 50
86. भगवती, शतक 16, उद्देशक 6
87. जैन न्याय का विकास, पृ. 78
88. तत्त्वार्थवार्तिक, 1. 6
89. भगवती सूत्र, 13. 7. 495
90. संयुक्त x11 135
91. भगवती, 14. 4. 514
92. वही, 12. 5. 451
93. वही, 25. 4
94. आचारांगसूत्र, 21
95. भगवती सूत्र, 17. 2
96. (क) संयुक्त निकाय, xvi 12 ; xx11 86
(ख) मज्झिमनिकाय, चूलमालुक्क्यसुत्त 63
97. मज्झिमनिकाय, सब्वासवसुत्त 2
98. आचारांगसूत्र, 1. 1. 1
99. भगवती सूत्र, 7. 2. 273
100. वही, 7. 3. 279
101. वही, 9. 6. 387, 1. 4. 42

तृतीय अध्याय आत्मविषयक आगमिक सन्दर्भ

आगमों का कालक्रम

आगम शब्द का मतलब एक ग्रन्थ नहीं है, किन्तु अनेक व्यक्ति कर्तृक अनेक ग्रन्थों का समुदाय है। अतएव आगम की रचना का कोई एक काल बताया नहीं जा सकता। भगवान् महावीर का उपदेश विक्रम पूर्व 500 वर्ष में शुरु हुआ। अतएव उपलब्ध किसी भी आगम की रचना का उसके पहले होना संभव नहीं है। दूसरी ओर अंतिम वाचना के आधार पर पुस्तक लेखन वल्लभी में विक्रम सं. 510 (मतान्तर से 523) में हुआ। अतएव तदन्तर्गत कोई शास्त्र विक्रम 525 के बाद का नहीं हो सकता। इस मर्यादा को ही ध्यान में रखकर हमें आगमों के कालक्रम पर विचार करना है।

अंग ग्रन्थ गणधर कृत कहे जाते हैं, किन्तु उनमें सभी एक से प्राचीन नहीं हैं। आचारांग के ही प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध परस्पर भाव और भाषा की दृष्टि से भिन्न हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध द्वितीय से ही नहीं किन्तु जैन वाङ्मय में सबसे प्राचीन अंश है। उसमें परिवर्तन और परिवर्धन का सर्वथा निषेध तो नहीं किया जा सकता, किन्तु यह कहा जा सकता है कि उसमें नया सबसे कम मिलाया गया है। वह भगवान् के साक्षात् उपदेश के अत्यन्त निकट कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में उसे विक्रम पूर्व 300 से बाद की संकलना नहीं कह सकते। यह ग्रन्थ प्रथम वाचना की संकलना होने का ही अधिक संभव है। आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध आचार्य भद्रबाहु के बाद की रचना होनी चाहिए, क्योंकि उसमें प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा भिक्षुओं के नियमोपनियमों के वर्णन की विस्तृत भूमिका मिलती है। इसे हम विक्रम पूर्व शताब्दी से पहले की रचना नहीं कह सकते। यही बात हम सभी अन्य अंगों के विषय में सामान्यतः कह सकते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि उसमें

जो कुछ संकलित है, वह इसी शताब्दी का है। विषय वस्तु तो गणधरों की परम्परा से चली आ रही है, वही है। इसका मतलब यह भी नहीं समझना चाहिए कि विक्रम पूर्व दूसरी शताब्दी के बाद इनमें कुछ नया जोड़ा गया है। स्थानांग जैसे अंगग्रन्थों में वीर निर्वाण छठी शताब्दी की घटना का भी उल्लेख आता है, किन्तु इस प्रकार के कुछ अंशों को छोड़कर बाकी सब भाव पुराने ही हैं। भाषा में यत्र-तत्र परिवर्तन संभव हो सकता है। प्रश्नव्याकरण अंग का वर्णन जैसा नन्दी सूत्र में है, उसे देखते हुए उपलब्ध प्रश्नव्याकरण पूरा ही बाद की रचना हो, ऐसा प्रतीत होता है। इतना कहा जा सकता है कि अभयदेव की टीका, जो कि वि. की 12 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखी गई है, से पहले वह कभी का बन चुका था।

अब उपांग के कालक्रम पर विचार करें। प्रज्ञापना का रचनाकाल निश्चित ही है। प्रज्ञापना के कर्ता आर्य श्याम हैं। इनका दूसरा नाम कालकाचार्य है, इनको वीरनिर्वाण सं. 335 में युगप्रधान पद मिला और वे इस पद पर वि. नि. सं. 376 तक बने रहे। इसी काल की रचना प्रज्ञापना है। अतएव यह रचना विक्रम पूर्व 135 से 94 के बीच की होनी चाहिए। शेष उपांगों के कर्ता का कोई पता नहीं। किन्तु इनके कर्ता गणधर तो नहीं माने जाते। ये सब एक ही काल की रचना नहीं हैं। चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति—इन तीन उपांगों का समावेश दिगम्बरों ने दृष्टिवाद के प्रथम भेद परिकर्म में किया है।¹ नन्दीसूत्र में भी इनका नामोल्लेख है। अतएव ये ग्रन्थ श्वेताम्बर दिगम्बर के भेद से प्राचीन होने चाहिए। इनका समय विक्रम सं. के प्रारम्भ से पूर्व नहीं आ सकता। शेष उपांगों के विषय में भी सामान्यतः यही कहा जा सकता है। छेदसूत्र में दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रों की रचना भद्रबाहु ने की है अतएव उनका समय वीरनिर्वाण सं. 170 से पूर्व का नहीं हो सकता। विक्रम सं. 300 के पहले वे बने थे। इनके ऊपर निर्युक्ति, भाष्य टीकाएं आदि बनी हैं। निशीथसूत्र तो आचारांग की चूलिका है, अतएव वह भी प्राचीन है। किन्तु जीतकल्प तो आचार्य जिनभद्र की रचना है। जब पंचकल्प नष्ट हो गया, तब जीतकल्प को स्थान मिला होगा। यही कहना शायद अधिक युक्तिसंगत है कि वह कल्प व्यवहार और निशीथ के सारसंग्रह रूप हैं। इसी आधार पर छेद में स्थान मिला है। महानिशीथ सूत्र में जो उपलब्ध है, वह वही है जिसे

आचार्य हरिभद्र ने नष्ट होते बचाया। अतएव उसका समय भी वही मानना चाहिए जो आचार्य हरिभद्र का है। किन्तु विषय वस्तु तो वास्तव में पुरानी है।

मूलसूत्रों में दशवैकालिक सूत्र आचार्य शय्यम्भव की कृति है। उनको युग प्रधान पद वीर निर्वाण सं. 75 में मिला और वे उस पद पर मृत्यु तक वीर निर्वाण 98 तक बने रहे। दशवैकालिक की रचना विक्रम पूर्व 395 और 372 के बीच हुई है। दशवैकालिक सूत्र के विषय में हम इतना कह सकते हैं कि तद्गत चूलिकाएं सम्भव हैं, बाद में जोड़ी गई हों। इसके अलावा उसमें कोई परिवर्तन या परिवर्धन हुआ हो यह सम्भव नहीं। उत्तराध्ययन किसी एक आचार्य की कृति नहीं और न वह एक काल की कृति है। फिर भी उसे विक्रम पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी का मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं। आवश्यकसूत्र अंगबाह्य होने से गणधरकृत नहीं हो सकता, किन्तु वह समकालीन किसी स्थविर की रचना होनी चाहिए। साधुओं के आचार में नित्योपयोग में आने वाला यह सूत्र है। अतएव इसकी रचना दशवैकालिक से भी पहले मानना चाहिए। अंगों में जहां पठन का जिक्र आता है, वहां सामाझ्याइणि एकादसंगाणि पढ़ने का जिक्र आता है। इससे प्रतीत होता है कि साधुओं को सर्वप्रथम आवश्यक सूत्र पढ़ाया जाता था। इससे यही मानना पड़ता है कि इसकी रचना विक्रम पूर्व 470 से पहले हो चुकी थी। पिण्डनिर्युक्ति—यह दशवैकालिक की निर्युक्ति का अंश है। अतएव वह भद्रबाहु द्वितीय की रचना होने के कारण विक्रम की पांचवीं छठी शताब्दी की कृति होनी चाहिए।

चूलिका सूत्रों में नन्दी सूत्र की रचना तो देववाचक ने की है। अतः उसका समय विक्रम की छठी शताब्दी से पूर्व होना चाहिए। अनुयोगद्वारसूत्र के कर्ता कौन थे यह कहना कठिन है, किन्तु वह आवश्यक सूत्र के बाद बना होगा क्योंकि उसमें उसी सूत्र का अनुयोग किया गया है। बहुत कुछ संभव है कि वह आर्यरक्षित के बाद बना हो या उन्हीं ने बनाया हो। उसकी रचना का काल विक्रम पूर्व तो अवश्य ही है।

आगमों का विषय

जैनागमों में से कुछ आगम तो ऐसे हैं जो जैन आचार से सम्बन्ध रखते हैं। जैसे—आचारांग, दशवैकालिक आदि। कुछ उपदेशात्मक

हैं। जैसे—उत्तराध्ययन, प्रकीर्णक आदि। कुछ तत्कालीन भूगोल और खगोल आदि मान्यताओं का वर्णन करते हैं। जैसे—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि। छेदसूत्रों का प्रधान विषय जैन साधुओं के आचार सम्बन्धी औत्सर्गिक एवं आपवादिक नियमों का वर्णन तथा प्रायश्चित्तों का विधान करना है। कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें जिनमार्ग के अनुयायियों (गृहस्थों) का जीवन दिया गया है। जैसे उपासकदशांग, अनुत्तरोपपातिक-दशा आदि। कुछ में कल्पित कथाएं देकर उपदेश दिया गया है। जैसे—ज्ञातृधर्मकथा आदि। विपाकश्रुत में शुभ और अशुभ कर्मों का विपाक कथाओं द्वारा बताया गया है। भगवती सूत्र में भगवान् महावीर के साथ हुए संवादों का संग्रह है। नाना विषय के प्रश्नोत्तर भगवती में संग्रहीत हैं।

दर्शन के साथ सम्बन्ध रखने वाले आगम मुख्यरूप से ये हैं—सूत्रकृत, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, भगवती, नंदी, स्थानांग, समवायांग और अनुयोगद्वार।

सूत्रकृत में तत्कालीन अन्य दार्शनिक विचारों का निराकरण करके स्वमत की प्ररूपणा की गई है। भूतवादियों का निराकरण करके आत्मा का पृथक् अस्तित्व बतलाया गया है। ब्रह्मवाद के स्थान पर नानात्मवाद स्थिर किया गया है। जीव और शरीर को पृथक् बताया है। कर्म और उसके फल की सत्ता स्थिर की है। जगदुत्पत्ति के विषय में नानावादों का निराकरण करके विश्व को किसी ईश्वर या अन्य किसी व्यक्ति ने नहीं बनाया, वह तो अनादि-अनन्त है, इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है। तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का निराकरण करके विशुद्ध क्रियावाद की स्थापना की गई है।

प्रज्ञापना में जीव के विविध भावों को लेकर विस्तार से विचार किया गया है। राजप्रश्नीय में पार्श्वनाथ की परम्परा में होने वाले केशी श्रमण ने श्रावस्ती के राजा प्रदेशी के प्रश्नों के उत्तर में नास्तिकवाद का निराकरण करके आत्मा और तत्सम्बन्धी अनेक तथ्यों को दृष्टान्त और युक्तिपूर्वक समझाया है।

भगवतीसूत्र के अनेक प्रश्नोत्तरों में नय, प्रमाण आदि अनेक दार्शनिक विचार बिखरे पड़े हैं।

नन्दीसूत्र जैन दृष्टि से ज्ञान के स्वरूप और भेदों का विश्लेषण

करने वाली एक सरल एवं सुन्दर कृति है।

स्थानांग और समवायांग की रचना बौद्धों के अंगुत्तर निकाय के ढंग की है। इन दोनों में भी आत्मा, पुद्गल, ज्ञान, नय और प्रमाण आदि विषयों की चर्चा की गई है। भगवान् महावीर के शासन में होने वाले निह्नवों का उल्लेख स्थानांग में है। इस प्रकार के सात व्यक्ति बताए गए हैं, जिन्होंने कालक्रम से भगवान् महावीर के सिद्धान्तों की भिन्न-भिन्न बात को लेकर अपना मतभेद प्रकट किया था। वे ही निह्नव कहे गए हैं।

अनुयोग में शब्दार्थ करने की प्रक्रिया का वर्णन मुख्य है, किन्तु प्रसंग से उसमें प्रमाण और नय का तथा तत्त्वों का निरूपण भी अच्छे ढंग से हुआ है।

इस प्रकार आगमों के कालक्रम पर विचार करने के पश्चात् अब हम उनका परिचय जानें—

1. आचारांग

प्रस्तुत आगम दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्ययन हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध पांच चूलिकाओं में विभक्त है। इसमें चार चूलिकाएं तो आचारांग में हैं किन्तु पांचवीं चूलिका अत्यधिक विस्तृत होने से आचारांग से पृथक् कर की गई, जो निशीथसूत्र के नाम से उपलब्ध है। आचारांग का प्रारंभ आत्म जिज्ञासा से होता है। 'अथातो आत्म-जिज्ञासा' यह इसका मूलसूत्र है। आत्मा है, वह नित्यानित्य है, कर्ता है, भोक्ता है, बंध है, उसके हेतु है, मोक्ष है, उसके हेतु हैं—इन सब आधारभूत तत्त्वों की इसमें चर्चा की गई है। प्रथम अध्ययन में समुच्चय रूप से जीव हिंसा न करने का उपदेश दिया गया। साधक को यह ज्ञान कराया गया कि सभी जीवों की आत्मा स्वयं की आत्मा के समान है। अतः उनका वध नहीं करना चाहिए। द्वितीय अध्ययन में भावलोक अर्थात् कषायलोक को ही द्रव्यलोक में भ्रमण का कारण बताया गया है। परीषहों पर विजय करके ही आत्मा के द्वार पर दस्तक दी जा सकती है। आत्मा को अनावृत करने हेतु सर्वप्रथम शर्त है सम्यक्त्व। सम्यक्त्व का अर्थ अहिंसा, दया, सत्य आदि सदगुणों पर निष्ठा रखना और यथाशक्ति उनका आचरण करने का प्रयास करना भी है। लोकसार में कर्मबंधन का मूल कारण हिंसा को बताया गया है। किसी को कष्ट देने का संकल्प करना भी आत्म गुणों का हनन करना

है एवं आत्म गुणों का हनन करना आत्मघात के तुल्य है।

जिज्ञासा होती है कि कौन से धर्म का पालन कर कर्मबंधनों को नष्ट किया जा सकता है? इसको समाहित करते हुए कहा गया कि सर्वज्ञ के द्वारा प्ररूपित संयमधर्म का पालन कर साधक सर्व कर्मबन्धनों को नष्ट कर शुद्ध-बुद्ध और मुक्त हो जाता है। आत्मा को प्राप्त करने के लिए मोह एवं आसक्ति से सदा बचना चाहिए। परीषहों को समभावपूर्वक सहन करते हुए संयम साधना में तल्लीन रहने से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। आत्म पथ पर चलने वाले को जागृत रहना चाहिए। स्त्री संसर्ग से दूर रहकर ही निर्वाण पथ पर कदम बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार आचारांग का महत्त्व आत्मा की दृष्टि से अत्यधिक प्रमाणित होता है। क्योंकि इसमें वह आचार पथ वर्णित है जिस पर चलकर आत्मा तक पहुंचा जा सकता है।

2. सूत्रकृतांग

सूत्रकृतांग में दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में 16 और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में 7 अध्ययन हैं। 33 उद्देशनकाल, 33 समुद्देशनकाल, 36 हजार पद हैं। 363 मतों पर चिन्तन किया गया है। इसके प्रथम अध्ययन में परसमय का खंडन करके स्वमसय या आत्मवाद की स्थापना की गई है। अगले अध्ययनों में पारिवारिक मोह से निवृत्ति एवं परीषहजय, उपसर्गजय, स्त्री सम्बन्धी परीषह जय, प्रमादजय के द्वारा ही आत्मतत्त्व को पाने की बात कही गई है। ग्रन्थ का वर्णन करते हुए उसके बाह्य और आभ्यन्तर प्रकार करते हुए बाह्य परिग्रह पर आसक्ति न रखने एवं आभ्यन्तर परिग्रह कषाय आदि न रखकर संयममार्ग की आराधना करने की बात कही गई है। अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अप्रमाद आदि सद्गुणों का आचरण करके आत्मा की आराधना की जा सकती है। हिंसादि से बचने के लिए उन-उन स्थानों का प्रत्याख्यान आवश्यक है अन्यथा प्रतिक्षण पापबन्धन होता रहता है। मुनि आर्द्रककुमार का अन्यवादियों, बौद्धभिक्षु एवं गोशालक के साथ हुआ संवाद आत्मा की ही परिक्रमा करता है।

इस प्रकार सूत्रकृतांग में अन्य दार्शनिक चर्चा के साथ-साथ स्वमत पर श्रद्धा एवं शुद्ध श्रमणाचार के पालन से आत्मा को पाने की बात स्पष्ट की गई है।

3. स्थानांग

द्वादशांगी में स्थानांग का तीसरा स्थान है। 'स्थान' और

‘अंग’—दो शब्दों के मेल से बना है स्थानांग शब्द। स्थान शब्द अनेकार्थी है। आचार्य देववाचक^२ और गुणधर^३ ने लिखा है कि प्रस्तुत आगम में एक स्थान से लेकर दश स्थान तक जीव और पुद्गल के विविध भाव वर्णित हैं, इसलिए इसका नाम ‘स्थान’ रखा गया है। ‘उपदेशमाला’ में स्थान का अर्थ ‘मान’ अर्थात् ‘परिमाण’ दिया है। स्थानांग में तत्त्वों के एक से लेकर दश तक संख्या वाले पदार्थों का उल्लेख है, अतः इसे स्थान कहा गया है। स्थान शब्द का दूसरा अर्थ ‘उपयुक्त’ है। इसमें तत्त्वों का क्रम से उपयुक्त चुनाव किया गया है। स्थान शब्द का तीसरा अर्थ ‘विश्रांतिस्थल’ भी है और अंग का सामान्य अर्थ ‘विभाग’ है। इसमें संख्याक्रम से जीव, पुद्गल आदि की स्थापना की गई है। अतः इसका नाम ‘स्थान’ या ‘स्थानांग’ है।

‘स्थानांग’ सूत्र में भेद और अभेद की व्याख्या की गई है। यह आगम कोश की शैली में ग्रथित है। जैन आगम साहित्य में वर्णित तीन प्रकार के स्थविरों में से श्रुतस्थविर के लिए ‘ठाण-समवायधरे’ यह विशेषण आया है। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत आगम का कितना अधिक महत्त्व रहा है।^४

समवायांग के अनुसार स्थानांग की विषय सूची इस प्रकार है—

1. स्वसिद्धान्त, परसिद्धान्त और स्व-पर-सिद्धान्त का वर्णन।
2. जीव, अजीव और जीवाजीव का कथन।
3. लोक, अलोक और लोकालोक का कथन।
4. द्रव्य के गुण और क्षेत्रकालवर्ती पर्यायों पर चिन्तन।
5. पर्वत, पानी, समुद्र, देव, देवों के प्रकार, पुरुषों के विभिन्न प्रकार, स्वरूप, गोत्र, नदियों, निधियों और ज्योतिष्क देवों की विविध गतियों का वर्णन।
6. एक प्रकार, दो प्रकार यावत् दस प्रकार के लोक में रहने वाले जीवों और पुद्गलों का निरूपण किया गया है।

समवायांग^५ व ‘नन्दीसूत्र’^६ के अनुसार स्थानांग की वाचनाएं संख्येय हैं, उसमें संख्यात श्लोक हैं, संख्यात संग्रहणियां हैं। अंगसाहित्य में उसका तृतीय स्थान है। उसमें एक श्रुतस्कन्ध है, दस अध्ययन हैं, इक्कीस उद्देशनकाल हैं। बहत्तर हजार पद हैं। संख्यात अक्षर हैं यावत्

जिनप्रज्ञप्त पदार्थों का वर्णन है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्थानांग में चारों अनुयोगों का समावेश है।

4. समवायांग

समवायांग चौथा आगम है। आगम साहित्य में इसका अनूठा स्थान है। जीवविज्ञान, परमाणुविज्ञान, सृष्टिविद्या, अध्यात्मविद्या, तत्त्वविद्या, इतिहास के महत्त्वपूर्ण तथ्यों का यह अनुपम कोश है। आचार्य अभयदेव ने लिखा है—प्रस्तुत आगम में जीव, अजीव प्रभृति पदार्थों का परिच्छेद या समवतार है। अतः इस आगम का नाम समवाय या समवाओ है।⁷ सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने लिखा है कि इसमें जीव आदि पदार्थों का सादृश्य-सामान्य से निर्णय लिया गया है। अतः इसका नाम 'समवाय' है।⁸ आचार्य देववाचक⁹ के अनुसार समवायांग की विषय-सूची इस प्रकार है

1. जीव, अजीव, लोक, अलोक एवं स्वसमय, परसमय का समवतार।
2. एक से लेकर सौ तक की संख्या का विकास।
3. द्वादशांग गणिपिटक का परिचय।

प्रस्तुत आगम में समवाय की भी विषय-सूची इस प्रकार की है¹⁰—

1. जीव, अजीव, अलोक, स्वसमय और परसमय का समवतार।
2. एक से सौ संख्या तक के विषयों का विकास।
3. द्वादशांगी गणिपिटक का वर्णन।
4. आहार।
5. उच्छ्वास।
6. लेश्या।
7. आवास।
8. उपपात।
9. च्यवन।
10. अवगाह।
11. वेदना।
12. विधान।
13. उपयोग।
14. योग।

15. इन्द्रिय ।
16. कषाय ।
17. योनि ।
18. कुलकर ।
19. तीर्थकर ।
20. गणधर ।
21. चक्रवर्ती ।
22. बलदेव-वासुदेव ।

समवायांग भी कोश शैली में निबद्ध है। इसका वर्तमान में उपलब्ध पाठ 1667 श्लोक परिमाण है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से इसमें उल्लेखनीय वर्णन किया गया है।

5. भगवतीसूत्र

द्वादशांगी के पांचवें अंग का नाम है—विआहपण्णत्ती। इसका संस्कृत रूप है व्याख्याप्रज्ञप्ति। प्रश्नोत्तर की शैली में लिखा जाने वाला ग्रन्थ व्याख्याप्रज्ञप्ति कहलाता है। व्याख्या का अर्थ है विवेचन करना और प्रज्ञप्ति का अर्थ है समझाना। जिसमें विवेचनपूर्वक तत्त्व समझाया जाता है उसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहा जाता है। समवायांग और नंदी में व्याख्याप्रज्ञप्ति और व्याख्या¹¹ — ये दो नाम मिलते हैं। व्याख्या व्याख्याप्रज्ञप्ति का ही संक्षिप्त रूप है। अभयदेवसूरि ने सूत्र के प्रारम्भ में व्याख्याप्रज्ञप्ति पद की व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रस्तुत आगम में गौतम आदि शिष्यों द्वारा पूछे गए प्रश्नों के उत्तर की प्रज्ञापना है। इसलिए इसका नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है।¹² प्रस्तुत आगम का दूसरा नाम 'भगवती' है।¹³ व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र की अपनी विशिष्टता थी, इसलिए भगवती इसका एक विशेषण था। समवायांग में विआहपण्णत्ती के साथ भगवती विशेषण रूप में प्रयुक्त है।¹⁴ आगे चलकर यह विशेषण नाम बन गया। इस सहस्राब्दी में व्याख्याप्रज्ञप्ति की अपेक्षा भगवती नाम अधिक प्रचलित है।

समवायांग और नंदी के अनुसार प्रस्तुत आगम में 36 हजार प्रश्नों का व्याकरण है।¹⁵ तत्त्वार्थराजवार्तिक, षट्खण्डागम और कषायपाहुड के अनुसार इसमें 60 हजार प्रश्नों का व्याकरण है।¹⁶ समवायांग में कहा गया है कि इसमें स्वसमय, परसमय, जीव, अजीव, लोक और अलोक व्याख्यात हैं।¹⁷ नंदी में भी यही विषयवस्तु निर्दिष्ट है।¹⁸ आचार्य अकलंक

के अनुसार प्रस्तुत आगम में जीव है या नहीं है—इस प्रकार के अनेक प्रश्न निरूपित हैं।¹⁹

इन सब बातों से प्रस्तुत आगम का महत्त्व जाना जा सकता है। यह आगम तत्त्वविद्या का आकरग्रन्थ है। वर्तमान ज्ञान की अनेक शाखाओं ने अनेक नये रहस्यों का उद्घाटन किया है। हम प्रस्तुत आगम की गहराइयों में जाते हैं तो हमें प्रतीत होता है कि इन रहस्यों का उद्घाटन अतीत में भी हो चुका था। इसमें चेतन और अचेतन—इन दोनों तत्त्वों की विशद जानकारी उपलब्ध है। संभवतः विश्व विद्या की कोई भी ऐसी शाखा नहीं होगी जिसकी इसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा न हो। तत्त्वविद्या का इतना विशाल ग्रन्थ अभी तक ज्ञात नहीं है। कहा जा सकता है कि भगवतीसूत्र आत्मा की परिक्रमा करता है। इस महनीय ग्रन्थ के सारे सूत्र आत्मा के आसपास ही घूमते दिखाई देते हैं।

6. ज्ञाताधर्मकथा

अंगसाहित्य में ज्ञाताधर्मकथा का छठा स्थान है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में ज्ञात यानी उदाहरण और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में धर्मकथाएं हैं। इसलिए इस आगम का नाम 'णायाधम्मकहाओ' है। आचार्य अभयदेव ने अपनी टीका में इसी अर्थ को स्पष्ट किया है। तत्त्वार्थभाष्य में 'धाताधर्मकथा' नाम आया है। भाष्यकार ने लिखा है—उदाहरणों के द्वारा जिसमें धर्म का कथन किया है।²⁰ आचार्य मलयगिरि²¹ व आचार्य अभयदेव²² ने उदाहरणप्रधान धर्मकथा को ज्ञाताधर्मकथा कहा है। पंडित बेचरदासजी दोशी²³, डॉ. जगदीशचन्द्र जैन²⁴, डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री का अभिमत है कि ज्ञातपुत्र महावीर की धर्मकथाओं का प्ररूपण होने से प्रस्तुत अंग को उक्त नाम से अभिहित किया गया है।

इसमें उदाहरणप्रधान धर्मकथाएं हैं। इन कथाओं में उन धीरवीर साधकों का वर्णन है जो भयंकर उपसर्ग उपस्थित होने पर भी मेरु की तरह अकंप रहे। इसमें परिमित वाचनाएं, अनुयोगद्वार, वेढ, छन्द, श्लोक, निर्युक्तियां, संग्रहणियां व प्रतिपत्तियां संख्यात-संख्यात हैं। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं, प्रथम श्रुतस्कन्ध में उन्नीस अध्ययन हैं और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में दस वर्ग हैं। दोनों श्रुतस्कन्धों में 29 उद्देशन काल हैं, 29 समुद्देशनकाल हैं, 573000 पद हैं, संख्यात अक्षर हैं, अनन्त गम, अनन्त

पर्याय, परिमित त्रस, अनन्त स्थावर का वर्णन है। वर्तमान में इसका पद परिमाण 5500 श्लोक प्रमाण है।

भगवान् महावीर ने कथाओं द्वारा बोध प्रदान किया है। आत्मा की उन्नति के हेतु, उसके अधोगति के कारण, महिलावर्ग भी आध्यात्मिक उत्कर्ष कर सकता है—आदि विषयों पर प्रस्तुत आगम में प्रकाश डाला गया है। आहार का उद्देश्य, संयमी जीवन की कठोर साधना, शुभ परिणाम, अनासक्ति व श्रद्धा का महत्त्व आदि विषयों को कथाओं के माध्यम से बताया गया है। ये कथाएं जीवनोत्थान के लिए हैं। ये ईसामसीह की नीतिकथाओं (वैखलन) की तरह हैं। इनमें अनुभव का अमृत है। इनकी शैली सरल, सीधी और सचोट है। अतः प्रस्तुत आगम में आत्मा तक पहुंचने के पथ का वर्णन किया है एवं साधकों के प्रेरक जीवन का वर्णन है।

7. उपासकदशा

अंगप्रविष्ट श्रुत के अंतर्गत उपासकदशा का सातवां स्थान है। इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसमें उपासकों या श्रावकों के कथानक हैं। यह धर्मकथानुयोग का भाग है। इसमें सम्पूर्णतया श्रमणोपासकों के जीवन की चर्चा है। भगवान् महावीर के समसामयिक आनन्द, कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुंडकौलिक, शकडालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता तथा शालिहीपिता—इन दस श्रमणोपासकों के जीवन का इसमें चित्रण है। ये दसों भगवान् महावीर के प्रमुख श्रावक थे।

उपासकदशा में कहा गया है²⁴—‘सातवें अंग उपासकदशा में एक श्रुतस्कन्ध है। दस अध्ययन हैं। उनमें एक सरीखी स्वर-पाठ शैली है, गद्यात्मक शैली में ये ग्रथित हैं। इसका दस दिनों में उद्देश किया जाता है और अनुज्ञा सम्मति दी जाती है।’

उपासकदशा में श्रावक व्रतों का वर्णन उल्लेखनीय है। श्रावक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का स्वीकार तो करता है पर सीमित रूप में। जितना आत्मबल एवं सामर्थ्य संजो पाता है, तदनुरूप कुछ अपवादों के साथ वह इन व्रतों को ग्रहण करता है। इस प्रकार श्रावकधर्म या अगार धर्म की व्याख्या कर उपासकदशा श्रावकों के लिए मार्गदर्शन का काम करती है। उपासकदशांग साधनामार्ग में आने वाले विघ्नों में सम रहकर आत्मप्रज्ञप्ति की प्रक्रिया का वर्णन करता है।

8. अन्तकृद्दशा

द्वादशांगी का आठवां अंग सूत्र अन्तकृद्दशा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन नब्बे महापुरुषों का जीवनवृत्त संगृहीत किया गया है जिन्होंने संयम साधना एवं तप साधना द्वारा आठ प्रकार के कर्मों पर विजय प्राप्त करके एवं चौरासी लाख जीव-योनियों में आवागमन से मुक्ति पाकर जीवन के अन्तिम क्षणों में मोक्षपद की प्राप्ति की। इस प्रकार जीवन-मरण का अन्त कर देने वाले महापुरुषों के जीवनवृत्त को ही प्रधानता देने के कारण इस शास्त्र के नाम का प्रथम अवयव 'अन्तकृत्' है।

प्रस्तुत आगम में एक श्रुतस्कंध, आठ वर्ग, 10 अध्ययन, 8 उद्देशनकाल, समुद्देशनकाल और परिमित वाचनाएं हैं। इसमें अनुयोगद्वार, वेदा, श्लोक, निर्युक्तियां, संग्रहणियां एवं प्रतिपत्तियां संख्यात हैं। इसमें पद संख्यात और अक्षर संख्यात हजार बताये गए हैं। वर्तमान में प्रस्तुत अंग 100 श्लोकपरिणाम है। प्रस्तुत आगम की शैली कथात्मक है। इस प्रकार आत्मस्वरूप को पाने की प्रेरणा देता हुआ यह ग्रन्थ अपने आप में महत्त्वपूर्ण है।

9. अनुत्तरोपपातिकदशा

अनुत्तरोपपातिकदशा द्वादशांगी का नवम अंग है। अनुत्तर अर्थात् अनुत्तरविमान, उपपात अर्थात् उत्पन्न होना और दशा अर्थात् अवस्था या दश संख्या का सूचन। इसमें ऐसे साधकों का वर्णन है जिन्होंने यहां से आयुष्य पूर्ण कर अनुत्तरविमानों में जन्म लिया और फिर मनुष्य जन्म पाकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। यह आगम 3 वर्गों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः 10, 13 और 10 अध्ययन हैं। इस प्रकार 33 अध्ययनों में 33 महान् आत्माओं का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

इस सूत्र की वाचनाएं परिमित हैं अर्थात् अनुत्तरोपपातिक के अनुयोगद्वार संख्येय हैं, उसमें वेद संख्येय हैं, श्लोक नामक छन्द संख्येय हैं, उसकी निर्युक्ति संख्येय है, उसकी संग्रहणी संख्येय है तथा प्रतिपत्तियां संख्येय हैं। इस सूत्र में एक श्रुतस्कन्ध है, तीन वर्ग हैं, दस अध्ययन हैं, असंख्येय अक्षर हैं, अनन्त गम हैं और पर्याय भी अनन्त हैं।

प्रस्तुत आगम में अनशन तप का उत्कृष्ट क्रियात्मक चित्रण हुआ है। वैसे विषय विभाग की दृष्टि से यह धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत आता है यों चरणकरणानुयोग का भी प्रतिनिधित्व करता है। अनुत्तरोपपातिकदशा में मोक्षमार्ग में सहायक तप का विशेष वर्णन

दर्शाता है कि विशिष्ट तपस्या आत्मप्राप्ति का विशिष्ट साधन है।

10. प्रश्नव्याकरण

प्रश्नव्याकरण सूत्र अंगप्रविष्ट श्रुत के अन्तर्गत दसवां अंग माना गया है। स्थानांग²⁶ में प्रश्नव्याकरण के दस अध्ययनों का उल्लेख है—उपमा, संख्या, ऋषिभाषित, आचार्यभाषित, महावीरभाषित, क्षौभकप्रश्न, कोमलप्रश्न, अद्वागप्रश्न, अंगुष्ठप्रश्न और बाहुप्रश्न। समवायांग²⁷ में बताया गया है कि प्रश्नव्याकरण में 108 प्रश्न, 108 अप्रश्न और 108 प्रश्नाप्रश्न हैं जो मन्त्रविद्या एवं अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि विद्याओं से सम्बन्धित हैं। प्रस्तुत प्रश्नव्याकरण में हिंसादि पांच आस्रवों और अहिंसा आदि पांच संवरों का वर्णन है। प्रत्येक का एक-एक अध्ययन में सांगोपांग विस्तार से आशय स्पष्ट है।

प्रश्नव्याकरण में भावाभिव्यक्ति के लिए शब्दयोजना प्रौढ, प्रांजल और प्रभावक है। इसके द्वारा वर्ण्य का समग्र शब्दचित्र पाठक के समक्ष उपस्थित कर दिया है जैसे हिंसा आस्रव की भीषणता का बोध कराने के लिए निम्न प्रकार के कर्कश वर्णों और अक्षरों का प्रयोग किया है—पावो चंडो रुद्धो खुद्धो साहसिओ अणारिओ णिग्घिणो²⁸.....

इसके विपरीत सत्य संवर का वर्णन करने के लिए कोमल कांत पदावली का उपयोग किया गया है। जो हृदयस्पर्शी होने के साथ-साथ मानव मन में नया उल्लास, नव उत्साह और उन्मेष उत्पन्न कर देती है—

.....सच्चवयणं सुद्धं सुचियं सिवं सुजायं सुभासियं सुव्वयं सुकहियं सुदिट्ठं²⁹.....

रसवर्णन भी प्रसंगानुसार है। इस प्रकार प्रस्तुत आगम को कसौटी पर कसने पर निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय वाङ्मय में इसका अनूठा, अद्वितीय स्थान है। इसमें वर्णित आश्रव और संवर भी आत्मा के बाधक और साधक तत्त्वों का रूप दर्शाते हैं।

11. विपाकसूत्र

बारह अंगों में विपाकश्रुत का ग्यारहवां स्थान है। आचार्य वीरसेन ने कर्मों के उदय व उदीरणा को विपाक कहा है।³⁰ आचार्य पूज्यपाद³¹ और आचार्य अकलंकदेव³² ने लिखा है—विशिष्ट या नाना प्रकार के पाक का नाम विपाक है। पूर्वोक्त कषायों की तीव्रता, मन्दता आदि रूप भावाश्रव के भेद से विशिष्ट पाक का होना “विपाक” है

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूप निमित्त भेद से उत्पन्न हुआ वैश्य रूपी नाना प्रकार का पाक विपाक है। आचार्य हरिभद्र³³, आचार्य अभयदेव³⁴ ने वृत्ति में लिखा है कि विपाक का अर्थ है—पुण्य पाप रूप कर्म-फल, उसका प्रतिपादन करने वाला सूत्र विपाक श्रुत है।

समवायांगसूत्र³⁵ के अनुसार विपाक के दो श्रुतस्कन्ध हैं, बीस अध्ययन हैं, बीस उद्देशनकाल हैं, बीस समुद्देशनकाल हैं, संख्यात पद, संख्यात अक्षर, परिमित वाचनाएं, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ नामक छन्द, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियां, संख्यात संग्रहणियां और संख्यात प्रतिपत्तियां हैं। वर्तमान में उपलब्ध विपाकसूत्र 1216 श्लोक परिमाण है।

कर्म-सिद्धान्त जैनदर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त है। उस सिद्धान्त का प्रस्तुत आगम में दार्शनिक, गहन व गंभीर विश्लेषण न कर उदाहरणों के माध्यम से विषय को प्रतिपादित किया गया है। प्रस्तुत आगम में पाप और पुण्य की गुरु-ग्रन्थियों को उदाहरणों के द्वारा सरल रूप से उद्घाटित किया गया है। जिन जीवों ने पूर्वभव में विविध पापकर्म किये हैं, उन्हें आगामी जीवन में दारुण वेदनाएं प्राप्त हुईं। दुःखविपाक में उन्हीं का वर्णन है। जिन्होंने पूर्वभव में सुकृत किये थे, उन्हें भविष्य में सुख प्राप्त हुआ।

विपाकश्रुत के प्रत्येक अध्ययन में पुनर्जन्म की चर्चा है। जो व्यक्ति दुःख से कराह रहा है और जो सुख के सागर पर तैर रहा है, उन सभी के सम्बन्ध में यह जिज्ञासा व्यक्त की है कि यह इस प्रकार क्यों? भगवान् उसका पूर्वभव सुनाकर जिज्ञासु को ऐसा समाधान देते हैं कि वह उसका रहस्य स्वयं समझ जाता है। अन्याय, अत्याचार, वेश्यागमन, प्रजापीड़न, रिश्वत, हिंसा, नरमेघ-यज्ञ, मांस-भक्षण आदि ऐसे दुष्कृत्य हैं जिनके कारण विविध प्रकार की यातनाएं भोगने का उल्लेख है। सुखविपाक में सुपात्र दान का प्रतिफल सुख बताया गया है। इस प्रकार विपाकश्रुत कर्म सिद्धान्त को स्पष्ट करने वाला स्तम्भ ग्रन्थ है और कर्म ही आत्मा के अस्तित्व की पुष्टि करता है अतः विपाकश्रुत भी आत्मा का संगान करता है।

12. दृष्टिवाद

कुछ लोगों का मानना है कि यह श्रुतांग लुप्त हो गया है। समवायांग के अनुसार इसके परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और

चूलिका—ये पांच विभाग हैं। परिकर्म के अन्तर्गत लिपिविज्ञान और विज्ञान का विवरण है। सूत्र में छिन्न-छेदनय, अनिछन्न-छेदनय, त्रिकनय और चतुर्नय का विवेचन है। इन चारों के समन्वय से जैन नयवाद का विकास हुआ है। पूर्वगत भाग में उत्पाद पूर्व, अग्रायणी पूर्व आदि चौदह पूर्वों का उल्लेख है। अनुयोग दो भागों में विभक्त है— मूल प्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग। दृष्टिवाद के जिस विषय का संकलन परिकर्म, पूर्व और अनुयोग में नहीं किया जा सकता है, उसका संग्रह चूलिका में किया गया है। इन चूलिकाओं का श्रुतस्कन्ध में जो स्वरूप प्राप्त है, उससे स्पष्ट है कि इनका विषय मन्त्र-तन्त्र एवं जादू-टोना आदि का रूप था। इनके विषयों की तुलना अथर्ववेद के अभिचार सूत्रों से की जा सकती है। दृष्टिवाद भी अपने आपमें आत्मप्राप्ति के विषय को स्पष्ट करने वाला आगम है।

बारह उपांग

नन्दीसूत्र में आगमों का जो वर्गीकरण मिलता है, उसमें सम्पूर्ण आगम साहित्य को अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के रूप में विभक्त किया है।³⁶ आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य में अंग के साथ उपांग शब्द का प्रयोग किया है और उपांग से उनका तात्पर्य अंगबाह्य आगम से है।³⁷ प्रस्तुत है उपांगों का संक्षिप्त परिचय—

1. औपपातिक

अंगों में जो स्थान आचारांग का है, वही स्थान उपांगों में औपपातिक का है। प्रस्तुत आगम के दो अध्याय हैं। प्रथम का नाम समवसरण है और दूसरे का नाम उपपात है। द्वितीय अध्याय में उपपात सम्बन्धी विविध प्रकार के प्रश्न चर्चित हैं। एतदर्थ नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने औपपातिक वृत्ति में लिखा है—उपपात-जन्म। देव और नारकियों के जन्म तथा सिद्धि-गमन का वर्णन होने से प्रस्तुत आगम का नाम औपपातिक है।³⁸

औपपातिक का प्रारम्भिक अंश गद्यात्मक है और अंतिम अंश पद्यात्मक है। मध्य भाग में गद्य और पद्य का मिश्रण है। परन्तु इसका अधिकांश भाग गद्यात्मक ही है। इसमें एक ओर जहां राजनैतिक, सामाजिक और नागरिक तथ्यों की चर्चाएं हैं, दूसरी ओर धार्मिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक तथ्यों का भी सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। इस आगम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जो विषय चर्चित हुए

हैं, वे पूर्ण विस्तार के साथ चर्चित हुए हैं। यही कारण है कि भगवती आदि अंग आगमों में प्रस्तुत सूत्र को देखने का सूचन किया गया, जो इस आगम के वर्णन की मौलिकता सिद्ध करता है। श्रमण भगवान् महावीर का सांगोपांग वर्णन, उनकी शरीर संपत्ति का सम्पूर्ण वर्णन इस आगम में किया गया है। इसमें भगवान् के समवसरण का सजीव चित्रण हुआ है। भगवान् महावीर की उपदेश विधि भी इसमें सुरक्षित है। इस प्रकार वर्णनप्रधान यह उपांग है।

2. राजप्रश्नीय

यह द्वितीय उपांग है। आचार्य देववाचक ने इसका नाम 'रायपसेणीय' दिया है।³⁹ आचार्य मलयगिरि ने रायपसेणीय को सूत्रकृतांग का उपांग माना है। उनका मन्तव्य है कि सूत्रकृतांग में क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी प्रभृति पाखंडियों के 363 मत प्रतिपादित हैं, उनमें से अक्रियावादी मत को आधार बनाकर राजा प्रदेशी ने केशी श्रमण से प्रश्नोत्तर किये।

राजप्रश्नीय आगम दो भागों में विभक्त है। इनमें प्रथम विभाग में सूर्याभ नामक देव श्रमण भगवान् महावीर के समक्ष उपस्थित होता है और वह विविध प्रकार के नाटकों का प्रदर्शन करता है। द्वितीय विभाग में राजा प्रदेशी का केशीकुमारश्रमण से जीव के अस्तित्व और नास्तित्व को लेकर मधुर संवाद है। इस प्रकार नास्तिकपन को मिटाकर आस्तिकता की लौ जलाता है जिसके प्रकाश में आत्मा जगमगा उठती है।

3. जीवाजीवाभिगम सूत्र

जीवाजीवाभिगमसूत्र उपांग सूत्र और कालिक सूत्रों के अन्तर्गत आता है। वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि ने इसे तृतीय अंग स्थानांग का उपांग कहा है।⁴⁰ अजीव का संक्षेप दृष्टि तथा जीव का विस्तृत रूप से प्रतिपादन होने के कारण यह जीवाजीवाभिगम नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भगवान् महावीर और गणधर गौतम के प्रश्नोत्तर के रूप में जीव और अजीव के भेद और प्रभेदों की चर्चा है। परम्परा की दृष्टि से प्रस्तुत आगम में 20 उद्देशक थे। वर्तमान में केवल नौ प्रतिपत्तियां हैं जो 272 सूत्रों में विभक्त हैं। प्रस्तुत सूत्र में एक अध्ययन, 18 उद्देशक, 4750 श्लोक प्रमाण पाठ है। 272 गद्यसूत्र और 81 पद्य हैं। प्रसिद्ध वृत्तिकार श्री मलयगिरि ने इस पर वृत्ति लिखी है।⁴¹

इस आगम की महत्ता बताते हुए आचार्य मलयगिरि कहते हैं कि

यह जीवाजीवाआगम नामक उपांग राग रूपी विष को उतारने के लिए श्रेष्ठ मंत्र के समान है। संसाररूपी समुद्र को तिरने के लिए सेतु के समान है। बहुत प्रयत्न द्वारा ज्ञेय है एवं मोक्ष प्राप्त कराने की अमोघ शक्ति से युक्त है।⁴² इस प्रकार जीवाजीवाभिगम आगम का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

4. प्रज्ञापना

‘पणवणा’ अथवा ‘प्रज्ञापना’ जैन आगमसाहित्य का चतुर्थ उपांग है। प्रस्तुत उपांग के संकलयिता श्री श्यामाचार्य ने इसका नाम⁴³ ‘अध्ययन’ दिया है, जो सामान्य ज्ञान है। आचार्य ने स्वयं प्रज्ञापना का परिचय देते हुए कहा है—चूंकि भगवान् महावीर ने सर्वभावों की प्रज्ञापना (प्ररूपणा) उपदिष्ट की है, उसी प्रकार मैं भी (प्रज्ञापना) करने वाला हूँ।⁴⁴ अतएव इसका विशेष नाम प्रज्ञापना है।

प्रज्ञापना का महत्त्व प्रस्तुत उपांगशास्त्र के प्रत्येक पद की समाप्ति पर मिलने वाले शब्द ‘पणवणाए भगवईए’⁴⁵ से स्पष्ट हो जाता है। प्रस्तुत उपांग की रचना प्रश्नोत्तर शैली में हुई है। प्रस्तुत सम्पूर्ण आगम का श्लोकप्रमाण 7887 है।⁴⁶

गहन और दुरुह दृष्टिवाद एवं पूर्वों में से साररूप में उद्धृत करना अथवा भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट सर्वभावों की प्रज्ञापना के सदृश प्रज्ञापना करना कितना कठिन है, यह प्रज्ञापनासूत्र की विषयवस्तु की गहनता एवं दुरुहता देखकर अनुमानित किया जा सकता है। प्रज्ञापना के छत्तीस पद हैं। ये 36 पद एक से छत्तीस प्रतिपाद्य विषय के प्रकरण हैं।⁴⁷

5. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति

पांचवां उपांग जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सात वक्षस्कारों में विभक्त है। इसमें कुल 181 सूत्र हैं। जम्बूद्वीप में वक्षस्कार नाम के प्रमुख पर्वत हैं, जो वहां के वर्णनक्रम के केन्द्रवर्ती हैं। जैन भूगोल के अन्तर्गत उनका अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए वे यहां प्रकरण के अर्थ में उद्दिष्ट हैं।

प्रस्तुत आगम में जम्बूद्वीप का स्वरूप, विस्तार, प्राकार, जैन कालचक्र, कुलकर, भगवान् ऋषभ, कला, शिल्प, सम्राट्भरत, पर्वत, नदियों एवं उनके अधिष्ठातृदेव तथा ज्योतिष्कदेव एवं संवत्सर, मास, पक्ष आदि एतत्सम्बद्ध अनेक विषयों का विशद वर्णन हुआ है। इस प्रकार

जैन भूगोल तथा प्रागैतिहासिककालीन भारत के अध्ययन की दृष्टि से जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का अनूठा महत्त्व है।

6, 7. चन्द्रप्रज्ञप्ति-सूर्यप्रज्ञप्ति

दोनों उपांगों में बीस प्राभृत हैं और प्रत्येक प्रज्ञप्ति में 108 सूत्र हैं। तृतीय प्राभृत से नवम प्राभृत पर्यन्त अर्थात् सात प्राभृतों में और ग्यारहवें प्राभृत से बीसवें प्राभृत पर्यन्त अर्थात् दस प्राभृतों में “प्राभृत-प्राभृत” नहीं हैं। केवल प्रथम, द्वितीय और दसवें प्राभृत में “प्राभृत-प्राभृत” हैं। सुंयक्त संख्या के अनुसार सतरह प्राभृतों में “प्राभृत-प्राभृत” नहीं हैं। केवल तीन प्राभृतों में प्राभृत-प्राभृत हैं।

आचार्य मलयगिरि ने पहले चन्द्रप्रज्ञप्ति की वृत्ति और बाद में सूर्यप्रज्ञप्ति की वृत्ति लिखी होगी। प्रस्तुत आगम में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे—इन सभी के विषय में विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है।

8. निरयावलिका

निरयावलिका श्रुतस्कन्ध में पांच उपांग समाविष्ट हैं, जो इस प्रकार हैं—1. निरयावलिका या कल्पिका 2. कल्पावतंसिका 3. पुष्पिका 4. पुष्पचूलिका 5. वृष्णिदशा।

जिस आगम में नरक में जाने वाले जीवों का पंक्तिबद्ध वर्णन है, वह निरयावलिका है। इस आगम में एक श्रुतस्कन्ध है, बावन अध्ययन हैं, पांच वर्ग हैं, ग्यारह सौ श्लोक प्रमाण मूल पाठ है।

9. कल्पावतंसिका

कल्प शब्द का प्रयोग सौधर्म से लेकर अच्युत तक बारह देवलोकों के लिए हुआ है। देवों में उत्पन्न होने वाले जीवों का जिसमें वर्णन है, वह कल्पावतंसिका है।¹⁸ इस उपांग में दस अध्ययन हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—1. पउम 2. महापउम 3. भद 4. सुभद 5. पउमभद 6. पउमसेन 7. पउमगुल्म 8. नलिनीगुल्म 9. आणंद 10. नंदन।

निरयावलिका में राजा श्रेणिक के पुत्र कालकुमार आदि का वर्णन है, उन्हीं दस राजकुमारों के दस पुत्रों का वर्णन कल्पावतंसिका में है। इस प्रकार व्रताचरण से जीवन के शोधन की प्रतिक्रिया पर प्रकाश इस उपांग में डाला गया है। जहां पिता कषाय के वशीभूत होकर नरक में जाते हैं, वहां उन्हीं के पुत्र सत्कर्मों द्वारा स्वर्ग प्राप्त करते हैं। उत्थान और पतन का दायित्व मानव के स्वयं के कर्मों पर आधृत है। साधना से भगवान् एवं विराधना से नरकगामी भी हुआ जा सकता है।

10. पुष्पिका

इस उपांग में चन्द्र, सूर्य, शुक्र, बहुपुत्रिक, पूर्णभद्र, मणिभद्र, दत्त, शिव, बल और अनादृत—ये दस अध्ययन हैं।

11. पुष्पचूलिका

इस उपांग में भी दस अध्ययन हैं—1. श्रीदेवी 2. ह्रीदेवी, 3. धृतिदेवी 4. कीर्तिदेवी 5. बुद्धिदेवी 6. लक्ष्मीदेवी 7. इलादेवी 8. सुरादेवी 9. रसदेवी 10. गन्धदेवी।

इस प्रकार उपांग में भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा में दीक्षित होने वाली दस श्रेणियों की चर्चा है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस उपांग का अत्यधिक महत्त्व है। श्री, ह्री, धृति आदि जितनी भी विशिष्ट शक्तियां हैं, उनकी अधिष्ठात्री देवियां हैं।

12. वृष्णिदशा

इस उपांग में वृष्णिवंशीय बारह राजकुमारों का वर्णन बारह अध्ययनों में है। 12 अध्ययन इस प्रकार हैं—1. निषधकुमार 2. मातलीकुमार 3. वहकुमार 4. वेदकुमार 5. प्रगतिकुमार 6. ज्योतिकुमार 7. दशरथकुमार 8. दृढकुमार 9. महाधनुकुमार 10. दशधनुकुमार 11. सप्तधनुकुमार 12. शतधनुकुमार।

इस प्रकार उपांग अपने आपमें महत्त्वपूर्ण सामग्री संजोये हुए हैं।

आगमों के सबसे उत्तरवर्ती वर्गीकरण—अंग, उपांग, मूल और छेद में मूल का नाम आता है। मूलसूत्रों का विभाग किस समय हुआ, यह अन्वेषणीय है। दशवैकालिक की निर्युक्ति, चूर्णि, हारिभद्रीया वृत्ति और उत्तराध्ययन की शान्त्याचार्य कृत वृत्ति में मूलसूत्र के संबंध में कुछ चर्चा नहीं है। इससे लगता है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक 'मूलसूत्र' विभाग नहीं हुआ था। विक्रम संवत् 1334 में प्रभावकचरित्र⁴⁹ में सर्वप्रथम अंग, उपांग, मूल और छेद—यह विभाग प्राप्त होता है।

मूल चार हैं—दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी और अनुयोगद्वार। इन्हें मूलसूत्रों की संज्ञा से क्यों अभिहित किया गया, यह विमर्शनीय है। वैसे अनेक विद्वानों ने अपने अलग-अलग चिन्तन प्रस्तुत किए हैं। जर्मनी के सुप्रसिद्ध विज्ञ प्रो. शर्पेन्टियर ने उत्तराध्ययन सूत्र की प्रस्तावना में लिखा है कि मूलसूत्र में भगवान् महावीर के मूल शब्द संगृहीत हैं जो स्वयं भगवान् महावीर के मुख से निःसृत हैं।⁵⁰ मेरी दृष्टि में व्यवहार

भाष्य की निम्न गाथा इस सम्बन्ध में ठीक प्रतीत होती है—

**आयारस्स उ उवरिं, उत्तरझयणाणि आसि पुविं तु।
दसवेआलिय उवरिं, इयाणिं किं तेन होंती उ।⁵¹**

पहले श्रमणों को आचारांग का अध्ययन कराया जाता था। जब दशवैकालिक सूत्र का निर्माण हो गया तो उसका अध्ययन कराया जाने लगा और उसके पश्चात् उत्तराध्ययन सूत्र का अध्ययन करवाया जाने लगा। अतः मूलसूत्रों का परिचय भी संक्षेपतः अपेक्षित है—

1. दशवैकालिक

दशवैकालिक अति प्रचलित और अति व्यवहृत आगम ग्रन्थ है। इसके दस अध्ययन हैं। यह विकाल में रचित होने के कारण दशवैकालिक कहलाता है। इसके कर्त्ता श्रुतकेवली शय्यंभव हैं। अपने पुत्र शिष्य मनक के लिए उन्होंने इसकी रचना की। वीर संवत् 72 के आसपास “चम्पा” में इसकी रचना हुई। इसकी दो चूलिकाएं हैं।

निर्युक्तिकार के अनुसार दशवैकालिक का समावेश चरण-करणानुयोग में होता है। इसका फलित अर्थ यह है कि इसका प्रतिपाद्य आचार है। वह दो प्रकार का होता है⁵²—

1. चरण—व्रत आदि।
2. करण—पिंडविशुद्धि आदि।

धवला के अनुसार दशवैकालिक आचार और गोचर की विधि का वर्णन करने वाला सूत्र है।⁵³ अंगपण्णत्ति के अनुसार इसका विषय गोचर-विधि और पिंड-विशुद्धि है।

इससे दशवैकालिक का स्थूल रूप हमारे समाने आता है, पर आचार्य शय्यंभव ने आचार-गोचर की प्ररूपणा के साथ-साथ अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का निरूपण किया है। जीव-विद्या, योग-विद्या आदि के सूक्ष्म बीज इसमें विद्यमान हैं।

2. उत्तराध्ययन

उत्तराध्ययन आत्मा के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण मूल आगम है। इसके प्रत्येक अध्ययन में वैराग्यपरक उपदेश संकलित है। संसार की असारता का बोध लिये साधक वैराग्यपथ पर गतिशील होता है। विभिन्न दृष्टान्तों के माध्यम से क्षणिकता का प्रतिबोध देकर क्षणभर भी प्रमाद न करने की महावीरवाणी साधक को जागृत कर देती है। ब्रह्मचर्य के विशुद्ध पालन के लिए उसके बाधक एवं साधक तत्त्वों का निरूपण उस

दिशा में ले जाता है। समिति, सामाचारी, कर्मप्रकृति, मोक्षमार्गगति, तपोमार्गगति, चरणविधि, लेश्या एवं अनगार धर्म का वर्णन अन्तश्चक्षु उद्घाटित करता है। उत्तराध्ययन के 36 अध्ययन हैं। उत्तराध्ययन सही मायने में संयमवर्धक व वैराग्यवर्धक ग्रन्थ है।

3. नन्दी

नन्दीसूत्र चूलिकासूत्र है। चूलिका शब्द का प्रयोग उस अध्ययन अथवा ग्रन्थ के लिए होता है जिसमें अवशिष्ट विषयों का वर्णन अथवा वर्णित विषयों का स्पष्टीकरण किया जाता है। नन्दीसूत्र में पंचज्ञान का विस्तार से वर्णन किया गया है। निर्युक्तिकार आदि आचार्यों ने नन्दी शब्द को ज्ञान का ही पर्याय माना है। सूत्रकार ने सर्वप्रथम 50 गाथाओं में मंगलाचरण किया है। तदन्तर सूत्र के विषय आभिनिबोधिक आदि पांच प्रकार के ज्ञान की चर्चा प्रारम्भ की है। नन्दीसूत्र की रचना गद्य व पद्य दोनों में है। सूत्र का ग्रन्थमान लगभग 700 श्लोक प्रमाण है।

4. अनुयोगद्वार

अनुयोग शब्द 'अनु' और 'योग' के संयोग से निर्मित हुआ है। अनु उपसर्ग है। यह अनुकूल अर्थवाचक है। सूत्र के साथ अनुकूल, अनुरूप या सुसंगत संयोग अनुयोग है। बृहत्कल्प⁴ में लिखा है कि अनु का अर्थ पश्चाद्भाव या स्तोक है। अनुयोगद्वार भी चूलिकासूत्र है। अनुयोगद्वार में द्रव्यानुयोग की प्रधानता है। उसमें चार द्वार हैं, 1899 श्लोक प्रमाण मूल पाठ है। 152 गद्य सूत्र हैं और 143 पद्य सूत्र हैं

अनुयोगद्वार में पंचज्ञान से मंगलाचरण किया गया है। उसके पश्चात् आवश्यक-अनुयोग का उल्लेख है। अनुयोगद्वार मुख्य रूप से अनुयोग की व्याख्याओं के द्वारों का निरूपण करने वाला ग्रन्थ है—आवश्यक सूत्र की व्याख्या करने वाला नहीं।

इस प्रकार तृतीय अध्याय में संक्षेप में कुछ आगमों का परिचय दिया गया। अब चतुर्थ अध्याय में आत्मा का अर्थ, पर्याय, स्वरूप आदि का विवेचन किया जाएगा।

संदर्भ ग्रन्थ

1. वीरनिर्वाण, पृ. 64
2. नन्दीसूत्र, सूत्र 82
3. कसायपाहुड, भाग 1, पृ. 123
4. ववहारसुत्त, सूत्र 18, पृ. 175

5. समवायांग, सूत्र 139, पृ. 123
6. नन्दीसूत्र, 87, पृ. 35
7. समवायांगवृत्ति, पत्र 1
8. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) जीवप्रबोधिनी टीका, गाथा 356
9. नन्दीसूत्र, 83
10. समवायांग प्रकीर्णक
11. समवायांग सूत्र 88, 93, नन्दी सूत्र 80, 85
12. भगवतीवृत्ति, पत्र 2
13. वही
14. समवायांग, 84. 11
15. समवायांग सूत्र 93, नन्दी सूत्र 85
16. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/20; षट्खंडागम 1, पृ. 101; कसायपाहुड प्रथम अधिकार पृ. 125
17. समवायांग, सूत्र 93
18. नन्दी सूत्र, 85
19. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1. 20
20. तत्त्वार्थभाष्य
21. नन्दीवृत्ति, पत्र 230, 231
22. समवायांगवृत्ति, पत्र 108
23. प्राकृत साहित्य का इतिहास
24. प्राकृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 172
25. उपासकदशा सूत्र 277
26. स्थानांग, 10. 116
27. समवायांग, सूत्र 546
28. प्रश्नव्याकरण श्रुतस्कन्ध 1, अध्ययन 1, सूत्र 2
29. वही, द्वितीय संवरद्वार, सूत्र 120
30. धवला, 14/5. 6, 14/102/2
31. सर्वार्थसिद्धि, 8/21/398/3
32. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 8/21/1/583/13
33. नन्दीहारिभद्रीयावृत्ति, पृ. 105
34. विपाकसूत्र अभयदेव वृत्ति
35. समवायांग, सूत्र 555, 556
36. नन्दीसूत्र, 43
37. तत्त्वार्थभाष्य, 1. 20
38. औपपातिक अभयदेववृत्ति
39. नन्दीसूत्र, सूत्र 83
40. मलयगिरि वृत्ति

41. जीवाजीवाभिगम वृत्ति 3, 376
42. मलयगिरिवृत्ति
43. प्रज्ञापना, गा. 3
44. वही, गा. 2. 3
45. पण्णवणासुत्तं, भा. 2
46. पण्णवणासुत्तं (मूलपाठ), भा. 1, पृ. 446
47. प्रज्ञापना, मलयगिरि वृत्ति, पत्र 6
48. तत्त्वार्थसूत्र 4. 3
49. प्रभावकचरित्र, आर्यरक्षित प्रबन्ध, श्लोक 24
50. The Utradhyaana Sutra, Page 32
51. व्यवहारभाष्य, उद्देशक 3, गा. 1533
52. दशवैकालिक निर्युक्ति, गा. 4
53. धवला, सत् प्ररूपणा, पृ. 97
54. बृहत्कल्प 1, गा. 190

चौथा अध्याय आत्मा का स्वरूप

आत्मा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

आत्मा शब्द अनेक धातुओं से उत्पन्न होता है। महर्षि यास्क ने भ्वादिगणीय 'अत सातत्यगमने'¹ एवं स्वादिगणीय 'आप्लृव्याप्तौ'² धातु से आत्मा शब्द को निष्पन्न माना है। आत्मा अतते वा आप्ते वा³ अर्थात् आत्मा सतत गतिमान् एवं सर्वव्यापक होता है। अदादिगणीय 'अन प्राणने'⁴ धातु से भी निष्पन्न माना गया है 'अनति प्राणान् धारयतीति आत्मा'⁵ अर्थात् जो प्राणों को धारण करे, वह आत्मा है। आचार्य शंकर ने कठोपनिषद्-भाष्य में लिङ्गपुराण के श्लोक को उद्धृत किया है। जिसमें चार प्रकार से आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति मानी गई है

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चास्ति विषयान्निह।

यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।।⁶

अर्थात् यह सबको व्याप्त करता है, ग्रहण करता है, इस लोक में विषयों को भोगता है तथा इसका सर्वदा सद्भाव है, इसलिए यह आत्मा कहलाता है। यहां पर 'आप्लृ-व्याप्तौ' आङ् उपसर्गपूर्वक दाम् दाने (दा), अद्-भक्षणे एवं अत्-सातत्यगमने आदि चार धातुओं से आत्मा शब्द को निष्पन्न माना गया है। वायुपुराण में भी यत्किंचित् अन्तर के साथ आत्मा की व्युत्पत्तिपरक यही श्लोक उपलब्ध होता है

यदाप्नोति यदात्ते यच्चास्ति विषयं प्रति।

यच्चास्ति सततं भावस्तस्मादात्मा निरुच्यते।।⁷

अतति सततं गच्छति व्याप्नोति वा आत्मा⁸ अर्थात् जो सर्वव्यापी हो, वह आत्मा है। हलायुधकार ने जाग्रदादि सभी अवस्थाओं में व्याप्त होने वाले को आत्मा कहा है—अतति सन्ततभावेन जाग्रदादि सर्वावस्थासु अनुवर्तते।⁹ देहेन्द्रियादिकं सर्वं परार्थमतति व्याप्नोति अधितिष्ठति इत्यात्मा।¹⁰ अत्यते लभ्यते मुक्तैरित्यात्मा।¹¹ अर्थात् जो मुक्त पुरुषों के द्वारा प्राप्त

किया जाता है, वह आत्मा है।

जैन वाङ्मय में अनेक स्थलों पर आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति की गई है। उत्तराध्ययन सूत्र के टीकाकार ने लिखा है—अतति-सततं गच्छति शुद्धिसंक्लेशात्मक परिणामान्तराणीत्यात्मा।¹² अर्थात् जो विविध भावों में परिणत होती है, वह आत्मा है। समयसार के टीकाकार ने आत्मा शब्द को अत् धातु से व्युत्पन्न माना है—दर्शनज्ञानचारित्राणि अतति इति आत्मा¹³ अर्थात् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र को सदा प्राप्त हो, वह आत्मा है। द्रव्यसंग्रह के टीकाकार ने आत्मा शब्द का विस्तार से विवेचन किया है—अत्धातुः सातत्यगमनेऽर्थं वर्तते। गमनशब्देनात्र ज्ञानं भण्यते ‘सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति वचनात्’ तेन कारणेन यथासंभवं ज्ञानसुखादिगुणेषु आ समन्तात् अतति वर्तते यः स आत्मा भण्यते। अथवा शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारैर्यथासंभवं तीव्र मन्दादि रूपेण आ समन्तादतति वर्तते यः स आत्मा। अथवा उत्पादव्ययध्रौव्यैरासमन्तादतति वर्तते यः स आत्मा।¹⁴ अर्थात् अत् धातु का प्रयोग गमन अर्थ में होता है। यहां पर गमन शब्द का अर्थ ज्ञान होता है। क्योंकि सभी गत्यर्थक धातुएं ज्ञानार्थक होती हैं। इस कारण से ज्ञान सुखादि गुणों में सम्यक् रूप से विद्यमान रहता है, वह आत्मा है अथवा शुभ-अशुभ रूप जो मन-वचन-काय के व्यापार हैं, उन्हें सम्पादित कर यथासंभव तीव्र मन्दादि रूप से जो वर्तता है, वह आत्मा है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों द्वारा जो पूर्ण रूप से विद्यमान रहता है, वह आत्मा है।

आत्मा के पर्याय

आगम ग्रंथों एवं कोशों में आत्मा के विभिन्न पर्यायों का उल्लेख मिलता है—

1. जीव, 2. जीवास्तिकाय

जीव शब्द ‘जीव प्राणधारणे’ धातु से हलश्च सूत्र से घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है जीना।¹⁵ अमरकोशकार ने असु (प्राण) को धारण करने वाले को जीव कहा है—जीवोऽसुधारणम्।¹⁶ अनुयोगद्वार में कहा गया—आयुः प्राणादिमान् जीवः¹⁷ अर्थात् आयुष्यबल आदि प्राणों से युक्त है, वह जीव है। जीवितवान् जीवति जीविष्यति चेति जीवः¹⁸ अर्थात् जो जीता है, जीता था और जियेगा, वह जीव है। प्रवचनसार में जीव का लक्षण बताते हुए कहा गया—पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं सो जीवो।¹⁹ यानि जो चार प्राणों

से जीता है, जियेगा और पहले जीता था, वह जीव है। समयसार में जीव का लक्षण उपयोग, चैतन्य, गुण आदि के विषय में उल्लिखित है—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसदं।

जाण अलिंगगहणं जीवमणिदिदुसंठाणं।।

अर्थात् हे भव्य! तू जीव को रस रहित, रूप रहित, गन्ध रहित, अव्यक्त अर्थात् इन्द्रिय से अगोचर, चेतना गुण वाला, शब्द रहित, किसी भी चिह्न को अनुमान ज्ञान से ग्रहण न होने वाला तथा आकार रहित जान।²⁰ सर्वार्थसिद्धि में तत्र चेतनालक्षणो जीव²¹ कहकर जीव का लक्षण चेतना को कह दिया। द्रव्यसंग्रह मूल में भी चेतनावान् को जीव कहा गया है।²² लगभग इसी तरह के लक्षण जीव के सर्वत्र दिखाई देते हैं।

इन सभी लक्षणों से जीव का जीवत्व त्रैकालिक सिद्ध होता है। जो तीनों कालों में जीवित रहता है, जीवन धारण करता है, उसको जीव कहते हैं। आत्मा भी तीनों कालों में जीवित रहता है। मूल तो आत्मा का ही त्रैकालिक अस्तित्व है, शरीर का नहीं। त्रैकालिक अस्तित्व की विद्यमानता की अपेक्षा से आत्मा का अभिवचन जीव सार्थक प्रतीत होता है।

3. प्राण

उपसर्गपूर्वक दिवादिगणीय अण प्राणने धातु से अच् प्रत्यय करने से प्राण शब्द निष्पन्न होता है।²³ जिसका अर्थ है जीते रहना, जीना, श्वासोच्छ्वास करना। श्री अभयदेवसूरि विरचित टीका में उल्लिखित है—मनुष्यादेरेक उच्छ्वासेन सह निःश्वासः उच्छ्वासनिःश्वासः यः इति गम्यते एषः प्राण इत्युच्यते।²⁴ पंचसंग्रह में प्राण को निम्न शब्दों में पारिभाषित किया गया—बाहिरपाणेहिं जहा तहेव अब्भंतरेहि पाणेहिं। जीवंति जेहिं जीवा पाणा ते होंति बोहव्वा²⁵ अर्थात् जिस प्रकार बाह्य प्राणों द्वारा जीव जीते हैं, उसी प्रकार जिन अभ्यन्तर प्राणों के द्वारा जीव जीते हैं, वे प्राण कहलाते हैं।

गोम्मटसार जीवकाण्ड एवं धवला में भी ऐसी ही परिभाषा उपलब्ध होती है। महाभारत में कहा गया—प्राणेनाच्चैव भूतानां प्राण इत्यभिधीयते।²⁶ प्राण होने से ही जीवों को प्राण कहा जाता है। भगवतीसूत्र में प्राण को परिभाषित करते हुए कहा गया—जम्हा आणमइ वा पाणमइ वा उस्ससइ वा, णीससइ वा तम्हा पाणे ति वत्तव्वं सिया²⁷ अर्थात् जिससे

उच्छ्वास निःश्वास लेता है, इसलिए वह प्राण है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा प्राणवान् है, श्वासोच्छ्वास करता है, इसीलिए प्राण शब्द से वाच्य है। इसके अतिरिक्त भाव प्राणों को पंचास्तिकाय²⁸ में चित्सामान्य बताया गया। इस तथ्य को देखकर हम कह सकते हैं कि आत्मा भी चिदानन्द स्वरूप है, चिद्लक्षण वाली है, अतः लक्षणों की समानता से भी आत्मा का पर्यायवाची प्राण सार्थक प्रतीत होता है।

4. भूत

भूत शब्द भ्वादिगणीय भू-सत्तायाम् धातु से कर्त्ता में क्त प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है होना।²⁹ सर्वार्थसिद्धि में इसे इस प्रकार पारिभाषित किया गया—तासु गतिषु कर्मोदयवशाद् भवन्तीति भूतानि प्राणिन इत्यर्थः अर्थात् जो कर्मोदय के कारण विभिन्न गतियों में होते हैं, वे भूत कहलाते हैं³⁰ यह प्राणी का पर्यायवाची शब्द है। लिंगपुराण में कहा गया—भूतत्वाद् भूत उच्यते³¹ अर्थात् विद्यमानता से भूत कहलाता है। वायुपुराण में उल्लिखित है—भूतत्वात्ते स्मृता भूताः।³² भगवती वृत्ति में भूत की त्रैकालिक विद्यमानता की पुष्टि की है—जम्हा भूते, भवति, भविस्सति य तम्हा 'भूए' ति वत्तव्वं सिया।³³

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि त्रिकालवर्ती अस्तित्व के कारण भूत शब्द का व्यवहार होता है। आत्मा भी त्रिकालवर्ती होने से उसका अभिवचन भूत सार्थक है।

5. सत्त्व

भ्वादिगणीय षद्लृ (सद्लृ) विशरणगत्यावसादनेषु धातु से औदाणिक सूत्र 'अन्येभ्योऽपिदृश्यते'³⁴ से त्वन् प्रत्यय करने पर सत्त्व शब्द बनता है। अमरकोश में यह प्राणी एवं प्राण का वाचक माना गया है।³⁵ जिसमें गुण आदि घटते बढ़ते हैं, अवस्थान करते हैं, वह सत्त्व है। जो विभिन्न प्रकार से गति, विशरण एवं अवसादन को प्राप्त होता है, वहसत्त्व है। पंचाध्यायी में सत्ता, सत्त्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ, विधि—ये सब एकार्थक माने गये हैं।³⁶ सर्वार्थसिद्धि में सत्त्व शब्द को जीव के रूप में प्रयुक्त किया गया है—दुष्कर्मविपाकवशान्नाना. योनिषु सीदन्तीति सत्त्वा जीवाः³⁷ अर्थात् बुरे कर्मों के फल से जो नाना योनियों में गति करते हैं, जन्मते और मरते हैं, वे सत्त्व हैं। सत्त्व जीव का पर्यायवाची नाम है। भगवती वृत्ति में उल्लिखित है—जम्हा सत्ते

सुभाऽसुभेहिं कम्मेहिं तम्हा सत्ते त्ति वत्तव्वं सिया।³⁸ शुभाशुभ कर्मों की सत्ता होने से सत्त्व है। अतः यह स्पष्ट है कि कर्मों के संयोग से विभिन्न गतियों में जन्म-मरण करने के कारण आत्मा का नाम सत्त्व है।

6. विज्ञ

क्रयादिगण की ज्ञा अवबोधने धातु से वि उपसर्गपूर्वक विज्ञ शब्द निष्पन्न होता है।³⁹ जो जानता है, वह विज्ञ है। भगवती सूत्र की वृत्ति में इस प्रकार व्याख्यायित किया गया—जम्हा तित्त-कडु-कसायंऽबिल-महुरेरसे जाणइ तम्हा विन्नु त्ति वत्तव्वं सिया।⁴⁰ अर्थात् इन्द्रियों के शब्दादि विषयों का अनुभव करने वाला, जानने वाला होने से विज्ञ है। आत्मा व्यवहार दृष्टि से इन्द्रिय विषयों का ज्ञाता, अनुभवकर्ता तथा निश्चय दृष्टि से ज्ञानादि गुणों का ज्ञाता एवं अनुभवकर्ता है। अतः इस अवस्था में वह विज्ञ है।

7. वेद

विद् ज्ञाने धातु से वेद शब्द निष्पन्न हुआ है।⁴¹ धवला में उल्लिखित है⁴²—सुखं दुक्खं वेदेदि त्ति वेदो, वेत्ति जानातीति वा वेदः अर्थात् सुख दुःख का वेदन करने से वेद है अथवा जानने के कारण वेद है। भगवती वृत्ति में कहा गया—वेदेति य सुह-दुक्खं तम्हा वेदो त्ति वत्तव्वं सिया।⁴³ यानि सुख दुक्ख का वेदन करने से वेद कहा गया है।

यह कहा जा सकता है कि व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा सुख-दुःखादि का अनुभव करता है—इस तथ्य की अभिव्यक्ति ही वेद शब्द का अभिधेयार्थ है।

8. चेता

भगवती वृत्ति में चेता की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया—चेय त्ति चेता पुद्गलानां चयकारी चेतयिता वा⁴⁴ यानि जीव पुद्गलों का चय करता है। पुद्गलों का चय कर विविध प्रकार के अच्छे बुरे रूप धारण करता है, इसलिए चेता है। चेता की इस परिभाषा के आधार पर स्पष्ट है कि पुद्गलों के संयोग से विविध रूप धारण करने के कारण चेता है। संसारी अवस्था में आत्मा भ्रमण करता है तो पुद्गलों के संयोग के कारण ही करता है। अतः पुद्गल संयुक्त विविध गतियों को धारण करने वाले आत्मा का नाम चेता है।

9. जेता

भ्वादिगणीय जि-जये अभिभवे च—इस धातु से तृच् प्रत्यय

करने पर जेता शब्द निष्पन्न होता है।⁴⁵ जिसका अर्थ है सर्वोत्कर्ष से रहना, सबसे बढ़कर होना, जीतना व पराभव करना। वृत्तिपत्र में उल्लिखित है—जेय त्ति जेता कर्मरिपूणाम्।⁴⁶ अर्थात् जो कर्मरूपी शत्रुओं को जीतता है, वह जेता है। अमरकोश में जयशीलः, जिष्णुः, जित्वर एवं जैत्र इसके पर्याय अभिहित हैं।⁴⁷ इस अर्थ में आत्मा की अवस्था का नाम जेता है जब वह गुणस्थान आरोहण में कषायों को क्षीण करता हुआ क्रमशः तेरहवें गुणस्थान की ओर बढ़ता है। अतः कर्मशत्रुओं को क्षय करने वाली उस अवस्था में आत्मा जेता कहलाता है।

इसी धातु का दूसरा अर्थ—सर्वोत्कर्ष से रहना। आत्मा सबसे प्रधान एवं महान् है। वह अनन्त शक्ति सम्पन्न है। अतः सर्वोत्कृष्ट होने से भी आत्मा का अभिवचन जेता सार्थक है।

10. रंगण

भ्वादिगणीय रञ्ज् रागे धातु से धञ् प्रत्यय करने पर राग शब्द बनता है।⁴⁸ भगवती वृत्तिपत्र में उल्लिखित है जो राग में रंगा हो, राग से युक्त हो, वह रंगण-रंगणे त्ति रंगाणं—रागस्तद्योगादरंगणः।⁴⁹ इसके अतिरिक्त आत्मा को पारिभाषित करते हुए इस प्रकार कहा गया—नानागतिसततगामित्वात्।⁵⁰ दोनों परिभाषाओं का योग करें तो हम कह सकते हैं कि आत्मा रागयुक्त होने के कारण ही नाना गतियों में भ्रमण करता है। यहां राग की प्रधानता होने से आत्मा का पर्याय रंगण ठीक प्रतीत होता है।

11. हिण्डुक

भ्वादिगणीय हिण्डि (हिण्ड) गत्यानादरयोः धातु से कः प्रत्यय करने से हिण्डुक शब्द बनता है जिसका अर्थ है—घूमना, भटकना।⁵¹ भगवती वृत्तिपत्र में हिण्डुक को पारिभाषित किया गया—हिण्डुए त्ति हिण्डुकत्वेन हिण्डुकः अर्थात् चारों गतियों में यह घूमता है, कर्मवश होकर विश्राम नहीं लेता है, इसलिए हिण्डुक है। संसारी अवस्था में कर्मवश होकर चतुर्गति-भ्रमण के कारण हिण्डुक नाम सार्थक है।

12. पुद्गल

पुद्गल शब्द पुत् (अव्यय) पूर्वक गृ निगरणे धातु से अच् एवं वैकल्पिक ल करने पर बनता है। पुत् शब्द कुत्सा का वाचक अव्यय है। पुद्गलति गीर्यते वा अर्थात् कुत्सा को निगल जाए उसको पुद्गल कहते हैं। पुत् पूर्वक गल अदने धातु से भी पुद्गल शब्द निष्पन्न होता है।⁵²

कृत्सा का भक्षण कर जाए, वह पुद्गल है। अतः हम कह सकते हैं कि पुद्गल आत्मा की उस अवस्था का द्योतक है। जिसमें संपूर्ण कृत्साएं समाप्त हो जाती हैं। इसलिए अमरकोशकार ने पुद्गल को आत्मा का वाचक माना है।⁵³ पुद्गल शब्द आत्मा की शुद्धावस्था का द्योतक है।

13. मानव

तनादिगण की मनु अवबोधने धातु से अण् प्रत्यय करने से मानव शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है—मन के समान।⁵⁴ लिंगपुराण में परिभाषा है—रजः प्रियांस्ततः सोऽथ मानसानसृजत् सुतान्। मनस्विनस्ततस्तस्य मानवा जज्ञिरे सुताः।⁵⁵ भगवती वृत्तिपत्र में निरुक्त किया 'माणव' ति मा—निषेधे नवः प्रत्ययो मानवः अनादित्वात् पुराण इत्यर्थः अर्थात् जो नया नहीं है, वह मानव है। यह अनादिकाल से पुराना है, इसलिए मानव संज्ञा है। धवला में इसे निम्न पंक्ति में अभिहित किया गया है—मनुः ज्ञानं, तत्र भव इति मानवः⁵⁶ अर्थात् मनु ज्ञान को कहते हैं। ज्ञान जिसमें उत्पन्न हो, उसकी मानव संज्ञा है। मानव की दोनों व्युत्पत्तियों को देखें तो निष्कर्ष आता है कि जो अनादिकालीन पुराना है एवं ज्ञान में स्थित है, वह मानव है। आत्मा के अनादिकालीन अस्तित्व एवं ज्ञानमय स्वरूप की अपेक्षा से मानव अभिवचन सार्थक प्रतीत होता है।

14. कर्ता, 15 विकर्ता

तनादिगण की डुकृञ् करणे धातु से कर्त्तरि तृच् प्रत्यय करने से कर्ता शब्द बनता है जिसका अर्थ है करने वाला।⁵⁷ करोति क्रिया निष्पादयतीति वा। करोति यः कर्मेति शेषः। भगवती वृत्तिपत्र में परिभाषा दी गई—'कर्त्त' ति कर्त्ता—कारकः कर्मणाम् अर्थात् कर्मों का कारक होने से कर्ता है।⁵⁸ नयचक्र में कर्ता को पारिभाषित करते हुए कहा गया—भेदुवयारे जइया वट्टदि सो विय सुहासुधीणो। तइया कत्ता भणिदो संसारी तेण सो आदा।⁵⁹ यानि शुभ और अशुभ के अधीन भेद उपचार जब तक वर्तता है, तब तक संसारी आत्मा कर्ता कहा जाता है। समयसार की आत्मख्याति टीका में कहा गया—अयं हि आसंसारत एव प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानेन परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्त्ता⁶⁰ यह आत्मा अनादि संसार से ही निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान न होने से दूसरे का और अपना एकत्व का अभ्यास करने से कर्ता होता है। अतः स्पष्ट है कि आत्मा संसारी अवस्था में सुख दुःख देने वाले कर्मों का कर्ता होने

की अपेक्षा से कर्ता कहलाता है। मुक्तावस्था में या ज्ञानावस्था में विकर्ता होता है।

16. जगत्

भ्वादिगणीय गम्लृं गतौ धातु से द्युतिगमि जुहोतीनां द्वे च। इत्यस्य वार्ति इति क्विपि द्वित्वे च गमः क्तौ सूत्र से म का लोप होने पर तुक् प्रत्यय लगाने से जगत् शब्द निष्पन्न होता है।⁶¹ गति अर्थ में जगत् शब्द का व्यवहार होता है। भगवती वृत्तिपत्र में उल्लिखित है—‘जए’ ति अतिशयगमनाज्जगत्⁶² अर्थात् विशेष रूप से सभी गतियों में गमन करने से जगत् नाम है। अतः जगत् नाम आत्मा की उस अवस्था का द्योतक है जब वह नारक, मनुष्य आदि गतियों में गति करता है।

17. जंतु

जुहोत्यादिगणीय जन जनने धातु से तु प्रत्यय करने पर जंतु शब्द बनता है।⁶³ जिसका अर्थ है उत्पन्न होना, प्रकट होना। महापुराण के 24 वें सर्ग में जंतु का उल्लेख निम्न पंक्तियों में किया गया जीवः प्राणी च जन्तुश्च क्षेत्रज्ञः पुरुषस्तथा। पुमानात्मान्तरात्मा च ज्ञो ज्ञानीत्यस्थ पर्यायाः जन्तुश्च जन्मभाक्⁶⁴—जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, अन्तरात्मा, ज्ञ और ज्ञानी ये सब जीव के पर्यायवाची हैं क्योंकि यह बार-बार अनेक जन्म धारण करता है। वैदिक परंपरा में यह उल्लेख मिलता है कि जन्तु शब्द के द्वारा मनुष्य के अपेक्षाकृत अधिक सामान्य आशय के अतिरिक्त कुछ स्थलों पर अनुगामी अथवा प्रज्ञा का अपेक्षाकृत सीमित आशय भी है।⁶⁵ भगवती वृत्तिपत्र में जन्तु के बारे में कहा गया जन्तु ति जननाज्जन्तुः⁶⁶ अर्थात् चौरासी लाख योनियों में उत्पन्न होने की अपेक्षा जन्तु नाम है। अतः आत्मा जिस गति में उत्पन्न है, उस अवस्था की अपेक्षा से उसका जन्तु नाम सार्थक है।

18. योनि

यु धातु से ‘बहिश्चिद्रुद्गुलाहात्वरिभ्यो नित्’ सूत्र से नि प्रत्यय करने से योनि शब्द निष्पन्न होता है।⁶⁷ सर्वार्थसिद्धि में योनि का लक्षण बताया गया—योनिरूपपाददेशपुद्गलप्रचयः अर्थात् उपपाद देश के पुद्गल प्रचय रूप योनि है।⁶⁸ भगवती वृत्तिपत्र में परिभाषा की गई—‘जोणि’ ति योनिरन्येषामुत्पादकत्वात् अर्थात् अन्यो की उत्पादनकारी योनि कहलाती है।⁶⁹

उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि

अन्य वस्तुओं की उत्पादनकारी योनि होती है। इस परिभाषा के आलोक में देखें तो हम पाते हैं कि सशरीरी आत्मा जब अपने जैसे जीव को उत्पन्न करती है तो उस अवस्था में योनि उसका पर्याय होता है।

19. स्वयंभू

भ्वादिगणीय भू सत्तायाम् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर भूत एवं स्वयं उपसर्ग लगाने से स्वयंभू शब्द निष्पन्न होता है।⁷⁰ स्वयंभवतीति स्वयंभू। भगवती वृत्तिपत्र में भी इसी बात की पुष्टि की गई—‘सयंभु’ ति स्वयंभवनात्स्वयंभूः—स्वयं होने से स्वयंभू है।⁷¹ लिंगपुराण में बताया गया—अनादित्वाच्च पूर्वत्वात् स्वयम्भूरिति न श्रुतम्।⁷² इसी की पुष्टि वायुपुराण में दो स्थलों पर निम्न पंक्तियों में की गई—नोत्पादित्वाच्च पूर्वत्वात् स्वयम्भूरिति चोच्यते। अनुत्पादाच्च पूर्वत्वात्स्वयम्भूरिति स स्मृतः।⁷³ मनुस्मृति में कहा गया—स्वयमुत्पन्ने अपौरुषेय च त्रि।⁷⁴ स्वयं उत्पन्न हो एवं अपौरुषेय हो।

अतः आत्मा की अपौरुषेय एवं किसी ईश्वर निर्मित नहीं होने से स्वयंभू अभिवचन सार्थक है।

20. सशरीरी

भगवती वृत्तिपत्र में व्युत्पत्ति की गई — सह शरीरेणेति सशरीरी—शरीर के साथ होने से सशरीरी है।⁷⁵ संसारी अवस्था की अपेक्षा आत्मा का नाम सशरीरी है।

21. नायक

भ्वादिगणीय नीञ् प्रापणे धातु से ण्वुल प्रत्यय करने पर नायक शब्द निष्पन्न होता है।⁷⁶ भगवती वृत्तिपत्र में परिभाषा दी गई—‘नायए’ ति कर्मणां नेता। कर्मों का नेता नायक है।⁷⁷ नेता के होने पर जिस प्रकार सारे सैनिक होते हैं और उनका अस्तित्व होता है, उसी प्रकार आत्मा अगर शरीर में होगी तो कर्मों का अस्तित्व होगा अन्यथा आत्मामुक्त शरीर कर्मों को आकर्षित नहीं कर सकता। अतः कर्मों का नेता होने की अपेक्षा से आत्मा को नायक कहा गया।

22. अन्तरात्मा

भगवती वृत्तिपत्र में कहा गया अंतरप्य ति अन्तः—मध्यरूप आत्मा न शरीररूप इत्यन्तरात्मेति शरीर के अन्दर रहने से शरीररूप नहीं होने से अन्तरात्मा कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि जब यह विवेक हो जाता है कि मैं शरीर में रहता हूँ, शरीर नहीं हूँ तो आत्मा की

वह अवस्था अन्तरात्मा कहलाती है।

आत्मा के लक्षण

जो निरन्तर ज्ञानादि पर्यायों को प्राप्त होता है, वह आत्मा है।⁷⁸ आत्मा द्वादशाङ्गम् आत्मपरिणामत्वात्। न च परिणामः परिणामिनो भिन्नः, मृद्द्रव्यात् पृथग्भूतघटादि— पर्यायानुपलम्भात्।⁷⁹ दर्शनज्ञानचारित्राण्यत— तीत्यात्मेत्यात्मपदस्याभिधेयं अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र को जो सदा प्राप्त हो वह आत्मा है।⁸⁰

शुद्धचैतन्यलक्षण आत्मा।⁸¹

वेद—वेदों में आत्मा और ब्रह्म का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। ब्रह्म के बारे में वेदों में कहा गया—एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अर्थात् एक ही सत् है। विप्रजन उसे अनेक मानते हैं। अथर्ववेद में भी ब्रह्म की व्यापकता तथा आत्मा से अभिन्नता सम्बन्धी विचार व्यक्त किये गये हैं।⁸² उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म का अद्वैत स्थापित किया गया है। छांदोग्योपनिषद् में कहा गया—“शरीर में रहने वाली आत्मा वास्तव में ब्रह्म ही है और जैसे ही यह नश्वर बन्धन उतर जाएगा, वैसे ही वह ब्रह्म में लीन हो जाएगा।”⁸³ कठोपनिषद् में उल्लिखित है—“यह शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियां घोड़े हैं जो विषयरूपी मार्ग पर चलते हैं। आत्मा रथ का स्वामी है।⁸⁴ उपनिषदों में अजरता, अमरता को भी आत्मा का लक्षण कहा है। गीता में आत्मा का लक्षण अमरता, अजरता, सनातनता, पुरातनता उल्लिखित है—न जायते म्रियते च कदाचिन्नायं भूत्वा भविता न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।⁸⁵ आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न हवा सुखा सकती है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्याप न शोषयति मारुतः।।⁸⁶

जैन दर्शन में आत्मा का लक्षण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति प्रतिपादित किया गया है। आत्मा अजर, अमर है पर जब तक कर्म संयुक्त है तब तक वह संसार में परिभ्रमण करती है और कर्ममुक्त आत्मा संसारमुक्त या सिद्धात्मा कहलाती है।

नैयायिकों ने कहा—‘आत्मा ज्ञान, इच्छा आदि गुणों का आधार है’ तथा प्रतिसंधान, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान करने वाला आत्मा ही है। आत्मा निरवयव और विभु है। आत्मा काल और दिक् से परे है। यह भी आत्मा

को अजर, अमर, अभय मानते हैं।

वैशेषिक दर्शन का प्रतिपादन भी न्याय-दर्शन जैसा ही है। सांख्यदर्शन में आत्मा को पुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है। चेतना को उसका स्वरूप लक्षण कहा गया है। वह शरीर, मन, इन्द्रियों और बुद्धि से भिन्न है। वह अजर, अमर, नित्य, शुद्ध, मुक्त, बुद्ध एवं अपरिवर्तनशील है।⁸⁷

योगदर्शन आत्मा को शरीर, मन, इन्द्रियों से भिन्न मानता है। आत्मा देशकाल और कारण-कार्य से परे है। आत्मा नित्य, मुक्त और शाश्वत है। मीमांसा दर्शन में भी आत्मा का लक्षण अजर, अमर और शरीर से भिन्न बताया गया है। वेदान्त दर्शन में आत्मा को ज्ञान स्वरूप भी कहा गया, ज्ञाता भी कहा गया। आत्मा ही ब्रह्म है। कुछेक भारतीय चिन्तकों के विचार भी उल्लिखित करना प्रासंगिक होगा।

स्वामी दयानन्द—स्वामी दयानन्द के अनुसार आत्मा अनादि, नित्य, अकारण एवं अमर है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुख—ये जीवात्मा के लक्षण हैं।

रवीन्द्रनाथ टैगोर—टैगोर जी भी ब्रह्म को ही पूर्ण आत्मा कहते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य को ब्रह्म या ईश्वर बनने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द ने आत्मा के बारे में वेदान्त की ही व्याख्या की है। न्यायसूत्रकार गौतम ने इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुख और ज्ञान के आश्रय को आत्मा का लक्षण बताया है।⁸⁸ परवर्ती नैयायिक विश्वनाथ जी ने आत्मा का लक्षण इन शब्दों में निरूपित किया—आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सत्कर्तृकम् अर्थात्⁸⁹ इन्द्रिय एवं शरीर का अधिष्ठाता है आत्मा। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—प्राणामान निमिषोन्मेष जीवन मनोगतीन्द्रियान्त विकारः सुख दुखेच्छाद्वेष प्रयत्नाश्चात्मनोलिङ्गानि।⁹⁰ आशय यह है कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान आदि मनोगत अतीन्द्रिय विकार के साथ प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष तथा जीवन को भी आत्मा के लिंग के रूप में स्वीकार किया है। सांख्यतत्त्वकौमुदी में वर्णित है— आचार्येण त्रिगुणादि विपर्याद् इति वदताऽसंहतः परोविवक्षितः, स चात्मेति सिद्धम्।⁹¹ आशय यह है कि आचार्य ईश्वर कृष्ण के त्रिगुणात् विपर्यात् कहने का तात्पर्य यही है कि त्रिगुणादि से भिन्न कोई असंयत पदार्थ है और यही आत्मा है। मीमांसा

दर्शन ने अपने विचार निम्न शब्दों में प्रकट किये — क्रिया सम्पन्न करने वाला अपनी क्रिया से भिन्न अस्तित्व रखने वाला इच्छा, ज्ञान आदि क्रिया का सम्पादन आत्मा का लक्षण है।⁹² अद्वैत वेदान्ती गौडपादाचार्य ने आत्मा का लक्षण निर्विकारता कहा है—आत्मा ध्याकारावज्जीवैर्घटाका—शैरिवोदितः। शंकराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् (1. 41) के भाष्य में कहा है—दृष्टिरेव स्वरूपमस्य अग्न्योष्णवत्। अर्थात् दृष्टि को ही आत्मा का लक्षण कहा गया है।

आत्मा की अवस्थाएं

अवस्था शब्द अव उपसर्गपूर्वक स्था धातु से बना है। टाप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। किसी परिशिष्ट और स्वतंत्र रूप में (वर्तमान या स्थित) होने का तत्त्व, भाव या स्वरूप। इसे दशा, स्थिति या हालत भी कह सकते हैं। तात्त्विक दृष्टि से अवस्था किसी बात या वस्तु का वह वर्तमान रूप है जिसमें वह स्थित दिखाई देती है, जिसमें समयानुसार परिवर्तन भी होता रहता है। यह बहुत कुछ वातावरण या परिस्थितियों पर भी आश्रित रहती है। जैनागमों में इसी के आधार पर भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। मूलतः आत्मा की दो अवस्थाएं हैं—संसारी अवस्था एवं मुक्तावस्था। भगवती सूत्र एवं जीवाजीवाभिगमसूत्र में संसारी आत्मा को संसार समापन्नक एवं मुक्तात्मा को असंसार समापन्नक कहा है।⁹³ संसार समापन्नक आत्मा के विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर विभिन्न भेद किये गये हैं। चैतन्य गुण की व्यक्तता की अपेक्षा से दो भेद किये हैं—संसारिणस्त्रसस्थावराः अर्थात् त्रस और स्थावर।⁹⁴

1. त्रस आत्मा

जिन जीवों में चैतन्य व्यक्त होता है, वे त्रस आत्मा हैं। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में बताया है कि जिनके त्रसनामकर्म का उदय होता है, वे त्रस आत्माएं हैं— त्रसनामकर्मादयवशीकृतास्त्रसाः।⁹⁵ जो गमन करती हैं, वे त्रस आत्माएं हैं—इस व्युत्पत्ति के अनुसार उत्तराध्ययनसूत्र में अग्नि और वायु को भी त्रस माना गया है और इस प्रकार त्रस आत्मा के छह भेद बतलाए गए हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, अग्नि और वायु।⁹⁶ तत्त्वार्थसूत्र में अग्नि एवं वायु को न गिनकर चार ही भेदों का वर्णन मिलता है।⁹⁷

2. स्थावर आत्मा

स्थावर आत्मा में चैतन्य अव्यक्त होता है। जो स्थिर रहे अर्थात् जिस आत्मा में गमन करने की शक्ति का अभाव होता है, इस व्युत्पत्तिमूलक अर्थ के अनुसार स्थावर आत्मा के तीन भेद हैं—पृथिवी, जल और वनस्पति।⁹⁸ सर्वार्थसिद्धि के अनुसार जिनके स्थावरनामकर्म का उदय रहता है, वे स्थावर जीव कहलाते हैं।⁹⁹ तत्त्वार्थसूत्रकार ने अग्नि एवं वायु को सम्मिलित करके आत्मा के पांच भेद किये हैं।¹⁰⁰ शुद्धि, अशुद्धि की अपेक्षा से संसारी आत्मा की दो अवस्थाएं हैं—भव्यात्मा एवं अभव्यात्मा।

भव्यात्मा — जिस आत्मा में मुक्त होने की शक्ति होती है, उसे भव्यात्मा कहते हैं। सम्यग्दर्शन आदि निमित्त सामग्री के मिलने पर समस्त कर्मों का समूल क्षय करके शुद्ध चैतन्य स्वरूप को प्राप्त करने की शक्ति जिन संसारी आत्माओं में होती है, उन्हें भव्यात्मा कहते हैं।¹⁰¹ ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थों में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।¹⁰²

अभव्यात्मा—अभव्यात्मा में मुक्त होने की शक्ति नहीं होती है। सम्यग्दर्शन आदि निमित्तों को प्राप्त करने की शक्ति नहीं होती है। इस प्रकार का आत्मा सदैव संसार में भ्रमण करता रहता है। मन की अपेक्षा संसारी आत्मा के निम्नांकित दो भेद किये हैं—संज्ञी आत्मा एवं असंज्ञी आत्मा।¹⁰³

जिन आत्माओं के मन होता है, उन्हें संज्ञी आत्मा कहते हैं।¹⁰⁴ संज्ञी आत्मा शिक्षा, क्रिया, उपदेश आदि का ग्रहण तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विचार कर सकते हैं और निर्णय कर सकते हैं।¹⁰⁵ असंज्ञी आत्मा में मन नहीं होता है। उनमें निर्णयात्मक शक्ति भी नहीं होती है। इन्द्रियों की अपेक्षा संसारी आत्मा के पांच भेद हैं—

1. एकेन्द्रिय आत्मा

जिनके एक स्पर्शनेन्द्रिय होती है, उसे एकेन्द्रिय आत्मा कहते हैं। ये पांच प्रकार के होते हैं—पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पति। ये पांचों प्रकार की आत्मा बादर और सूक्ष्म की अपेक्षा से दो-दो प्रकार के होते हैं।¹⁰⁶ पृथ्वीकायिक आत्मा जो पृथ्वीकाय नामक नामकर्म के उदय से पृथ्वीकाय में उत्पन्न होते हैं, वे पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय आत्मा कहलाते हैं।¹⁰⁷ गोम्मटसार में इन जीवों के शरीर का आकार मसूर के समान बताया गया है।¹⁰⁸ उत्तराध्ययनसूत्र, प्रज्ञापना में पृथ्वीकायिक जीवों के अनेक भेद बतलाए गये हैं। सर्वप्रथम पृथ्वीकायिक जीवों के दो भेद किये—सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के पर्याप्त एवं अपर्याप्त भेद

हुए। बादर पृथ्वीकायिक जीवों के दो भेद हैं—मृदु और कठोर। मृदु के कृष्ण, नील, रक्त आदि सात भेद हैं। कठोर पृथ्वी के छत्तीस प्रकार हैं—शुद्धपृथ्वी, शर्करा, बालू आदि।

अपकायिक जीव—अपकाय स्थावरनामकर्म के उदय से अपकाय वाले जीव अपकायिक एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। इनका आकार जल के बिन्दु की तरह होता है। ओस, हिम, हरिद आदि की अपेक्षा इनके आठ प्रकार बताये गये हैं।¹¹⁰ उत्तराध्ययनसूत्र में सूक्ष्म और बादर जीवों के पर्याप्त एवं अपर्याप्त भेद किये गये हैं। बादर पर्याप्त अपकायिक जीवों के पांच भेद उल्लिखित हैं—शुद्धोदक, ओस, हरतनु, कुहासा और हिम। सूक्ष्म अपकायिक जीवों के भेद नहीं होते।¹¹¹

तेजस्कायिक—अग्निकाय स्थावर नामकर्म के उदय से जिन जीवों की अग्निकाय या तेजस्काय में उत्पत्ति होती है, वे तेजस्कायिक एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। सूई की नोक की तरह इनका शरीर होता है।¹¹² उत्तराध्ययनसूत्र में तेजस्कायिक जीवों के सूक्ष्म और बादर व इनके पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद किये हैं। बादर पर्याप्त तेजस्कायिक जीवों के अनेक भेद हैं जैसे—अंगार, मुर्मुर्, ज्वाला, अर्चि आदि।¹¹³ मूलाचार में भी अंगार, ज्वाला, अर्चि, मुर्मुर्, शुद्ध अग्नि और सामान्य अग्नि आदि भेदों का उल्लेख मिलता है।¹¹⁴

वायुकायिक जीव—वायुकाय स्थावर नामकर्म के उदय से वायुकाययुक्त जीव वायुकायिक एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं।¹¹⁵ उत्तराध्ययन में सूक्ष्म और बादर की अपेक्षा से पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद किये गये हैं।¹¹⁶ बादर पर्याप्त वायुकायिक जीवों के पांच भेदों का उल्लेख है—उत्कलिका, मण्डलिका, धनवात, गुंजावात और शुद्धवात। उनके संवर्तक वात आदि और भी अनेक प्रकार हैं। सूक्ष्म वायुकायिक जीव एक ही प्रकार के हैं।

वनस्पतिकायिक जीव—वनस्पति स्थावर नामकर्म के उदय से वनस्पतिकाययुक्त जीव वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं।¹¹⁷ वनस्पतिकायिक जीवों के अन्य जीवों की भांति सूक्ष्म एवं बादर एवं उनके पर्याप्त, अपर्याप्त भेद होते हैं। बादर पर्याप्त वनस्पतिकायिक जीवों के दो भेद हैं—1. साधारण शरीर एवं 2. प्रत्येक शरीर। प्रत्येकवनस्पतिकायिक जीवों के अनेक प्रकार हैं—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली और तृण। लता-वलय, पर्वज, कुहण, जलरुह और

हरितकाय—ये सब प्रत्येक शरीरी हैं। साधारणशरीर वनस्पतिकायिक जीवों के आलू, मूली, अदरक आदि अनेक भेद हैं।¹¹⁸ धवला¹¹⁹ गोम्मटसार¹²⁰ में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।

2. द्वीन्द्रिय आत्मा

द्वीन्द्रिय आत्मा के स्पर्शन और रसन—ये दो इन्द्रियां होती हैं। स्पर्शन, रसन, कायबल, वचन, आयु, श्वासोच्छ्वास प्राण होते हैं। ये सभी आत्माएं असंज्ञी और नपुंसक होते हैं। इनमें क्रोधादि चारों कषाय तथा आहारादि चारों संज्ञाएं होती हैं। द्वीन्द्रिय आत्माएं पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार की होती हैं। उत्तराध्ययन में द्वीन्द्रिय आत्माओं के कृमि, सौमंगल, अलस, सीप आदि अनेक प्रकारों का उल्लेख मिलता है।¹²¹ जीवाजीवाभिगमसूत्र एवं प्रज्ञापना में भी ऐसा ही वर्गीकरण प्राप्त होता है।¹²² मूलाचार में शंबुक, गौजलौका, धुल्ल, खुल्ल आदि प्रकारों की बात कही गई है।¹²³

3. त्रीन्द्रिय आत्मा

त्रीन्द्रिय जातिनामकर्म के उदय से जिनके स्पर्शन, रसन, घ्राण—ये तीन इन्द्रियां होती हैं, उन्हें त्रीन्द्रिय आत्मा कहते हैं। उत्तराध्ययन में कुंथु, खटमल, मालुक, कर्धासास्थि आदि त्रीन्द्रियात्माओं का नामोल्लेख मिलता है।¹²⁴ मूलाचार, जीवाजीवाभिगमसूत्र एवं धवला में इनका विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।¹²⁵

4. चतुरिन्द्रिय आत्मा

जिनके स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु—ये चार इन्द्रियां होती हैं, उन्हें चतुरिन्द्रिय जीव कहते हैं। अन्धिका, पोत्तिका, मक्षिका, कुक्कुड़, विरली आदि अनेक भेद इनके हैं।¹²⁶ पंचास्तिकाय में मकड़ी, पतंगा, दंश, भौरा आदि का नामोल्लेख प्राप्त होता है।¹²⁷

5. पंचेन्द्रिय आत्मा

पंचेन्द्रिय आत्मा के स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—ये पांचों इन्द्रियां होती हैं।¹²⁸ पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के होते हैं। ये दोनों प्रकार के पंचेन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक होते हैं। देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यच की अपेक्षा से पंचेन्द्रिय आत्मा के चार भेद हैं। गति की अपेक्षा से आत्मा के चार भेद हैं—गतिनामकर्म के उदय से मृत्यु के बाद एक भव को छोड़कर दूसरे भव या पर्याय को प्राप्त करना गति है।¹²⁹ नरक, तिर्यच, मनुष्य एवं देव चार गतियां हैं।

नारकी आत्मा

मध्यलोक की तरह अधोलोक भी हैं। उत्तराध्ययन में नैरयिक जीवों के सात प्रकार बताये गये हैं। वे सात प्रकार की भूमियों में उत्पन्न होते हैं। वे सात पृथ्वियां ये हैं—रत्नाभा, शर्कराभा, बालुकाभा, पंकाभा, धूमाभा, तमा और तमस्तमा। इन सात पृथ्वियों में उत्पन्न होने के कारण नैरयिक जीव सात प्रकार के हैं। उनकी स्थिति आदि का विस्तृत विवेचन भी उत्तराध्ययन में उपलब्ध होता है।¹³⁰ गोम्मटसार की जीव-प्रबोधिनी टीका में केशववर्णी ने कहा है कि प्राणियों को दुःखित करने वाला, स्वभाव से च्युत करने वाला नरक कर्म है और इस कर्म के कारण उत्पन्न होने वाले जीव नारकी कहलाते हैं।¹³¹

तिर्यच आत्मा

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में तिर्यचगति नामकर्म के उदय से तिर्यच पर्याय में उत्पन्न होने वाले को तिर्यच कहा है।¹³² तिर्यच के निम्नांकित भेद हैं—1. एकेन्द्रिय सूक्ष्म 2. एकेन्द्रिय बादर 3. द्वीन्द्रिय 4. त्रीन्द्रिय 5. चतुरिन्द्रिय 6. असंज्ञी पंचेन्द्रिय 7. संज्ञी पंचेन्द्रिय इनके विस्तार से चौदह भेद होते हैं।¹³³ उत्तराध्ययन में उल्लेख है कि पंचेन्द्रिय तिर्यच जीव दो प्रकार के हैं—सम्मूर्च्छिम तिर्यच और गर्भ उत्पन्न तिर्यच। ये दोनों ही जलचर, स्थलचर और खेचर के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं। जलचर जीव पांच प्रकार के हैं मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मकर और सुंसुमार। स्थलचर जीव दो प्रकार के हैं—चतुष्पद और परिसर्प। चतुष्पद और परिसर्प जीव क्रमशः चार और दो प्रकार के हैं। खेचर जीव चर्मपक्षी, रोमपक्षी, समुद्गपक्षी और विततपक्षी के भेद से चार प्रकार के हैं। इनकी स्थिति आदि का विस्तृत विवरण भी वहीं उपलब्ध होता है।¹³⁴ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने पंचेन्द्रिय तिर्यच के दो भेद किये हैं—कर्मभूमिज और योगभूमिज।¹³⁵

मनुष्य आत्मा

मनुष्यगति नामकर्म के उदय से मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होने वाला आत्मा मनुष्य कहलाता है।¹³⁶ उत्तराध्ययन में उनके दो भेद किये हैं—सम्मूर्च्छिम और गर्भ उत्पन्न। गर्भ उत्पन्न मनुष्य तीन प्रकार के हैं—1. अकर्मभूमिक 2. कर्मभूमिक 3. अन्तर्द्वीपक। कर्मभूमिक मनुष्यों के पन्द्रह, अकर्मभूमिक मनुष्यों के तीस तथा अन्तर्द्वीपक मनुष्यों के अट्ठाईस भेद होते हैं। सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के उतने ही भेद हैं जितने गर्भ उत्पन्न

मनुष्यों के हैं। इस प्रकार उनकी स्थिति आदि के विषय में विस्तृत वर्णन वहां उपलब्ध होता है।¹³⁷

देव आत्मा

देवगति के नामकर्म के कारण देव गति में उत्पन्न होने वाले आत्मा को देव कहते हैं। देव अणिमादि ऋद्धियों से युक्त तथा देदीप्यमान होते हैं।¹³⁸ उत्तराध्ययन में देव आत्मा के चार भेद किये गये हैं—1. भवनपति 2. व्यन्तर 3. ज्योतिष्क और 4. वैमानिक। भवनपति देव दस प्रकार के, व्यन्तर देव आठ प्रकार के, ज्योतिष्क देव पांच प्रकार के एवं वैमानिक देव दो प्रकार के हैं। इन प्रकारों का नामोल्लेख एवं उनकी स्थिति आदि का विवरण विस्तार से प्राप्त होता है।¹³⁹

अध्यात्म की अपेक्षा से आत्मा की तीन अवस्थाएं हैं—

1. बहिरात्मा
2. अन्तरात्मा
3. परमात्मा।

आचार्य कुन्दकुन्द¹⁴⁰, पूज्यपाद¹⁴¹, योगेन्दु¹⁴², शुभचन्द्राचार्य¹⁴³, स्वामी कार्तिकेय¹⁴⁴, देवसेन¹⁴⁵ एवं ब्रह्मदेव¹⁴⁶ आदि आचार्यों ने उपर्युक्त तीन भेद किये हैं। अन्य किसी भी भारतीय दार्शनिकों ने उपर्युक्त प्रकार से स्पष्ट रूप से आत्मा के भेदों का उल्लेख तो नहीं किया है, किन्तु इसके अविकसित रूप उपनिषदों में परिलक्षित होते हैं। उदाहरणतः उपनिषद् में ज्ञानात्मा, महदात्मा और शान्तात्मा ये तीन भेद आत्मा के किये गये हैं।¹⁴⁷ डायसम् ने ¹⁴⁸ छांदोग्योपनिषद् को आधार बनाकर आत्मा की तीन अवस्थाओं—शरीरात्मा, जीवात्मा और परमात्मा का उल्लेख किया है।

1. बहिरात्मा

अज्ञान के कारण आत्मा के सच्चे स्वाभाविक स्वरूप को भूलकर आत्मा से भिन्न शरीर, इन्द्रिय, मन, स्त्री-पुरुष और धनादि में ममत्व बुद्धि रखने वाले को कुन्दकुन्दाचार्य, योगेन्दु एवं पूज्यपाद आदि आचार्यों ने बहिरात्मा कहा है।¹⁴⁹ द्रव्यसंग्रह की टीका में बहिरात्मा के तीन भेद किये हैं¹⁵⁰—

- (क) तीव्र बहिरात्मा : मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती आत्मा।
- (ख) मध्यम बहिरात्मा : सास्वादन गुणस्थानवर्ती आत्मा।
- (ग) मंद बहिरात्मा : मिश्र गुणस्थानवर्ती आत्मा।

2. अन्तरात्मा

मिथ्यात्व के अभाव से और सम्यक्त्व के होने से जब जीव

आत्मा और शरीरादि में भेद को समझने लगता है और बाह्य पदार्थों से ममत्व बुद्धि को हटाकर आत्मा के सच्चे स्वरूप की ओर उन्मुख हो जाता है, तब उसे अन्तरात्मा कहा जाता है।¹⁵¹ कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्षपाहुड में आत्मसंकल्प रूप आत्मा को अन्तरात्मा कहा है।¹⁵²

अन्तरात्मा के भेद—आत्मगुण के विकास के अनुसार नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में अन्तरात्मा के तीन भेद किये हैं—

(क) जघन्य अन्तरात्मा : अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आत्मा।¹⁵³

(ख) मध्यम अन्तरात्मा : पांचवें गुणस्थान से उपशान्त मोह गुणस्थानवर्ती तक के जीव मध्यम अन्तरात्मा कहलाते हैं।¹⁵⁴

(ग) उत्कृष्ट अन्तरात्मा : आचार्य पूज्यपाद ने क्षीणकषाय नामक गुणस्थान अवस्थित आत्मा को उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहा है।¹⁵⁵

3. परमात्मा

कुन्दकुन्दाचार्य, पूज्यपाद और स्वामी कार्तिकेय ने समस्त कर्मों से रहित शुद्धात्मा को परमात्मा कहा है।¹⁵⁶ शुभचन्द्राचार्य ने कहा भी है—कर्मों के लेप से रहित, शरीरविहीन, रागादि विकारों से रहित, निष्पन्न, कृतकृत्य, अविनाशी, सुखस्वरूप तथा निर्विकल्प शुद्ध आत्मा परमात्मा है।

स्वामी कार्तिकेय ने परमात्मा के दो भेद किये हैं—अर्हन्त और सिद्ध।¹⁵⁷ इन्होंने सकल परमात्मा और विकल परमात्मा—ये अन्य दो भेद भी किये हैं।¹⁵⁸ बृहद् नयचक्र तथा नियमसार की तात्पर्यवृत्ति में दो भेद किये हैं—कारणपरमात्मा और कार्यपरमात्मा।¹⁵⁹ अर्हन्तपरमात्मा ही सकलपरमात्मा और कारणपरमात्मा कहलाते हैं। तथा सिद्ध परमेष्ठी को विकल और कार्य परमात्मा कहते हैं। उपनिषदों में भी आत्मा का वर्णन मिलता है।

माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा की तीन अवस्थाओं का उल्लेख है।

1. जाग्रत अवस्था

माण्डूक्य उपनिषद् में इसे पहली अवस्था बताया गया है। जाग्रत अवस्था तब होती है जब जीव ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विषयों को जानता है। जागने पर ही हम श्रोत्र से शब्द का, त्वक् से स्पर्श का, चक्षु से रूप का, जिह्वा से रस का तथा घ्राण से गन्ध का ग्रहण करते हैं। इसलिए इन्द्रियों के द्वारा विषयों की ग्रहण दशा जाग्रत अवस्था कहलाती है। इसके सम्बन्ध में पांच बातें कही गई हैं—

- (क) बहिष्प्रज्ञ अर्थात् बाहरी ज्ञान वाला ।
 (ख) सप्तांग अर्थात् सात अंगों वाला ।
 (ग) एकोनविंशति मुखः अर्थात् 19 मुखों वाला ।
 (घ) वैश्वानरः अर्थात् सब प्राणियों से सम्बन्ध एकीकृत करने वाला ।¹⁶⁰

जाग्रत अवस्था का सम्बन्ध स्थूल शरीर से होता है। जरा, मरण, सुख, दुःख, लाभ, हर्ष-विषाद आदि सभी अनुभूतियां इसी अवस्था का परिणाम हैं। स्थूलशरीर का अभिमानी आत्मा 'विश्व' कहलाता है।

2. स्वप्नावस्था

जाग्रत दशा में जो कुछ हम देखते हैं, सुनते हैं तथा अन्य व्यापार करते हैं, उससे उत्पन्न वासना के द्वारा जो प्रपंच प्रतीत होता है, वही स्वप्नावस्था है। इस अवस्था में जीव नाना प्रकार के दृश्यों को देखता है। सुन्दर और भयानक दृश्यों को देखते हुए उसे सुख एवं दुःख की अनुभूति होती है।¹⁶¹ इस शरीर का अभिमानी आत्मा तैजस् कहलाता है।

3. सुषुप्ति अवस्था

माण्डूक्य उपनिषद् में इस अवस्था के बारे में लिखा है—सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानधन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेदोमुखः प्राज्ञस्तृतीय पादः अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में जीव की वृत्तियां एकीकृत होती हैं। वह न तो बाहर के पदार्थों में संसर्ग रखती है और न उन पदार्थों के संस्कारों से राग। जिस प्रकार सूर्यास्त के समय सूर्य की विस्तृत किरणें सूर्य में ही विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार गहन निद्रा के समय सभी इन्द्रियां एवं उनके कार्यव्यापार मन में अन्तर्भूत हो जाते हैं। सुषुप्ति अवस्था में सभी इन्द्रियों का कार्य व्यापार प्रकरण विराम को प्राप्त हो जाता है।¹⁶² मन के द्वारा जीवात्मा गहन निद्रा युक्त शान्ति सुख का अनुभव करता है।¹⁶³ जीव हृदयाकाश में विश्राम करता है।¹⁶⁴ इस अवस्था में जीव पाप एवं पुण्य कार्यों से असम्पृक्त रहता है।¹⁶⁵ इसका अभिमानी आत्मा प्राज्ञ कहलाता है।

अथर्ववेद में एक और अवस्था तुरीयावस्था का उल्लेख मिलता है। तुरीयावस्था एक प्रकार की समाधि अवस्था है। जड़ समाधि में शरीर के सारे अवयव निश्चेष्ट हो जाते हैं और गतिविधियां रूक जाती हैं किन्तु इस जाग्रत समाधि में क्रियाशीलता तो सामान्य जनों जैसी रहती

है किन्तु अन्तरात्मा में परमात्मा भाव का प्रकटीकरण उभर कर ऊपर आता है। व्यक्ति शारीरिक क्रियाएं तो सामान्यजनों जैसी करता है पर उसकी अन्तः चेतना सर्वत्र दिव्य हो जाती है। अपना आपा सांसारिक जीवधारियों जैसा नहीं वरन् देवताओं जैसा परिलक्षित होता है। जीवनसृष्टा की धरोहर प्रतीत होता है। तुरीयावस्था की खुमारी ऐसी होती है जो एक बार चढ़ जाने पर उतरती नहीं। प्रलोभनों, आकर्षणों, दवाबों का कोई ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता जो नीचे गिरा सके और पथभ्रष्ट बना सके। हर साधक का इसी स्थिति को प्राप्त करना मुख्य लक्ष्य रहता है।¹⁶⁶

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति को प्राप्त जीव की ये तीनों अवस्थाएं परिणत एवं विवर्त होकर पुनः उसी में लीन हो जाती हैं। इसी को भारतीय विद्वान् तुरीयावस्था कहते हैं। इसी को ब्रह्म, मोक्ष, शून्य आदि नामों से पुकारा जाता है।¹⁶⁷ योगदर्शन में चित्त की अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है।¹⁶⁸ वहां चित्त शब्द आत्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। चित्त की पांच अवस्थाएं इस प्रकार हैं—

- (क) मूढ़
- (ख) क्षिप्त
- (ग) विक्षिप्त
- (घ) एकाग्र
- (ङ) निरुद्ध

(क) मूढ़—मूढ़ अवस्था वह है जिसमें तमोगुण की प्रधानता रहती है। मूढ़ चित्त केवल इन्द्रियों की सेवा में लगा रहता है। उसे और किसी बात में अभिरुचि नहीं होती।

(ख) क्षिप्त—क्षिप्त का अर्थ है फेंका हुआ। क्षिप्त चित्त में रजोगुण का बाहुल्य होता है। वह एक जगह टिकता ही नहीं। कुछ न कुछ करते रहना उसकी चर्या है। ऐसा मनुष्य बैठकर अपने अच्छे बुरे कार्यों के परिणामों को भी नहीं सोच सकता।

(ग) विक्षिप्त—विक्षिप्त चित्त में रजोगुण के साथ-साथ सत्वगुण का भी मिश्रण होता है। ऐसा चित्त बहुत सी बातों में लगा तो रहता है पर कभी-कभी किसी एक विषय पर अधिक देर तक केन्द्रीभूत भी हो जाता है। इसके साथ-साथ अपने कामों के परिणामों की ओर भी ध्यान देने का प्रयत्न करता है।

(घ) एकाग्र—यह शब्द तो सामान्य बोलचाल में भी आता है। एकाग्र का

अर्थ है किसी एक बिन्दु पर केन्द्रीभूत होना। एकाग्र चित्त में सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। वह किसी एक विषय पर बहुत देर तक टिकता है और प्रायः काम करने के पहले बुद्धि को उनके सम्बन्ध में विचार करने का अवसर देता है।

(ङ) निरुद्ध—निरुद्ध का अर्थ है रोक दिया गया। जिसकी गति बन्द कर दी गई हो वह निरुद्ध कहलाएगा। यदि किसी के चित्त की गति बन्द हो जाए अर्थात् उसमें वृत्तियों का उठना बन्द हो जाए, प्रज्ञानों का प्रवाह रुक जाए तो वह चित्त निरुद्ध कहलाएगा।

स्वामी विवेकानन्द ने चित्त की चार अवस्थाओं का ही उल्लेख किया है। उन्होंने अंतिम अवस्था निरुद्ध का उल्लेख नहीं किया। इसका कारण कदाचित् यह है कि जब चित्त का पूर्ण निरोध हो जाता है तब व्यक्ति समाज की स्थिति में पहुंचता है। इसलिए चित्त का पूर्ण रूप से निरुद्ध होना सम्भव नहीं है। चित्त की इन चार अवस्थाओं के बारे में स्वामी जी लिखते हैं कि विक्षिप्त अवस्था देवताओं के लिए स्वाभाविक है और मूढावस्था असुरों के लिए। एकाग्र चित्त समाधि की ओर ले जाता है।

आत्मा के प्रकार

आत्मा एक द्रव्य है। फिर भी पर्याय भेद के आधार पर वह अनेक रूपों में दिखाई देती है। पर्यायों के विस्तार में न जाएं तो मूलतः उसके दो भेद होते हैं—द्रव्य आत्मा और भाव आत्मा। द्रव्य आत्मा यानी चेतनामय असंख्य अविभाज्य अवयवों का समूह आत्म द्रव्य। इसमें गुण और पर्याय हैं, पर वे विवक्षित नहीं हैं। केवल शुद्ध आत्म द्रव्य की विवक्षा अन्य पर्यायों की सत्ता होने पर भी उन्हें गौण कर देती है। यह आत्मा का शुद्ध स्वरूप है, तात्त्विक स्वरूप है। भगवती सूत्र¹⁶⁹ में आत्मा के आठ प्रकारों की चर्चा का उल्लेख मिलता है—1. द्रव्यात्मा 2. कषायात्मा 3. योगात्मा 4. उपयोगात्मा 5. ज्ञानात्मा 6. दर्शनात्मा 7. चारित्रात्मा 8. वीर्यात्मा। इनमें द्रव्यात्मा तो मूल है ही, शेष सात आत्माओं का भाव आत्मा में समावेश हो जाता है। जब जिस भाव में जीव वर्तन करता है, उसकी वही आत्मा मुख्य हो जाती है। भगवती वृत्तिपत्र¹⁷⁰ में उल्लिखित है कि उपयोग रूप लक्षण सामान्यतया सभी आत्माओं में पाया जाता है किन्तु विशिष्ट गुण अथवा उपाधि को प्रधान मान कर आत्मा के आठ प्रकार बताये गये हैं—

1. **द्रव्यात्मा**—त्रिकालानुगामी देव, मनुष्य आदि विविध पर्यायों से युक्त द्रव्य रूप आत्मा द्रव्यात्मा है। यह सभी जीवों में होती है।
2. **कषायात्मा**—क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय और हास्यादि रूप नोकषाय से युक्त आत्मा कषायात्मा कहलाती है। यह आत्मा उपशान्तकषाय एवं क्षीणकषाय आत्माओं के सिवाय सभी संसारी जीवों के होती है।
3. **योगात्मा**—मन, वचन और काया के व्यापार को योग कहते हैं। तीनों योगों से युक्त आत्मा योगात्मा कहलाती है। अयोगी केवली और सिद्धों को छोड़कर शेष सभी सयोगी जीवों में यह आत्मा होती है।
4. **उपयोगात्मा**—ज्ञान, दर्शन जिसमें प्रधान हों, वह उपयोगात्मा है। आत्मा की ज्ञानात्मक एवं अनुभूत्यात्मक शक्तियां उपयोगात्मा के अन्तर्गत आती हैं। अथवा विवक्षित वस्तु के प्रति उपयोग की अपेक्षा से जिसमें वैसा उपयोग हो, वह भी उपयोगात्मा है। यह आत्मा का चेतनात्मक व्यापार है। यह सिद्ध और संसारी सभी जीवों के होती है।
5. **ज्ञानात्मा**—विशेष अवबोध रूप सम्यग्ज्ञान से विशिष्ट आत्मा को ज्ञानात्मा कहते हैं। यह चेतना के चिन्तन की शक्ति है। ज्ञानात्मा सम्यग्दृष्टि जीवों के होती है।
6. **दर्शनात्मक**—आत्मा सामान्य अवबोध रूप दर्शन से विशिष्ट आत्मा दर्शनात्मा है। यह चैतन्य की अनुभूत्यात्मक शक्ति है। दर्शनात्मा सभी जीवों के होती है।
7. **चारित्रात्मा**—चारित्र विशिष्ट गुण से युक्त आत्मा को चारित्रात्मा कहते हैं, जो विरति युक्त साधु एवं श्रावकों के होती है। यह चेतना की संकल्पात्मक शक्ति है।
8. **वीर्यात्मा**—उत्थानादिरूप कारणों से युक्त सकरण वीर्य विशिष्ट आत्मा को वीर्यात्मा कहते हैं। यह चेतना की क्रियात्मक शक्ति है। सिद्धों में सकरण वीर्य न होने से उनमें वीर्यात्मा नहीं मानी जाती। सभी संसारी जीवों के यह आत्मा होती है।

आठ आत्माओं में द्रव्यात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा और दर्शनात्मा—ये चार तात्त्विक आत्मा के स्वरूप के ही द्योतक हैं, शेष चार कषायात्मा, योगात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा—ये चारों आत्मा के अनुभवाधारित स्वरूप के निदर्शक हैं। तात्त्विक आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य होती है। यद्यपि उसमें ज्ञानादि की पर्यायें होती रहती हैं। अनुभवाधारित आत्मा चेतना की शरीर से युक्त अवस्था है। यह

परिवर्तनशील एवं विकारयुक्त होती है। आत्मा के बंधन का प्रश्न भी इसी अनुभवाधारित आत्मा से संबंधित है। विभिन्न दर्शनों में आत्म-सिद्धान्त के संदर्भ में जो पारस्परिक विरोध दिखाई देता है, वह आत्मा के इन दो पक्षों में किसी पक्ष विशेष पर बल देने के कारण होता है। भारतीय परम्परा में बौद्ध दर्शन ने अनुभवाधारित परिवर्तनशील पक्ष पर अधिक बल दिया, जबकि सांख्य और शांकर वेदान्त ने आत्मा के तात्त्विक स्वरूप पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की। जैन दर्शन दोनों ही पक्षों को स्वीकार कर उनके बीच समन्वय का कार्य करता है।

अब हमें आत्मा के परिणाम की चर्चा करनी है।

आत्मा का परिमाण

आत्मा है तो इसका कोई परिणाम होना चाहिए। यद्यपि यह अमूर्त है फिर भी संसारी अवस्था में वह कर्मसंयुक्त होने से मूर्त है। मूर्त आत्मा का निवास-स्थान भी होना चाहिए। अतः उसके परिमाण की चर्चा हम करेंगे।

उपनिषदों में आत्म-परिमाण विषय के अनेक विचार मिलते हैं। उन सभी विचारों का निष्कर्ष यदि निकाला जाए तो आत्मा की व्यापकता की ओर विशेष प्रवृत्ति दिखाई देती है।¹⁷¹ अतः वैदिक दर्शन भी आत्मा को व्यापक मानते हैं। यहां पर शंकराचार्य के अलावा बाकी के रामानुज आदि ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार अपवाद है। उन्होंने ब्रह्मात्मा को व्यापक एवं जीवात्मा को अणुपरिमाण स्वीकारा है। कौषीतकी उपनिषद् में कहा गया है—‘जैसे तलवार अपनी म्यान में और अग्नि अपने कुंड में व्याप्त है, उसी प्रकार आत्मा शरीर में नख से लेकर शिखा तक व्याप्त है।¹⁷² तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय-प्राणमय, मनोमय-विज्ञानमय, आनन्दमय—इन सब आत्माओं को शरीर प्रमाण बताया गया है।¹⁷³ कुछ ऋषि ऐसे भी थे जो आत्मा को शरीर से भी सूक्ष्म परिमाण वाली स्वीकार करते थे इसका भी प्रमाण उपनिषदों में उपलब्ध होता है। बृहदारण्यक में आत्मा को चावल या जौ के दाने जितना स्वीकार किया है।¹⁷⁴ कठोपनिषद् में उसे अंगुष्ठ परिमाण कहा है।¹⁷⁵ छांदोग्योपनिषद् आत्मा को विलस्त परिमाण स्वीकार करता है।¹⁷⁶ मैत्री उपनिषद् ने आत्म-तत्त्व को अणु से भी अणु माना है।¹⁷⁷ बाद में आत्मा को अवर्ण्य मानने पर ऋषियों ने उसे अणु से भी अणु और महान् से भी महान् मानकर सन्तोष किया।¹⁷⁸ कहा

जा सकता है कि सांख्य, न्याय-वैशेषिक आदि सभी दर्शनों ने आत्मा को व्यापक माना है।

आत्म-तत्त्व परिमाण के विषय में पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी विचार किया है। प्लेटो के अनुसार जीवात्मा का स्थान प्राणियों का शरीर है। उन्होंने आत्मा को कई भागों में विभक्त किया है—बौद्धिक, अबौद्धिक कुलीन तथा अकुलीन। उनके अनुसार आत्मा के विभिन्न भाग शरीर के विभिन्न भागों में स्थित हैं। बौद्धिक आत्मा का स्थान सिर है। अबौद्धिक कुलीन आत्मा का स्थान छाती है तथा अबौद्धिक अकुलीन आत्मा का स्थान शरीर का निचला भाग है। आधुनिक दार्शनिक रेने देकार्त ने आत्मा का स्थान मस्तिष्क के अग्रभाग में स्थित पीनियल ग्रन्थि को माना है।

प्रस्तुत सभी दर्शनों से अलग जैन दर्शन आत्मा को देह-परिमाणी मानता है। जैसे विशेषावश्यक भाष्य में आत्मा को देह-परिमाण मानने वालों की युक्तियों का सार दिया गया है। एक बात उल्लेखनीय है जो दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं, उनके मत में संसारी आत्मा के ज्ञान, सुख-दुःख इत्यादि गुण शरीर मर्यादित आत्मा में ही अनुभूत होते हैं, शरीर के बाहर आत्म-प्रदेशों में नहीं। इस प्रकार संसारी आत्मा को व्यापक माना जाए अथवा शरीर प्रमाण, संसारावस्था तो शरीर-मर्यादित आत्मा में ही है।

आत्मा को व्यापक मानने वालों के मत में जीव की भिन्न-भिन्न नरकादि गति संभव है। उनके अनुसार गति का अर्थ जीव का गमन नहीं है। वे मानते हैं कि वहां लिंग शरीर का गमन होता है और उसके बाद वहां व्याप्त आत्मा से नवीन शरीर का सम्बन्ध हो जाता है। यही प्रक्रिया जीव की गति कहलाती है। इसके विपरीत देहपरिमाणवादी जैन दर्शन मानता है कि जीव अपने कर्मण शरीर के साथ उन स्थानों में गमन करता है और नये शरीर की रचना करता है। जो दार्शनिक जीव को अणुपरिमाण मानते हैं, उनके सिद्धान्तानुसार भी जीव लिंग शरीर को साथ लेकर गमन करता है और नये शरीर की रचना करता है। अतः इससे स्पष्ट है कि गति के साथ भी आत्मा की व्यापकता को प्रकट किया है जैनेतर दार्शनिकों ने।

स्थानांग सूत्र में धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के प्रदेश तुल्य माने गये हैं। उसमें चारों द्रव्यों को असंख्य प्रदेशी माना गया

है। आचार्य हेमचन्द्र ने आत्मा के शरीर परिमाणत्व की सिद्धि करते हुए कहा है—

**यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवत् निष्प्रतिपक्षमेतत् ।
तथापि देहाद् बहिरात्मतत्त्वमतत्त्ववादोपहताः पठन्ति ॥¹⁷⁹**

जिस पदार्थ के गुण जहां उपलब्ध होते हैं, वह पदार्थ वहीं होता है, अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। आत्मा के ज्ञान आदि गुण शरीर में उपलब्ध हैं, अतः आत्मा शरीर-व्यापी ही है, व्यापक नहीं। स्याद्वादमंजरी में शरीर परिमाणत्व को अनेक तर्कों द्वारा सिद्ध किया है। आचार्य मल्लिषेण ने पूर्वपक्षियों द्वारा दिये गये आत्म-विभुत्व की अनेक शंकाओं का तर्कयुक्त समाधान दिया है। उन्होंने कहा है कि आत्मा सर्वव्यापी नहीं होती क्योंकि सभी जगह उसके गुण नहीं पाये जाते। इसमें अनुमान प्रमाण भी है कि 'यो यः सर्वत्रानुपलभ्यमान गुणः स सर्वगतो न भवति, यथा घटः तथा चायम्, तस्मात् तथा व्यतिरेक व्योमादि।' ¹⁸⁰ जिसका गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता वह सर्व व्याप्य नहीं होता। अतः आकाश की तरह आत्मा के चैतन्यादि गुण सर्वत्र उपलब्ध न होने से आत्मा देहपरिमाण ही सिद्ध होता है। ¹⁸¹ आत्मा के बुद्धि आदि गुणों का आश्रय शरीर ही होता है ¹⁸² अर्थात् आत्मा शरीर में रहकर ही पदार्थों को जानता है, अतएव शरीर ही आत्मा के उपयोग का स्थान है। यदि शरीर को उपयोग का स्थान न माना जाए तो शरीर व्यर्थ हो जाएगा। ¹⁸³

आत्मा को विभु परिमाण युक्त मानने वालों की शंका थी कि यदि आत्मा को सर्वव्यापक न माने तो अदृष्ट दूर देश में क्रिया नहीं कर सकेगा। इसके उत्तर में मल्लिषेण कहते हैं कि अदृष्ट के सर्वव्यापी होने में कोई प्रमाण नहीं है। दाहक शक्ति जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव है वैसे ही शिखा का ऊपर जाना भी अग्नि का स्वभाव ही है। ¹⁸⁴ यदि वायु का तिरछा बहना और शिखा का ऊँचा जाना अदृष्ट के कारण हो तो फिर ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानना चाहिए क्योंकि अदृष्ट ही सभी का कर्ता सिद्ध होगा। ¹⁸⁵

एक ओर आत्माओं की अनेकता को स्वीकार किया गया है, दूसरी ओर व्यापकता को। ऐसा मानने से विभिन्न दीपकों की प्रभाओं की भांति प्राणियों के शुभाशुभ कर्म फल भी मिश्रित हो जायेंगे। ¹⁸⁶ यों मिश्रित दशा में शुभ-अशुभ का निर्णय करना असंभव होने से किसी के शुभ कर्म से दूसरा सुखी एवं दूसरे के अशुभ कर्म से अन्य मनुष्य के दुःखी होने

का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।¹⁸⁷ इसके परिणामस्वरूप एक ही समय में अपने तथा दूसरे के उपार्जित शुभ कर्मों से एक ही समय में सुख-दुःख दोनों के संवेदन का प्रसंग उपस्थित होगा।¹⁸⁸

वैशेषिकों ने शरीराश्रित रहकर ही आत्मा का उपभोग स्वीकार किया है। इस दृष्टि से आत्मा या तो पूर्ण रूप से शरीर में व्याप्त होकर उपभोग करेगी अथवा आत्मा का एक अंश शरीर में व्याप्त होकर उपभोग करेगा। यदि वैशेषिक यह स्वीकार करें कि आत्मा पूर्ण रूप से शरीर में व्याप्त होकर उपभोग करती है तो जैन सिद्धान्त की ही पुष्टि होती है।¹⁸⁹ आत्मा का एक देश से या अंश रूप में शरीर में व्याप्त होकर उपभोग मानने से तो आत्मा के सावयवत्व का प्रसंग उपस्थित होगा।¹⁹⁰ इस प्रकार आत्मा का एक अंश ही उपभोग कर सकेगा, पूर्ण रूप से शरीर का उपभोग आत्मा नहीं कर सकेगी।¹⁹¹

आत्मा को विभु मानने वालों का तर्क है कि मंत्र आदि दूरवर्ती होकर भी उच्चाटन आदि क्रिया करते हैं, अतः आत्मा के भिन्न क्षेत्र में रहते हुए चैतन्यादि गुण सर्वत्र उपलब्ध हो सकते हैं। इस तर्क का प्रत्युत्तर करते हुए मल्लिषेण कहते हैं कि आकर्षण, उच्चाटन आदि गुण मंत्र के नहीं हैं। ये गुण मंत्र के अधिष्ठातृ देवताओं के हैं। अधिष्ठाता देव ही आकर्षण, उच्चाटन आदि से प्रभावित क्षेत्र में स्वयं जाते हैं।¹⁹² इसी प्रकार पुष्प आदि में रहने वाले गन्ध-पुद्गल ही नासिका इन्द्रिय तक आते हैं। अतः सिद्ध होता है कि चैतन्य युक्त आत्मा शरीर परिमाण ही होता है, शरीर के बाहर नहीं।¹⁹³

तर्कों से यह स्पष्ट है कि आत्मा व्यापक नहीं अपितु शरीर-परिमाण है। चेतन होने से आत्मा व्यापक नहीं मानी जा सकती। जो व्यापक होता है वह चेतन नहीं होता है जैसे आकाश। आत्मा चेतन है, इसलिए वह व्यापक नहीं।¹⁹⁴ इस प्रकार 'जहां जिसके गुण देखे जाते हैं वह वही होता है'—इस हेतु के आधार पर आत्मा का शरीर परिमाणत्व सिद्ध होता है।

विशेष रूप से यह कहा जा सकता है कि जैन दार्शनिकों ने अनेकान्तात्मक दृष्टि से आत्मा के देह-परिमाणत्व और व्यापकत्व का समन्वय किया है। केवल ज्ञान की दृष्टि से आत्मा को व्यापक और आत्मप्रदेश की दृष्टि से शरीर-परिमाण स्वीकार किया गया है।¹⁹⁵ उपाध्याय यशोविजय ने आत्मा की लोक प्रमित प्रदेश में व्याप्त होने की

शक्ति के कारण उसे विभु कहा है और आवरण के कारण उसे देहपरिमाण माना है।¹⁹⁶ उन्होंने दूसरी जगह कहा है कि समुद्घात अवस्था में आत्मा लोकव्यापी होता है उसी बात से दूसरों ने आत्मा को व्यापक मान लिया है, जो अर्थवादमात्र है।

अतः सारी चर्चा से समुद्घात के समय आत्मा की व्यापकता की बात समाने आती है। अब हमें देखना है कि समुद्घात के समय आत्मा की स्थिति क्या बनती है।

समुद्घात

समुद्घात में सम्+उद्+घात—ये तीन शब्द हैं। इनका व्याकरणानुसार अर्थ होता है— सम्-एकीभावपूर्वक, उत्-प्रबलता से, घात-घात करना। तात्पर्य हुआ कि एकाग्रतापूर्वक प्रबलता के साथ घात करना। भावार्थ यह है कि वेदना आदि के साथ उत्कृष्ट रूप से एकीभूत हो जाना। फलितार्थ यह हुआ कि वेदना आदि समुद्घात के समय आत्मा के वेदनादिज्ञानरूप में परिणत हो जाता है, उसे अन्य कोई भान नहीं रहता। जब जीव समुद्घातों में परिणत होता है, तब कालान्तर में अनुभव करने योग्य उन-उन कर्मों के प्रदेशों को उदीरणाकरण के द्वारा खींचकर, उदयावलिका में डालकर, उनका अनुभव करके निर्जीव कर डालता है। उन्हें आत्मप्रदेशों से पृथक् कर देता है। यही घात की प्रबलता है। पूर्वकृत कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना ही समुद्घात की निष्पत्ति है। इसका लक्षण बताते हुए राजवार्तिक में कहा—वेदनादि निमित्तों से कुछ आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात है।¹⁹⁷ गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी ऐसी ही परिभाषा मिलती है।

धवलाकार ने निरूपित किया—घात करने रूप धैर्य को घात कहते हैं, जिसका प्रकृत में अर्थ कर्मों की स्थिति और अनुभाग के विनाश इत्यादि है..... उत्तरोत्तर होने वाले घात को उद्घात कहते हैं और समीचीन उद्घात को समुद्घात कहते हैं।¹⁹⁸

गोम्मटसार में उद्धृत है—मूल शरीर को न छोड़कर तैजस कार्मण रूप उत्तर देह के साथ-साथ जीव प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं।¹⁹⁹

समुद्घात के सात प्रकार हैं²⁰⁰—1. वेदना 2. कषाय 3. मारणान्तिक 4. वैक्रिय 5. तैजस् 6. आहारक 7. केवली।

1. वेदना समुद्घात

वेदना के अनुभव में परिणत होकर जीव जब उस वेदना-अनुभव के साथ एकीभाव स्थापित कर लेता है, उस समय वह भविष्य में अनुभव-योग्य वेदनीय कर्म-प्रदेशों को उदीरणा कर उन्हें उदय में लाता है। उदय हुए पुद्गलों का अनुभव कर उनका निर्जरण कर देता है। उस समय वेदना से पीड़ित जीव अनन्तानन्त कर्मपुद्गलों से व्याप्त अपने आत्म-प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालता है और मुख एवं उदर आदि छिद्रों को तथा कान, स्कन्ध आदि के अन्तरालों को परिपूरित करके लम्बाई और विस्तार में शरीरमात्र क्षेत्र को व्याप्त अन्तर्मुहूर्त्त तक रहता है। इस अन्तर्मुहूर्त्त में असंख्यात समय होते हैं। यह समुद्घात लगभग सभी जीवों में होता है। वेदना समुद्घात के समय जीव वेदनीय कर्म पुद्गलों का निर्जरण करता है।

2. कषाय समुद्घात

कषायसमुद्घात करने वाला जीव कषायचारित्रमोहनीय कर्म के पुद्गलों का परिशाटन करता है—कषायोदययुक्त जीव अपने प्रदेशों को बाहर निकालता है। उन प्रदेशों से मुख, उदर आदि छिद्रों को तथा कान, स्कन्ध आदि अन्तरालों को पूरित करता है। लम्बाई तथा विस्तार से शरीरमात्र क्षेत्र को व्याप्त करके रहता है। ऐसा करके वह बहुत से कषायकर्मपुद्गलों का परिशाटन करता है—झाड़ देता है। यह भी सभी जीवों के अनन्त बार हुआ, होता है और होगा। कषायसमुद्घात से समवहत हुआ जीव जिन कषाययोग्य पुद्गलों को अपने शरीर से बाहर निकालता है, वे पुद्गल विस्तार और स्थूलता की अपेक्षा शरीरप्रमाण होते हैं, वे नियम से छहों दिशाओं को व्याप्त करते हैं। अर्थात् शरीर का जितना विस्तार और जितनी मोटाई होती है, उतना ही क्षेत्र उन पुद्गलों से परिपूर्ण और स्पृष्ट होता है। अपने शरीर प्रमाणमात्र विस्तार और मोटाई वाला क्षेत्र सतत एक समय, दो समय अथवा तीन समय की विग्रह गति से, जितना क्षेत्र व्याप्त किया जाता है, उतनी दूर तक कषाय उत्पादक पुद्गलों से आपूर्ण एवं स्पृष्ट होता है। आशय है कि अधिक से अधिक तीन समय के विग्रह द्वारा जितना क्षेत्र व्याप्त किया जाता है, उतना क्षेत्र आत्म-प्रदेशों से बाहर निकाले हुए कषाय उत्पन्न करने योग्य पुद्गलों द्वारा परिपूर्ण होता है। जीव उन कषायजनक पुद्गलों को जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त से कुछ अधिक काल में बाहर

निकालता है। उस जीव के पांचों ही क्रियाएं लगती हैं।

3. मारणान्तिक समुद्घात

जीव का आयुष्य जब अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है तो वह मारणान्तिक समुद्घात करता है। इस समुद्घात में परिणत जीव अपने आत्म-प्रदेशों को चौड़ाई में शरीर प्रमाण तथा लम्बाई में जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण, उत्कर्षतः असंख्य-योजन-प्रमाण क्षेत्र तक एक ही दिशा में अगले जन्म में उत्पन्न होने के स्थान तक फैला देता है। सब जीव मारणान्तिक समुद्घात के द्वारा नहीं मरते। जिनका अंतिम समय कष्टमय होता है, वे ही जीव मारणान्तिक समुद्घात करते हैं। मरण के अन्त में होने के इसका नाम मारणान्तिक समुद्घात है।

कोई जीव मारणान्तिक समुद्घात एक बार करता है। वह अपने उत्पत्ति स्थान में जाकर वहीं उत्पन्न हो जाता है। कोई जीव उसका प्रयोग दो बार करता है। वह मारणान्तिक समुद्घात के द्वारा अपने अग्रिम जन्म के उत्पत्ति स्थान तक पहुंचकर लौट आता है। पूर्व स्थिति में आकर फिर मारणान्तिक समुद्घात का प्रयोग कर मरता है। मारणान्तिक समुद्घात करने वाला आयुष्य कर्म के पुद्गलों का परिशाटन करता है।

4. वैक्रिय समुद्घात

वैक्रिय समुद्घात करने वाला जीव अपने प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर शरीर के विस्तार और मोटाई के बराबर तथा लम्बाई में संख्यातयोजनप्रमाण दण्ड निकालता है। फिर यथासम्भव वैक्रियशरीरनामकर्म के स्थूल पुद्गलों का परिशाटन करता है। यह वैक्रियशरीर वालों के ही होता है त्रिकाल में। भगवती सूत्र में भी समुद्घात विषयक वर्णन मिलता है।²⁰¹ वैक्रिय समुद्घात का प्रयोग विक्रिया के लिए किया जाता है। इस समुद्घात का प्रयोग करने वाला वैक्रिय शरीर नामकर्म के पुद्गलों का परिशाटन अथवा निर्जरण करता है। भट्ट अकलंक ने विक्रिया के दो प्रकारों का निर्देश किया है—एकत्व विक्रिया और पृथक्त्व विक्रिया।

एकत्व विक्रिया—अपने शरीर का सिंह आदि के रूप में परिवर्तन करना। उदाहरण स्वरूप स्थूलभद्र को लिया जा सकता है। स्थूलभद्र की बहनें अपने मुनि भाई का दर्शन करना चाहती थीं। उन्होंने श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी से पूछा—हमारे भाई कहां हैं। भद्रबाहु ने कहा—गुफा में ध्यान कर रहा है। वे गुफा की ओर गईं, स्थूलभद्र ने अपनी बहनों के

आने की बात जान ली, सिंह का रूप बनाकर बैठ गए। बहनों ने गुफा में सिंह को देखा और वे मुड़कर वापस भद्रबाहु के पास आ गईं। भद्रबाहु के संकेतानुसार दूसरी बार गईं तो गुफा में स्थूलभद्र बैठे थे।

पृथक्त्व विक्रिया—अपने शरीर से भिन्न प्रासाद, मण्डप आदि का निर्माण करना।

5. तैजस् समुद्घात

तेजोलेश्या सम्पन्न पुरुष अपने आत्मा-प्रदेशों का शरीर से बाहर प्रक्षेपण करता है। वे चौड़ाई और मोटाई में शरीर प्रमाण होते हैं तथा लम्बाई में संख्यात योजन प्रमाण दण्ड का निर्माण करते हैं। प्रयोक्ता पुरुष तैजस शरीर नामकर्म के पुद्गलों का परिशाटन और तद्योग्य अन्य पुद्गलों का ग्रहण कर तेजोलेश्या का प्रयोग करता है। इसका उद्देश्य होता है—अनुग्रह और निग्रह करना। अनुग्रह के लिए शीतल तेजोलेश्या और निग्रह के लिए उष्ण तेजोलेश्या का प्रयोग किया जाता है। आधुनिक विज्ञान परमाणु-शक्ति का उपयोग निर्माण और ध्वंस दोनों के लिए कर रहा है, वैसे ही तेजोलब्धि भी निर्माण और ध्वंस दोनों के लिए प्रयुक्त की जाती थी। तैजस् समुद्घात का प्रयोग करने वाला तैजस् शरीर नामकर्म का निर्जरण करता है।

6. आहारक समुद्घात

आहारक लब्धि से सम्पन्न मुनि आहारक शरीर का निर्माण करने के लिए अपने आत्म-प्रदेशों का बाहर प्रक्षेपण करता है। वे चौड़ाई और मोटाई में शरीर प्रमाण होते हैं तथा लम्बाई में संख्यात-योजन-प्रमाण दण्ड का निर्माण करते हैं। प्रयोग करने वाला पूर्वबद्ध आहारक शरीर नामकर्म के पुद्गलों का परिशाटन और तद्योग्य अन्य पुद्गलों को ग्रहण कर आहारक शरीर का निर्माण करता है। सिद्धसेन गणी के अनुसार उस शरीर का जघन्य प्रमाण एक रत्नि-बंधी मुट्टी वाले हाथ जितना और उत्कृष्ट प्रमाण पूरे हाथ जितना होता है।

आहारक शरीर के निर्माण का प्रयोजन-तत्त्वार्थ भाष्य के अनुसार इसका प्रयोजन है—सन्देह निवारण। आहारक लब्धि-सम्पन्न चतुर्दश पूर्वधर मुनि किसी अत्यन्त गहन विषय में संदिग्ध हो जाता है, तब सन्देह निवारण के लिए वह आहारक शरीर का निर्माण कर उसे केवली के पास संप्रेषित करता है। वह अपने सन्देह का समाधान पाकर फिर अपने मूल शरीर में आ तदवस्थ हो जाता है।²⁰²

सिद्धसेन गणी ने चतुर्दशपूर्वी की दो श्रेणियों का उल्लेख किया है—भिन्नाक्षर और अभिन्नाक्षर। जिसे प्रत्येक अक्षर के श्रुतगम्य पर्यायों का भिन्न अथवा परिस्फुट ज्ञान होता है, वह भिन्नाक्षर चतुर्दशपूर्वी कहलाता है। वही श्रुतकेवली कहलाता है। उसके मन में श्रुतज्ञान विषयक कोई संशय नहीं होता, इसलिए वह आहारक समुद्घात का प्रयोग नहीं करता। अभिन्नाक्षर चतुर्दशपूर्वी को अक्षर-पर्यायों का परिस्फुट ज्ञान नहीं होता, इसलिए वह श्रुत विषयक अर्थ का सन्देह उत्पन्न होने पर यदि आहारक लब्धि सम्पन्न हो, तो उसका प्रयोग कर लेता है।²⁰³

भट्ट अकलंक ने आहारक समुद्घात के प्रयोग के तीन प्रयोजनों का निर्देश किया है—1. आहारक लब्धि के सद्भाव का ज्ञान 2. सूक्ष्म पदार्थ का निर्धारण 3. संयम परिपालन।²⁰⁴ धवला के अनुसार—आहारक समुद्घात के प्रयोग से निर्मित आहारक शरीर एक हस्त प्रमाण, सर्वांग सुन्दर, समचतुरस्र संस्थान से युक्त, हंस के समान धवल, रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र—इन सात धातुओं से रहित विष, अग्नि एवं शस्त्रादि बाधाओं से मुक्त, वज्र, शिला, स्तम्भ, जल व पर्वतों में से गमन करने में दक्ष तथा मस्तक से ऊंचा होता है।²⁰⁵ द्रव्यसंग्रह की टीका के अनुसार—आहारक समुद्घात का प्रयोग करने वाला अपने मस्तिष्क से एक निर्मल स्फटिक के रंग का एक हाथ का पुतला निकालता है। वह पुतला जहां कहीं केवली होते हैं, वहां संशय का निवारण कर, प्रश्नकर्ता को समाधान दे, पुनः अपने शरीर में प्रवेश कर जाता है।²⁰⁶ आहारक समुद्घात का प्रयोग करने वाला आहारक शरीर नाम कर्म के पुद्गलों का परिशाटन करता है।

7. केवलीसमुद्घात

आवश्यक चूर्ण में कहा गया—जिस प्रयत्न में प्रबलता से कर्मों की स्थिति और अनुभाग का समीचीन उद्घात होता है, वह केवली समुद्घात है। उनमें उदीरणावलिका में प्रविष्ट कर्मपुद्गलों का प्रक्षेपण होता है—वेदनीय कर्म को आयुष्य कर्म के समान करने के लिए सब आत्मप्रेदशों का लोकाकाश में निस्सरण होता है और कर्मों का शीघ्रता से क्षय होता है।²⁰⁷

अन्तर्मुहूर्त्त से लेकर अधिकतम छह माह आयु शेष रहने पर जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त होता है, वे निश्चित रूप से समुद्घात करते हैं। कैवल्यप्राप्ति के समय जिनकी आयु छह माह से अधिक होती है, वे

समुद्घात नहीं करते। कैवल्यप्राप्ति के समय जिनकी आयु छह माह से अधिक है उनकी जब छह माह आयु शेष रहती है, तब उनमें से कुछ समुद्घात करते हैं, कुछ नहीं करते अथवा जिनके वेदनीय आदि कर्म अधिक तथा आयुष्य कर्म अल्प होता है, वे केवली नियमतः समुद्घात करते हैं।²⁰⁸ यही बात विशेषावश्यक भाष्य में मिलती है। प्रज्ञापना में भी ऐसा ही प्रयोजन मिलता है। वहां गाथाओं के माध्यम से यह बात कही गई है।²⁰⁹

केवलीसमुद्घात के समय के विषय में मिलता है²¹⁰—वह आठ समय का कहा गया है, वह इस प्रकार है—प्रथम समय में दण्ड की रचना करता है, द्वितीय समय में कपाट की रचना करता है, तृतीय समय में मन्थान करता है, चौथे समय में लोक को व्याप्त करता है, पंचम समय में लोक-पूरण को समेटता है, छठे समय में मन्थान को सिकोड़ता है, सातवें समय में कपाट को सिकोड़ता है और आठवें समय में दण्ड को सिकोड़ता है और दण्ड का संकोच करते ही शरीरस्थ हो जाते हैं।

समुद्घात के समय केवली केवल काययोग का प्रयोग करता है। औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, कार्मणकाययोग का प्रयोग क्रमशः प्रथम और अष्टम, द्वितीय, षष्ठ और सप्तम तथा तृतीय, चतुर्थ और पंचम समय में करते हैं। शेष वैक्रिय-वैक्रियमिश्र, आहारक-आहारकमिश्र काययोग का प्रयोग वे नहीं करते।²¹¹ ऐसी स्थिति में क्या केवली सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होते हैं? भगवान् समाधान देते हैं—यह बात शक्य नहीं है। पहले वे उससे प्रतिनिवृत्त होते हैं। तत्पश्चात् वे मनोयोग का उपयोग करते हैं, वचनयोग और काययोग का भी उपयोग करते हैं। मनोयोग एवं वचनयोग का उपयोग करते हुए वे सत्यमनोयोग, असत्यामृषामनोयोग, सत्यवचनयोग, असत्यामृषावचनयोग का भी उपयोग करता है। काययोग का उपयोग करता हुआ केवली आता है, जाता है, ठहरता है, बैठता है, करवट बदलता है, लांघता है अथवा विशेष रूप से लांघता है या वापस लौटाये जाने वाले पीठ, पट्टा, शय्या तथा संस्तारक वापस लौटाता है।

ऐसे केवली सर्वप्रथम मनोयोग का निरोध करते हैं, तत्पश्चात् वचनयोग का निरोध करते हैं और अन्त में काययोग का निरोध करते हैं। योग निरोध करके वे अयोगत्व प्राप्त कर लेते हैं। अयोगत्वप्राप्ति के

अनन्तर ही धीरे से पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण जितने काल में असंख्यात सामयिक अन्तर्मुहूर्त तक होने वाले शैलेशीकरण को अंगीकार करते हैं। पूर्वरचित गुणश्रेणियों वाले कर्म को उस शैलेशीकाल में असंख्यात कर्मस्कन्धों का क्षय कर डालते हैं। क्षय करके वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—इन चार कर्मों का एक साथ क्षय कर देते हैं। इन चार कर्मों का युगपत् क्षय करके ही औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर का पूर्णतया सदा के लिए त्याग कर देते हैं। इन शरीरत्रय का पूर्णतः त्याग करके ऋजुश्रेणी को प्राप्त होकर अस्पृशत् गति से एक समय में अविग्रह से ऊर्ध्वगमन कर साकारोपयोग से उपयुक्त होकर वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिर्वृत्त हो जाते हैं तथा सर्वदुःखों का अन्त कर देते हैं।

यों निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आत्मा देहपरिमाणी होते हुए भी विभिन्न रूपों में अपने प्रदेशों को लोकव्यापी करता है। चूंकि समुद्घात सभी जीवों के नहीं होता, अतः मूलतः तो उसे देहपरिमाण स्वीकार करना होगा। वह तो सिर्फ उन-उन विशेष समयों में लोक में व्याप्त होता है। इसलिए आत्मा का देहपरिमाण सिद्ध होता है।

इस प्रकार चतुर्थ अध्याय में आत्म-स्वरूप आदि पर प्रकाश डाला गया।

संदर्भ ग्रन्थ

1. संस्कृत धातु कोष, पृ. 6
2. वही, पृ. 1
3. निरुक्त, 3. 15
4. संस्कृतधातु कोष, पृ. 6
5. कठोपनिषद्, 2. 1. 1
6. लिंगपुराण, 1. 70. 96
7. वायुपुराण, पूर्वार्ध, 75. 32
8. भारतीय दर्शन परिभाषा कोष, पृ. 42
9. हलायुध कोष, पृ. 149
10. प्रस्थान रत्नाकर, पृ. 173
11. प्रमेय रत्नावली, 1. 7
12. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य वृत्ति, पत्र 52
13. समयसार, आत्मख्याति टीका, श्लोक 8
14. द्रव्यसंग्रह, गा. 57

15. संस्कृत धातु कोष, पृ. 49
16. अमरकोश, 2, 8. 110
17. अनुयोगद्वार, 242
18. श्री चान्द्रकुलीनाचार्याभयसूरि सूत्रित विवरणयुक्तं श्री स्थानांग सूत्रम् 19
19. प्रवचनसार, मूल, 147
20. समयसार, मूल, 49
21. सर्वार्थसिद्धि, 1. 4. 14. 3
22. द्रव्यसंग्रह, मूल, 3
23. संस्कृत धातु कोष, पृ. 5
24. भगवती वृत्तिपत्र, 276
25. पंचसंग्रह, 1. 45
26. महाभारत, 12. 315. 35
27. भगवती वृत्तिपत्र 776
28. पंचास्तिकाय, 30
29. संस्कृत धातु कोष, पृ. 85
30. सर्वार्थसिद्धि, 6. 12. 330. 10
31. लिंगपुराण, 70. 102
32. वायुपुराण, 9. 35
33. भगवती वृत्तिपत्र, 776
34. उ. सूत्र, 555
35. अमरकोश, 3. 3. 213
36. पंचाध्यायी, 143
37. सर्वार्थसिद्धि, 7. 11. 349
38. भगवती वृत्तिपत्र, 776
39. संस्कृत धातु कोष, पृ. 50
40. भगवती वृत्तिपत्र, 776
41. संस्कृत धातु कोष, पृ. 113
42. धवला, 1. 1. 1, 2. 119. 3
43. भगवती वृत्तिपत्र, 776
44. वही
45. संस्कृत धातु कोष, पृ. 48
46. भगवती वृत्तिपत्र, 776
47. अमरकोश, 2. 8. 77
48. संस्कृत धातु कोष, पृ. 98
49. भगवती वृत्तिपत्र, 776
50. वही
51. संस्कृत धातु कोष, पृ. 142

52. अमरकोश, 3. 5. 20
53. संस्कृत धातु कोष, पृ. 89
54. लिंगपुराण पू., 70. 213
55. भगवती वृत्तिपत्र, 777
56. धवला, 1. 1. 1, 2. 119. 3
57. संस्कृत धातु कोष, पृ. 23
58. भगवती वृत्तिपत्र, 777
59. बृहद् नयचक्र, 376
60. समयसार, 312—313
61. अष्टाध्यायी, 3. 2. 38, 6. 4. 40
62. भगवती वृत्तिपत्र, 777
63. संस्कृत धातु कोष, पृ. 47
64. महापुराण, श्लोक 103—105
65. ऋग्वेद, 1. 64, 5. 10. 140, 4
66. भगवती वृत्तिपत्र, 777
67. अष्टाध्यायी, 2. 32. 188 पृ. 10
68. वही, 2. 32. 10 पृ. 142
69. भगवती वृत्तिपत्र, 777
70. संस्कृत धातु कोष, पृ. 85
71. भगवती वृत्तिपत्र, 777
72. लिंगपुराण, 70. 104
73. वायुपुराण, 4. 41. 5. 40
74. मनुस्मृति, 1. 3
75. भगवती वृत्तिपत्र, 777
76. संस्कृत धातु कोष, पृ. 72
77. भगवती वृत्तिपत्र, 777
78. टाणांग, 1. 2
79. धवला, 13. 5. 5, 5. 282. 9
80. समयसार, आत्मख्याति, गाथा 8
81. द्रव्यसंग्रह, टीका—24. 46
82. स्कम्भसूक्त, 10. 7, 8, उच्छिष्ट सूक्त 11. 9
83. छांदोग्योपनिषद्, 111, 144
84. कठोपनिषद्, 1. 3—4
85. भगवद्गीता, 2. 20
86. वही, 2. 23
87. न्यायसूत्र, 1. 1. 9
88. वही

89. नैयायिक सूत्र, कारिका 47
90. वैशेषिक सूत्र, 3. 2. 4
91. सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ. 135
92. मी. प्र., पृ. 64
93. भगवती, 1. 1. 24, जीवाजीवाभिगम सूत्र, 1. 7
94. तत्त्वार्थसूत्र, 2. 12
95. सर्वार्थसिद्धि, 2. 12
96. उत्तराध्ययन, 36. 69, 72
97. तत्त्वार्थ सूत्र, 2. 14
98. उत्तराध्ययन, 36. 70
99. सर्वार्थसिद्धि, 2. 129
100. तत्त्वार्थसूत्र, 2. 13
101. गोम्मटसार, गाथा 556
102. ज्ञानार्णव, 6. 20, 6. 22
103. गोम्मटसार, 556—557
104. धवला, 1. 1. 1. 35
105. सर्वार्थसिद्धि, 2. 24
106. तत्त्वार्थसूत्र, 2. 22
107. तत्त्वार्थवार्तिक, 2. 13 पृ. 127
108. गोम्मटसार, गाथा 201
109. उत्तराध्ययन, 36. 70—83
110. मूलाचार, 5. 14, जीवाजीवाभिगम सूत्र, 1. 16
111. उत्तराध्ययन, 36. 84—91
112. गोम्मटसार, गाथा 201
113. उत्तराध्ययन, 37. 108—116
114. मूलाचार, 5. 15
115. प्रज्ञापना, 1. 23
116. उत्तराध्ययन, 36. 125
117. गोम्मटसार, 175
118. उत्तराध्ययन 36. 92—105
119. धवला, 1. 9. 1. 41
120. गोम्मटसार, जीवतत्त्व प्रदीपिका, 185
121. वही
122. उत्तराध्ययन, 36. 127—135
123. जीवाजीवाभिगमसूत्र, 1. 22, पन्नवणासुत्त, 1. 20, 1. 44
124. मूलाचार, 5. 28
125. उत्तराध्ययन, 36. 136—144

126. मूलाचार, 1. 28, धवला, 1. 1. 1. 33
127. उत्तराध्ययन, 36. 1
128. पंचास्तिकाय, गाथा 116
129. धवला, 1. 1. 1. 33
130. गोम्मटसार, गा. 146
131. उत्तराध्ययन, 36. 156–169
132. गोम्मटसार, 147, धवला 1. 1. 1. 24
133. सर्वार्थसिद्धि, 3. 39
134. नियमसार, 1. 17
135. उत्तराध्ययन, 36. 170, 194
136. गोम्मटसार, गा. 79, 91
137. धवला, 1. 1. 1. 24
138. उत्तराध्ययन, 36. 195, 203
139. सर्वार्थसिद्धि, 4. 1, धवला, 1. 1. 1. 24
140. उत्तराध्ययन, 36. 204, 247
141. मोक्षपाहुड, गाथा 4
142. समाधिशतक, पद्य 4
143. परमात्मप्रकाश, 1. 11, 12; योगसार, 6
144. ज्ञानार्णव, 32. 5
145. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 192
146. ज्ञानसार, गाथा 29
147. द्रव्यसंग्रह, टीका गाथा 14
148. कठोपनिषद्, अध्याय 1. 3. 13
149. परमात्मप्रकाश की अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ. 31
150. नियमसार, गा. 149–50, योगसार, गा. 7, समाधितंत्र, 7
151. द्रव्यसंग्रह टीका, गा. 14
152. रयणसार, गा. 141; समाधितंत्र, 5, परमात्मप्रकाश, 14
153. मोक्षपाहुड, गा. 5
154. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. 197, नियमसार, गा. 149
155. वही, गा. 196, द्रव्यसंग्रह, गा. 141
156. सत्यशासन परीक्षा, का. 1
157. मोक्षपाहुड, गा. 5, समाधितंत्र 5, परमात्मप्रकाश, 30–42
158. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. 192
159. वही, 198
160. नयचक्र, गा. 340, नियमसार, गा. 6
161. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4. 3. 9
162. प्रश्नोपनिषद्, 4. 2

163. वही, 4. 3
164. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2. 1. 17. 4
165. वेदान्त दर्शन, 3. 2. 8
166. अखण्ड ज्योति, अक्टूबर 87 पृ. 28
167. योग एवं चित्त विकलन, पृ. 98
168. पातंजल योगदर्शन, पृ. 80—81
169. भगवती, 12. 10. 467
170. भगवती वृत्तिपत्र, 589
171. मुण्डकोपनिषद्, 1.1.6, न्यायमंजरी, पृ. 468 (विजय), प्रकरणम्, पृ. 158
172. कौषीतकी उपनिषद्
173. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1. 2
174. बृहदारण्यकोपनिषद्, 5. 6. 1
175. कठोपनिषद्, 2. 2. 12
176. छांदोग्योपनिषद्, 5. 18. 1
177. मैत्री उपनिषद्, 6. 38
178. कठोपनिषद्, 1.2.20, छांदोग्योपनिषद्, 3.14.3, श्वेताश्वरोपनिषद्, 3.20
179. अन्ययोगव्यवच्छेदिका, गा. 1
180. स्याद्वादमंजरी, पृ. 68
181. वही, पृ. 67
182. वही, पृ. 68
183. वही, पृ. 68 पर उद्धृत न्यायकन्दलीकार का कथन
184. वही, पृ. 69
185. वही
186. वही, पृ. 69
187. वही
188. वही
189. वही, पृ. 70
190. वही
191. वही
192. वही, पृ. 68
193. वही, पृ. 67—68
194. स्याद्वादमंजरी, पृ. 74
195. द्रव्यसंग्रह, बृहत्, गा. 10
196. न्यायखण्डशास्त्र
197. शास्त्रवार्तासमुच्चय, यशोविजयटीका, पृ. 338
198. धवला, 1. 1, 1. 60. 300. 6
199. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा. 668

200. पण्णवणा, 4. 20. 85
201. भगवतीसूत्र, 2. 2. 74
202. तत्त्वार्थसूत्र भाष्यनुसारिणी टीका सहित, 2. 49
203. वही
204. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 2. 49
205. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 1, पृ. 296
206. वही
207. आवश्यकचूर्णि, 1 पृ. 579
208. वही, पृ. 570
209. पण्णवणा, 36. 2170, गा. 228—230
210. वही, 36. 2171—2175
211. वही (प्रमेयबोधिनी टीका) भाष्य 5. 113—1132

पंचम अध्याय संसारि आत्मा एवं मुक्त आत्मा का स्वरूप

संसारि आत्मा का स्वरूप

जीव की दो प्रकार की स्थितियां बनती हैं। वह या तो संसार में परिभ्रमण करता है, या सांसारिक बन्धनों का उच्छेद कर मुक्ति का वरण कर लेता है। सांसारिक जाल में जब तक उलझा रहता है, तब तक प्रतिक्षण नये बन्धन उसे जकड़ते रहते हैं। जितना—जितना उस जाल से मुक्त होने का प्रयत्न करता है, उतना—उतना ज्यादा उसमें फंसता जाता है। संसार में परिभ्रमित जीव को ही संसारि आत्मा कहा जाता है।

मनुष्य ने जब चिन्तन करना प्रारंभ किया तब से ही उसके मन में मूल तत्त्व के प्रति जिज्ञासा बनी हुई है। इस सृष्टि का मूल तत्त्व क्या है? यह खोज चिरकाल से चली आ रही है। उपनिषद् के ऋषि और यूनान के दार्शनिक इस खोज में संलग्न रहे हैं और उन्होंने विभिन्न मतों का प्रतिपादन किया है। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार केवल वही तत्त्व इस वस्तु जगत् का परम सत्य है, जिससे समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है, जो समस्त वस्तुओं की सत्ता का आधार है और जिसमें अन्ततः सभी वस्तुओं का लय होता है।¹ तैत्तिरीय का ऋषि कहता है—पहले असत् था, उससे सत् उत्पन्न हुआ है।² बृहदारण्यक में भी असत् से सत् की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है।³ छांदोग्य उपनिषद् में असत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित है।⁴ छांदोग्य का दूसरा ऋषि कहता है कि असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? पहले एकमात्र सत् था और इससे ही सृष्टि का निर्माण हुआ है।⁵ सत्कारणवादी ऋषि भी एकमत नहीं हैं। बृहदारण्यक के अनुसार जगत् का मूल स्रोत जल (द्रवावस्था) है।⁶

ग्रीक दार्शनिक थैलिज (Thales) भी जल को जगत् का मूल

स्रोत मानता है।⁷ उसके अनुसार सृष्टि के प्रारंभ में केवल जल का ही अस्तित्व था। उपनिषद् का रैक्व नामक ऋषि वायु में समस्त पदार्थों का निलय मानता है।⁸ ग्रीक दार्शनिक एनेक्जीमेनस (Anaximenes) के अनुसार वायु समस्त वस्तुओं का आदि और अन्त है।⁹ ग्रीक दार्शनिक एनेक्जीमेण्डर (Anaximander) के अनुसार थिओस (Theos) नामक उपादान रूप भौतिक पदार्थ जो पूरे आकाश में व्याप्त था, सृष्टि का आदि और अन्त है। यह पृथ्वी, पानी आदि से भिन्न है।¹⁰ उपनिषद् में अग्नि को मूल तत्त्व मानने का सिद्धान्त स्पष्ट प्रतिपादित नहीं है।¹¹ हेराक्लाइटस (Heraclitus) अग्नि को मूल पदार्थों का स्रोत मानता है।¹² प्रवाहण जैवलि ने आकाश को मूल तत्त्व बतलाया है। प्रवाहण जैवलि से पूछा गया कि पदार्थों की चरम गति क्या है? उन्होंने उत्तर की भाषा में कहा—आकाश। उनके अनुसार सब पदार्थों का उद्भव आकाश से ही होता है और अन्त में आकाश में ही उनका निलय हो जाता है।¹³

यदि उपनिषदों के विभिन्न विषयों के नाना अभिमतों को सार-संक्षेप में प्रस्तुत किया जाए तो निष्कर्ष यह होगा—

1. जगत् का मूल तत्त्व है असत्।
2. जगत् का मूल तत्त्व है सत्।
3. जगत् का मूल तत्त्व है अचेतन।
4. जगत् का मूल तत्त्व है चेतन या आत्मा।

वैदिक ऋषि कहते हैं—उस समय प्रलय-दशा में असत् भी नहीं था और सत् भी नहीं था। पृथ्वी भी नहीं थी। आकाश भी नहीं था। आकाश में विद्यमान सात भुवन भी नहीं थे। प्रकृत तत्त्व को कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करता है? यह सृष्टि किन उपादान कारणों से हुई है? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियां हुईं? कहां से सृष्टि हुई यह कौन जानता है? ये सब वे ही जानें जो इनके स्वामी परमधाम में रहते हैं। हो सकता है, वे भी यह सब नहीं जानते हों।¹⁴

सृष्टिविषयक इन विभिन्न मतवादों के संदर्भ में रोह के प्रश्नों का मूल्यांकन किया जा सकता है। रोह के प्रश्न और महावीर के उत्तर के अध्ययन से सृष्टि के अनादित्व का सिद्धान्त फलित होता है।

दूसरी तरफ देखा जाए तो जीव और अजीव का सिद्धान्त भी नया तथ्य देता है। भगवान् महावीर के अनुसार जीव अजीव का प्रतिपक्ष और अजीव जीव का प्रतिपक्ष है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सिद्ध

नहीं होता। दोनों का अस्तित्व परस्पर सापेक्ष है, इसलिए न जीव अजीव से उत्पन्न होता है और न अजीव जीव से उत्पन्न होता है। संक्षेप में मूल तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। विस्तार में मूल तत्त्व छह हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल। इनमें पांच तत्त्व अजीव और एक जीव है।

जीव-अजीव के पौर्वापर्य का अभाव सृष्टि-रचना के सन्दर्भ में एक नयी अवधारणा प्रस्तुत करता है। सृष्टि-रचना के सन्दर्भ में दर्शन की धाराओं को दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है—अद्वैतवाद और द्वैतवाद। अद्वैतवादी दार्शनिक चेतन या अचेतन का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जीव और अजीव में से किसी एक तत्त्व का वास्तविक अस्तित्व है। इस विषय में अद्वैतवाद की तीन मुख्य शाखाएं हैं—1. जड़द्वैतवाद 2. चैतन्याद्वैतवाद 3. जड़चैतन्याद्वैतवाद।

जड़द्वैतवाद के अनुसार जीव की उत्पत्ति अजीव से हुई है। अनात्मवादी चार्वाक और क्रमविकासवादी दार्शनिक इसी मत के समर्थक हैं।

चैतन्याद्वैतवाद के अनुसार सृष्टि का आदि कारण ब्रह्म है। वैदिक ऋषि कहते हैं—अप्रत्यक्ष ब्रह्म में ही सद्भाव प्रतिष्ठित है। इसी सत् में सृष्टि के उपादानभूत पृथ्वी आदि निहित हैं, वे इसी से उत्पन्न होते हैं।¹⁵ ब्रह्म तीनों लोकों से अतीत है। उसने यह सोचा कि मैं किस प्रकार लोगों में प्रविष्ट हुआ।¹⁶

जड़चैतन्याद्वैतवाद के अनुसार जगत् की उत्पत्ति जीव और अजीव—इन दोनों गुणों के मिश्रण से हुई है। जड़द्वैतवाद और चैतन्याद्वैतवाद—ये कारणानुरूप कार्योत्पत्ति के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते।

द्वैतवादी दर्शन जड़ और चैतन्य दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हैं। इनके अनुसार जड़ से चैतन्य या चैतन्य से जड़ उत्पन्न नहीं होता। कारण के अनुरूप ही कार्य का प्रादुर्भाव होता है। जैन दृष्टि के अनुसार विश्व एक शिल्पगृह है। उसकी व्यवस्था स्वयं उसी में समाविष्ट नियमों द्वारा होती है। ये नियम जीव और अजीव के विविध जातीय संयोग से स्वतः निष्पन्न हैं।

भगवती सूत्र में जगत् की संचरना के घटक तत्त्वों का अनादित्व बतलाया गया है। वे घटक तत्त्व छह हैं—अलोक, अवकाशान्तर, तनुवात,

घनवात, घनोदधि और पृथ्वी। घनोदधि, घनवात एवं तनुवात की वैज्ञानिक दृष्टि से मीमांसा की जाए तो आधुनिक विज्ञानानुसार प्रत्येक पदार्थ की तीन अवस्थाएं होती हैं—ठोस या घन (Solid), तरल (Liquid) और वायु (Gas)। जैसे—पानी सामान्य तापमान पर तरल अवस्था में होता है। तापमान 100° सेंटीग्रेट होने पर वह वाष्प (या वायु) अवस्था में परिणत हो जाता है तथा तापमान 0 (शून्य) डिग्री सेंटीग्रेट होने पर बर्फ (या ठोस अवस्था) में परिणत हो जाता है। यही स्थिति हवा की है। हवा (Air) अपने आपमें नाइट्रोजन, आक्सीजन, आर्गोन आदि वायुओं का मिश्रण है। सामान्य तापमान एवं दबाव की स्थिति में वह सदा वायु अवस्था में रहती है। सामान्य दबाव की स्थिति में शून्य से 190° सेंटीग्रेट कम तापमान पर हवा तरल हो जाती है तथा शून्य से 260° कम तापमान पर हवा ठोस हो जाती है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त घनोदधि और घनवात से यदि यह तात्पर्य लिया जाए कि जब संपूर्ण वातवलय तरल रूप धारण कर ले तब उसे घनोदधि और ठोस रूप धारण कर ले तब घनवात कहा जाए, तो ऐसा माना जा सकता है कि घनोदधि अवस्था में तापमान 190° सेंटीग्रेट तथा घनवात अवस्था में तापमान 260° सेंटीग्रेट होता है। तरल अवस्था में हवा (Liquid air) का रंग थोड़ा नीला—सा हो जाता है तथा वह बहुतांश में पानी जैसी ही लगती है।

पृथ्वी के चारों ओर हवा का जो वातावरण है, उसमें भी भिन्न—भिन्न स्तर या वलय हैं। पृथ्वीतल से लगभग 50 मील (80 किलोमीटर) ऊपर जाने के पश्चात् जो स्तर है उसे थर्मोस्फीयर कहा जाता है, जहां हवा बहुत ही पतली हो जाती है। इसकी तुलना तनुवात से की जा सकती है। यह वलय 300 मील (480 कि. मी.) तक फैला हुआ है। थर्मोस्फीयर के नीचे मेसोस्फीयर है जो बहुत ठंडा होता है, जहां का तापमान 93° सेंटीग्रेट तक हो जाता है।¹⁷

आकाश पोले गोले के समान है।¹⁸ वह लोक के चारों ओर व्याप्त है। लोक उसमें समाया हुआ है। उपमा की भाषा में इसे आगासथिग्गल—आकाशरूपी वस्त्र की एक कारी या थिगली कहा जा सकता है।¹⁹ अलोक की सीमा से सातवां अवकाशान्तर सटा हुआ है। उसके ऊपर सातवां तनुवात, फिर क्रमशः सातवां घनवात, सातवां घनोदधि और सातवीं पृथ्वी। अवकाशान्तर, तनुवात, घनवात, घनोदधि

और पृथ्वी—ये सभी सात—सात हैं।²⁰

वृत्तिकार के अनुसार इन सूत्रों के द्वारा शून्यवाद, विज्ञानवाद और ईश्वरवाद का निरसन होता है, अनादित्व का सिद्धांत स्थापित होता है।²¹

जगत् के अनादित्व की सिद्धि होने के पश्चात् जिज्ञासा होती है कि लोकस्थिति को कैसे जाना जाए? इसी जिज्ञासा के सम्बन्ध में गणधर गौतम श्रमण भगवान् महावीर को पूछते हैं²²

भन्ते! लोकस्थिति कितने प्रकार की प्रज्ञप्त है?

गौतम! लोकस्थिति आठ प्रकार की प्रज्ञप्त है; जैसे—

1. वायु आकाश पर प्रतिष्ठित है।
2. समुद्र वायु पर प्रतिष्ठित है।
3. पृथ्वी समुद्र पर प्रतिष्ठित है।
4. त्रस और स्थावर प्राणी पृथ्वी पर प्रतिष्ठित हैं।
5. अजीव जीव पर प्रतिष्ठित है।
6. जीव कर्म से प्रतिष्ठित है।
7. अजीव जीव के द्वारा संगृहीत है।
8. जीव कर्म के द्वारा संगृहीत है।

भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—लोकस्थिति आठ प्रकार की प्रज्ञप्त है यावत् जीव कर्म के द्वारा संगृहीत है।

गौतम! जैसे कोई पुरुष किसी मशक में हवा भरता है, उसमें हवा भरकर ऊपर (मुंह के स्थान पर) गांठ लगा देता है। फिर मशक के मध्य भाग में गांठ लगाता है, वहां गांठ लगाकर ऊपर की गांठ को खोलता है। उसे खोलकर ऊपर के भाग की हवा को बाहर निकाल देता है। उसे निकालकर ऊपर के भाग को जल से भरता है। उसे जल से भरकर ऊपर गांठ लगा देता है, वहां गांठ देकर फिर मध्य की गांठ खोलता है। गौतम! क्या वह पानी उस वायु के ऊपर—ऊपर ठहरता है? हां, ठहरता है।

गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—लोकस्थिति आठ प्रकार की प्रज्ञप्त है यावत् जीव कर्म के द्वारा संगृहीत है।

जैसे कोई पुरुष मशक में हवा भरता है, उसमें हवा भरकर उसे अपने कटि—प्रदेश में बांधता है, वहां बांधकर अथाह, अतर तथा अपौरुषेय जल में अवगाहन करता है।

गौतम! क्या वह पुरुष जल के ऊपर-ऊपर ठहरता है?

हां, ठहरता है।

इसी प्रकार लोकस्थिति आठ प्रकार की प्रज्ञप्त है यावत् जीव कर्म के द्वारा संगृहीत है।

भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित कर्म-संगृहीत जीव की भगवती वृत्ति में स्पष्टता की गई कि कर्म का जीव के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है, इसलिए उनके द्वारा जीव में परिवर्तन घटित होता है। वृत्तिकार ने 'प्रतिष्ठित' की व्याख्या आधार-आधेय भाव के साथ तथा 'संगृहीत' की व्याख्या संग्राह्य-संग्राहक भाव के साथ की है।²³

कर्म पुद्गल है और जीव जीव है। जीव और पुद्गल के सम्बन्ध में गौतम गणधर भगवान् महावीर के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत करते हैं एवं भगवान् महावीर जो उत्तर देते हैं उसका वर्णन भगवती सूत्र में इस प्रकार है²⁴—

भन्ते! क्या जीव और पुद्गल अन्योन्यबद्ध, अन्योन्य-स्पृष्ट, अन्योन्य-अवगाढ़, अन्योन्य-स्नेहप्रतिबद्ध और अन्योन्य-एकीभूत बने हुए हैं?

हां, बने हुए हैं।

भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जीव और पुद्गल अन्योन्य-बद्ध, अन्योन्य-स्पृष्ट, अन्योन्य-अवगाढ़, अन्योन्य-स्नेहप्रतिबद्ध और अन्योन्य-एकीभूत बने हुए हैं?

गौतम! जैसे कोई द्रव (नद) है। वह जल से पूर्ण, परिपूर्ण प्रमाण वाला, छलकता हुआ, हिलोरें लेता हुआ चारों ओर से जलजलाकर हो रहा है। कोई व्यक्ति उस द्रव में एक बहुत बड़ी सैकड़ों आश्रवों और सैकड़ों छिद्रों वाली नौका को उतारे। गौतम! वह नौका उन आश्रव-द्वारों के द्वारा जल से भरती हुई-भरती हुई पूर्ण, परिपूर्ण प्रमाण वाली, छलकती हुई, हिलोरें लेती हुई चारों ओर से जलजलाकर हो जाती है?

हां, हो जाती है।

गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जीव और पुद्गल अन्योन्य-बद्ध, अन्योन्य-स्पृष्ट अन्योन्य-अवगाढ़, अन्योन्य-स्नेहप्रतिबद्ध और अन्योन्य-एकीभूत बने हुए हैं।

जीव और पुद्गल दोनों में अत्यन्ताभाव है। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन है। चेतन कभी अचेतन नहीं बनता, अचेतन कभी चेतन

नहीं बनता। अस्तित्व की त्रैकालिक स्वतन्त्रता होने पर भी क्या इसमें कोई सम्बन्ध हो सकता है? भगवान् ने इसका उत्तर 'हां' में दिया। पुद्गल और जीव में अन्योन्य संबंध है। संसारी जीव पुद्गल से इतने घुले मिले हैं कि पुद्गल से पृथक् उनकी व्याख्या नहीं की जा सकती। आचार्य सिद्धसेन ने जीव और पुद्गल के संबंध पर अनेकान्त दृष्टि से विचार किया है। उन्होंने बताया है—जीव और पुद्गल दूध और पानी की तरह परस्पर ओत-प्रोत हैं, इसीलिए उनमें 'यह जीव' और 'वह पुद्गल' है—ऐसा विभाग करना उचित नहीं है। यह जीव और पुद्गल का अभेदात्मक प्रतिपादन है। रूप आदि तथा बाल्य-यौवन आदि पर्याय शरीरगत होते हैं, पर वे जीव से अप्रभावित हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता है। जीव में इन्द्रिय-ज्ञान, स्मृति-ज्ञान आदि के पर्याय होते हैं, उन्हें भी पुद्गल से अप्रभावित नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से जीव और पुद्गल में प्रगाढ़ संबंध स्थापित होता है। उनका तात्त्विक स्वरूप भिन्न है, इसलिए उनमें स्वरूपगत भेद भी है।

संसारी अवस्था में जीव और पुद्गल का संबंध भौतिक होता है। दोनों का संबंध केवल जीव या पुद्गल की ओर से ही नहीं होता, किन्तु दोनों ओर से होता है। 'स्नेह-प्रतिबद्ध' शब्द से इसका स्पष्टीकरण होता है। जीव में स्नेह है—आस्रव और पुद्गल में स्नेह है—आकर्षित होने की अर्हता। इस उभयात्मक स्नेह के द्वारा परस्पर संबंध स्थापित हो जाता है। नौका में छिद्र है तो पानी अपने आप उसमें भर जाएगा। आचार्य अमृतचन्द्र ने जीव में होने वाले स्निग्ध परिणाम का प्रतिपादन किया है।²⁵

जीव स्नेह के कारण पुद्गलों का आस्रवण करते हैं। आस्रव सहित जीव ही संसारी कहलाता है। अतः संसारी आत्मा के स्वरूप की चर्चा आस्रव की ही परिक्रमा करती है।

आस्रव

सर्वप्रथम हमें आस्रव के बारे में जानना है कि आस्रव की परिभाषा क्या है। तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव को पारिभाषित किया निम्न शब्दों में—

कायवाङ्मनः कर्मयोगः।²⁶

स आस्रवः।²⁷

यानि काय, वचन व मन की क्रिया योग है। वही आस्रव है।

तत्त्वार्थवार्तिक में आस्रव को विस्तृत रूप दिया गया—

आस्रवत्यनेन आस्रवणमात्रं वा आस्रवः।^{२८}

पुण्यपापागमद्वारलक्षण आस्रवः।..... आस्रवइवास्रवः। क उपमार्थः। यथा महोदधेः सलिलमापगामुखैरहरहरापर्यते तथा मिथ्यादर्शनादि—द्वारानुप्रविष्टैः कर्मभिरनिशमात्मा समापर्यत इति।^{२९}

जिससे कर्म आते हैं, वह आस्रव है। यह करण (साधन) से लक्षण है। आस्रवण मात्र अर्थात् कर्मों का आना मात्र आस्रव है, यह भवसाधन द्वारा लक्षण है। पुण्यपाप रूप कर्मों के आगमन के द्वार को आस्रव कहते हैं। जैसे नदियों के द्वारा समुद्र प्रतिदिन जल से भर जाता है, वैसे ही मिथ्यादर्शनादि स्रोतों से आत्मा में कर्म आते हैं।

तत्प्रणालिकया कर्मास्रवणादास्रवाभिधानं सलिलवाहि द्वारवत्। जैसे जलागमन द्वार से जल आता है उसी प्रकार योग प्रणाली से आत्मा में कर्म आते हैं, अतः इसी योग को आस्रव कहते हैं।^{३०}

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कर्मों के आगमन का द्वार आस्रव है। यों तो प्रतिपल कर्माकर्षण होता रहता है प्रवृत्ति के द्वारा। फिर भी आस्रव के भेदों का वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार के भेद प्राप्त होते हैं।

दो प्रकार के आस्रव हैं—द्रव्यास्रव एवं भावास्रव।^{३१} द्रव्यास्रव का लक्षण करते हुए कहा गया—लद्धूण तं णिमित्तं जोगं जं पुग्गले पदेसत्थं परिणमदि कम्मभावं तं पि हु दव्वासवं बीजं।^{३२}

अपने-अपने निमित्त योग को प्राप्त करके आत्म-प्रदेशों में स्थित पुद्गल कर्म भाव रूप से परिणमित हो जाते हैं, उसे द्रव्यास्रव कहते हैं।

इसी को द्रव्यसंग्रह में इस प्रकार कहा गया कि ज्ञानावरणादि कर्मों के योग्य जो पुद्गल आता है, उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिए। वह अनेक भेदों वाला है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है—

गाणावरणादीणं जोगं जं पुग्गलं समासवदि।

दव्वासवो स णेओ अणेयमेओ जिणक्खादो।^{३३}

भावास्रव के लक्षण को यों परिभाषित किया—आस्रवत्यनेनेत्यास्रवः। आस्रवत्यागच्छति जायते कर्मत्वपर्यायपुद्गलानां कारणभूतेनात्मपरिणामेन स परिणाम आस्रवः।^{३४} आत्मा के जिस परिणाम से पुद्गल द्रव्य कर्म बनकर आत्मा में आता है, उस परिणाम को आस्रव कहते हैं। द्रव्यसंग्रह

में भावास्रव का लक्षण देते हुए कहा—

आसवादि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।

भावासवो जिणुत्तो कम्मासवाणं परो होदि ।।

जिस परिणाम से आत्मा के कर्म का आस्रव होता उसे भावास्रव कहते हैं।³⁵ तत्त्वार्थ सूत्र में आस्रव के ईर्यापथ और साम्परायिक नामक दो भेद किये गये हैं।³⁶

ईर्यापथ आस्रव का लक्षण देते हुए तत्त्वार्थवार्तिक में कहा गया है—

ईरणमीर्या योगगतिः ।..... उपशान्तक्षीणकषाययोः सयोगिनश्च योगवशादुपात्तं कर्म कषायाभावाद् बन्धाभावे शुष्ककुड्यपतितलोष्टवद् अनन्तरसमये निवर्तमानमीर्यापथमित्युच्यते।³⁷

ईर्या की व्युत्पत्ति ईरण होती है, उसका अर्थ गति है। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगिकेवली के योग से आये हुए कर्म कषायों का चेप न होने से सूखी दीवार पर पड़े हुए पत्थर की तरह द्वितीय क्षण में ही झड़ जाते हैं, बंधते नहीं है। यह ईर्यापथ आस्रव कहलाता है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में ही साम्परायिक आस्रव को निम्न शब्दों में कहा गया—

कर्मभिः समन्तादात्मनः पराभवोऽभिभवः सम्परायः इत्युच्यते । तत्प्रयोजनं कर्म साम्परायिकमित्युच्यते यथा ऐन्द्रमहिकमिति ।..... मिथ्यादृष्ट्यादीनां सूक्ष्मसाम्परायान्तानां कषायोदयपिच्छितपरिणामानां योगवशादानीतं कर्म भावेनोपश्लिष्यमाणं आर्द्रचर्माश्रित रेणुवत् स्थितिमापद्यमानं साम्परायिकमित्युच्यते।³⁸

यानि कर्मों के द्वारा चारों ओर से स्वरूप का अभिभव होना सम्पराय है। इस सम्पराय के लिए जो आस्रव होता है, वह साम्परायिक आस्रव है।मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान तक कषाय का चेप रहने से योग के द्वारा आये हुए कर्म गीले चमड़े पर धूल की तरह चिपक जाते हैं अर्थात् उनमें स्थितिबन्ध हो जाता है यही साम्परायिक आस्रव है।

दो प्रकार के आस्रवों की शृंखला में शुभ और अशुभ नामक प्रकार भी मिलते हैं। तत्त्वार्थराजवार्तिक में निम्न पंक्तियों में इन्हें उद्धृत किया गया—

तत्र कायिको हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मादिषु प्रवृत्तिनिवृत्तिसंज्ञः । वाचिकः

परुषाक्रोशपिशुनपरोप—घातादिषु वचस्सु प्रवृत्तिनिवृत्तिसंज्ञः। मानसो मिथ्याश्रुत्यभिघातेर्ष्यासूयादिषु मनसः प्रवृत्तिनिवृत्तिसंज्ञः।³⁹

यानि हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील आदि में प्रवृत्ति अशुभ कायास्रव है तथा निवृत्ति शुभ कायास्रव है। कठोर गाली, चुगली आदि रूप से परबाधक वचनों की प्रवृत्ति वाचनिक अशुभास्रव है और इनसे निवृत्ति वाचनिक शुभास्रव है। मिथ्याश्रुति, ईर्ष्या, मात्सर्य, षड्यन्त्र आदि रूप से मन की प्रवृत्ति मानस अशुभास्रव है और निवृत्ति मानस शुभास्रव है।

आस्रव के विस्तार से भेद करें तो चार और पांच भेद भी मिलते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के भेद से चार प्रकार⁴⁰ तथा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के भेद से पांच प्रकार⁴¹ आस्रव के प्राप्त होते हैं।

पांच प्रकार के आस्रव हमारे लिये वर्णनीय हैं। उनका वर्णन निम्नलिखित है—

1. मिथ्यात्व आस्रव

मिथ्या श्रद्धान मिथ्यात्व है। आत्मतत्त्व से अपरिचित होते हुए शरीर, धन, पुत्र, स्त्री आदि में मेरेपन व इष्टानिष्टता की मान्यता व उसके अनुसार ही व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है। ऐसे अभिप्राय को मिथ्यात्व कहा जा सकता है। मिथ्यात्व की परिभाषाएं इस प्रकार उपलब्ध होती हैं—

तं मिच्छतं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं।⁴²

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है। समयसार की टीका में भी ऐसी ही परिभाषा उपलब्ध होती है—

विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूपं शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वमिति।⁴³

अर्थात् विपरीत अभिनिवेश के उपयोग विकाररूप जो शुद्ध जीवादि पदार्थों के विषय में श्रद्धान होता है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं।

इसके अतिरिक्त आचार्य हेमचन्द्र ने मिथ्यात्व की परिभाषा दी है—‘अदेव को देव, अगुरु को गुरु और अधर्म को धर्म मानना मिथ्यात्व है क्योंकि वह विपरीत रूप है—

अदेवं देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या।

अधर्मं धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात्।⁴⁴

निश्चय की दृष्टि से देखें तो मिथ्यात्व की परिभाषा आत्मा के आसपास ही परिक्रमित होती है—

स्वात्मश्रद्धान.....विमुखत्वमेव मिथ्यादर्शन..... ।⁴⁵

निज आत्मा के श्रद्धान रूप से विमुखता मिथ्यादर्शन है।

द्रव्यसंग्रह टीका में कहा गया—‘अन्तरंग में वीतराग निजात्मतत्त्व के अनुभवरूप रुचि में विपरीत अभिप्राय उत्पन्न कराने वाला तथा बाहरी विषय में अन्य के शुद्ध आत्मतत्त्व आदि समस्त द्रव्यों में जो विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न कराने वाला है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं—अभ्यन्तरे वीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचिविषये विपरीताभिनिवेशजनकं, बहिर्विषये तु परकीयशुद्धात्मतत्त्वप्रभृति— समस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशोत्पादकं च मिथ्यात्वं भण्यते ।⁴⁶ इसी में आगे कहा गया—निरंजनिर्दोष— परमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यक्त्वाद्विलक्षणं मिथ्याशल्यं भण्यते ।⁴⁷

अर्थात् अपना निरंजन व निर्दोष परमात्मतत्त्व ही उपादेय है, इस प्रकार के रुचिरूप सम्यक्त्व से विपरीत को मिथ्याशल्य कहते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आत्मा के विपरीत दृष्टि मिथ्यात्व है। अपनी आत्मा में अश्रद्धान और परपदार्थों में श्रद्धान मिथ्यात्व है। यों तो जीवादि पदार्थों में अश्रद्धान भी मिथ्यात्व है, पर सबके मूल में जो तत्त्व है, वह आत्मतत्त्व है। अतः आत्मतत्त्व में श्रद्धा नहीं होना मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप कहा जा सकता है क्योंकि दृष्टि सबसे महत्त्वपूर्ण है। दृष्टि—परिवर्तन होते ही सब कुछ बदल जाता है। ‘जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि’ के अनुसार दृष्टि पर सब निर्भर है। अतः दृष्टि का मिथ्या होना अत्यन्त अकल्याणकारी है।

अश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ।⁴⁸

शरीरधारी जीवों को मिथ्यात्व के समान अन्य कुछ अकल्याणकारी नहीं है।

गोम्मटसार में कहा गया—

मिच्छइही पावा णंताणंता..... ।⁴⁹

और आगे बढ़कर समयसार की आत्मख्याति टीका में तो यहां तक कह दिया—‘भले ही महाव्रतादि का आलम्बन करें या समितियों की उत्कृष्टता का आश्रय करें तथापि वे पापी ही हैं क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से सम्यक्त्व से रहित हैं। इस पर पं.

जयचन्द जी की जिज्ञासा होती है कि व्रत, समिति शुभ कार्य हैं, तब फिर उनका पालन करते हुए भी उस जीव को पापी क्यों कहा गया? समाधान देते हुए कहा—‘सिद्धान्त में मिथ्यात्व को ही पाप कहा गया है, जब तक मिथ्यात्व रहता है तब तक शुभाशुभ सर्व क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थतः पाप ही कहा जाता है और व्यवहारनय की प्रधानता में व्यवहारी जीवों को अशुभ से छुड़ाकर शुभ में लगाने की शुभ क्रिया को कथंचित पुण्य भी कहा जाता है, ऐसा कहने में स्याद्वादमत में कोई विरोध नहीं है।’

आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा ।

आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वविरक्ताः ।⁶⁰

अतः स्पष्ट है कि मिथ्यात्व सेवन से रंगीन की गई आत्मा चतुर्गत्यात्मक संसाराटवी में अनन्त काल तक भ्रमण करती है। जिज्ञासा होती है कि मिथ्यात्वोदय में कौन—सा कर्म हेतु बनता है? क्या ऐसा है जिससे दृष्टि विपरीत हो जाती है? पंचाध्यायी में जिज्ञासा को समाहित किया—

‘ततो न्यायगतो जन्तोर्मिथ्याभावो निसर्गतः।’

दृढमोहस्योदयादेव वर्तते वा प्रवाहवत् ।।

कार्यं तदुदयस्योच्चैः प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत् ।

स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः ।⁶¹

न्यायानुसार यह बात सिद्ध होती है कि जीवों में मिथ्यात्व स्वभाव से ही दर्शनमोह के उदय से प्रवाह के समान सदा पाया जाता है और मिथ्यात्व के उदय का कार्य भी भली—भांति स्वसंवेदन द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध है अन्यथा आत्मस्वरूप की उपलब्धि जीवों को क्यों न होती ।

मिथ्यात्व के प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है। भगवती आराधना में संशय, अभिगृहीत एवं अनभिग्रहित के भेद से तीन प्रकार के मिथ्यात्व बताये गये हैं।⁶² बारस अणुवेक्खा में पांच प्रकार मिथ्यात्व के उल्लिखित हैं—एकांत, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान—एयंतविणय—विवरियसंसय—मण्णाणमिदि हवे पंच।⁶³ इन्हीं पांचों का वर्णन हमारे लिए इष्ट है—

1. एकान्त मिथ्यात्व

नामानुसार ही स्पष्ट है एकान्त दृष्टि मिथ्यात्व है। सत् ही है,

असत् ही है, एक ही है, अनेक ही है, सावयव ही है, निरवयव ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है इत्यादि एकान्त मिथ्यात्व हैं। अस्थि चैव णत्थि चैव; एगमेव अणेगमेव; सावयवं चैव, निरवयवं चैव; णिच्चमेव, अणिच्चमेव; इच्चाइयो एयंताहिणिवेसो एयंतमिच्छत्तं।⁵⁴

सर्वार्थसिद्धि में ऐसी परिभाषा मिलती है—‘यही है, इसी प्रकार का है, इस प्रकार धर्म और धर्मी में एकान्तरूप अभिप्राय रखना एकान्त मिथ्यात्व दर्शन है; जैसे—यह सब जग परब्रह्मरूप ही है। या सब पदार्थ अनित्य ही हैं या नित्य ही हैं।’

इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः। “पुरुषं एवेदं सर्वम्” इति वा नित्य वा अनित्य एवेति।⁵⁵

एकान्त मान्यता ही 363 मतों को मिथ्या कर देती है। गोम्टसार कर्मकाण्ड में ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है—

असिदिसदं किरियाणं अक्करियाणं च आहु चुलसीदी।

सतट्टण्णाणीणं वेणयियाणं तु बत्तीसं।⁵⁶

अर्थात् क्रियावादियों के 188, अक्रियावादियों के 84, अज्ञानवादियों के 67 और वैनयिकवादियों के 32 भेद हैं। सब मिलकर 363 होते हैं।

इस प्रकार अपने ही मत को आग्रहपूर्वक मानने वाले एकान्त मिथ्यात्व की कोटि में आते हैं।

1. अज्ञान मिथ्यात्व

जैनागम में अज्ञान शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है—एक तो ज्ञान का अभाव या कमी के अर्थ में और दूसरा मिथ्याज्ञान के अर्थ में। पहले को औदयिकअज्ञान और दूसरे को क्षायोपशमिक अज्ञान कहते हैं। मोक्ष की प्रमुखता के कारण अज्ञान शब्द से अभिप्राय प्रायः मिथ्याज्ञान ही होता है। इसकी कुछेक परिभाषाएं इस प्रकार उपलब्ध हैं—हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम् यानि हिताहित की परीक्षा से रहित होना अज्ञानिक मिथ्यात्व है।⁵⁷

धवला में कहा गया—‘नित्यानित्य विकल्पों से विचार करने पर जीवादि पदार्थ नहीं है, अतएव सब अज्ञान ही है, ज्ञान नहीं है, ऐसे अभिनिवेश को अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं—विचारिज्जमाणे जीवाजीवादि—पयत्था ण संति णिच्चाणिच्चवियप्पेहिं, तदो सव्वमण्णाणमेव। णाणं णत्थि त्ति अहिणिवेसो अण्णाणमिच्छत्तं।⁵⁸ जिस मत में हित और अहित का बिल्कुल ही विवचन नहीं है। ‘पशुवध धर्म है’ इस प्रकार अहित में प्रवृत्ति

कराने का उपदेश है, वह अज्ञानिक मिथ्यात्व है—ऐसा मत है तत्त्वार्थसार अधिकार का।⁵⁹

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आत्मा को छोड़कर जो विचार किया जाता है, वह अहितकारक होता है और अहितकारक प्रवृत्ति जो कराता है, वह अज्ञान मिथ्यात्व है।

2. विनय मिथ्यात्व

‘पूज्येष्व्वादरो विनयः’⁶⁰ सर्वार्थसिद्धि की यह उक्ति पूज्य पुरुषों के आदर को विनय कहती है। ये पूज्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप या गुणों में भी हो सकते हैं। वैसे विनय मिथ्यात्व के अभिव्यंजक कुछेक परिभाषाएं प्राप्त होती हैं—

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वंदए जो दु।

लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु।⁶¹

अर्थात् कुत्सित देव को, कुत्सित धर्म को और कुत्सित लिंगधारी गुरु को जो लज्जा, भय या गारव के वश वन्दना आदि करता है।

दर्शनपाहुड़ में कहा गया—‘जो दर्शनयुक्त जीव दर्शनभ्रष्ट को मिथ्यादृष्टि जानते हुए भी लज्जा, गारव या भय के कारण उनके पांव में पड़ते हैं अर्थात् उनका विनय आदि करते हैं, उनको भी बोधि की प्राप्ति नहीं होती है क्योंकि वे पाप के अनुमोदक हैं।’

जे वि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जागारवभएण।

तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणं।⁶²

जिज्ञासा होती है कि शास्त्रों का ज्ञाता होकर भी कोई क्या मिथ्यात्व की तरफ बढ़ सकता है? ऐसा लगता है कि कितना ही ज्ञान हो जाए, वह एक बात है और दृष्टि दूसरी बात है। ज्ञान का सम्बन्ध ज्ञानावरणीय कर्म से है और दृष्टि का सम्बन्ध मोहनीय कर्म से। अतः दोनों अलग-अलग हैं। शीलपाहुड़ में ऐसी ही बात का उल्लेख प्राप्त होता है—

कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।

सीलवदणाणरहिदा ण हु ते आराधया होंति।⁶³

अर्थात् बहु प्रकार से शास्त्र को जानने वाला होकर भी यदि कुमत व कुशास्त्र की प्रशंसा करता है तो वह शील, व्रत व ज्ञान इन तीनों से रहित है।

अतः विनय मिथ्यात्व से बचने का प्रयास करते हुए संसारी

प्राणियों को ऐसे सोचना चाहिए कि 'यह मनुष्यपर्याय इतनी ही कष्टप्राप्य है जितनी कि अन्धे को बटेर की प्राप्ति। फिर यदि करोड़ों कल्पकालों में किसी प्रकार प्राप्त भी हो गयी, तो वह मिथ्या देव एवं मिथ्यागुरु के उपदेश, विषयानुराग और नीच कुल में उत्पत्ति आदि के द्वारा सहसा विफलता को प्राप्त हो जाती है।'⁶⁴

3. विपरीत मिथ्यात्व

विपरीत मिथ्यात्व में दृष्टि बिल्कुल ही विपर्यय को प्राप्त हो जाती है। इसका लक्षण विभिन्न ग्रन्थों में मिलने वाली परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है। धवला में कहा गया—

हिंसालियवयण—चोज्जमेहुणपरिगगहरागदोसमोहण्णाणेहि चेष णिव्वुई होइ त्ति अहिणिवेसो विवरीयमिच्छत्तं।⁶⁵

अर्थात् हिंसा, अलीक वचन, चौर्य, मैथुन, परिग्रह, राग, द्वेष, मोह और अज्ञान इनसे ही मुक्ति होती है, ऐसा अभिनिवेश विपरीत मिथ्यात्व है। गोम्मटसार की जीवप्रबोधिनी टीका में यज्ञ करने वाले ब्राह्मण आदि को विपरीत मिथ्यात्व माना गया है—

याज्ञिकब्राह्मणादयः विपरीतमिथ्यादृष्टयः।⁶⁶

अतः करणीय कार्य का उपदेश देते हुए अनगारधर्माभूत में कहा गया—

येन प्रमाणतः क्षिप्तां श्रद्धधानां श्रुतिशंसात्।

चरन्ति श्रेयसे हिंसां स हिंस्या मोहराक्षसः।।⁶⁷

अर्थात् मोहरूपी राक्षस का ही वध करना उचित है जिसके वश में पड़कर प्राणी, प्रमाण से खण्डित किये जाने पर भी उस श्रुति का ही श्रद्धान करते हैं और पुण्यार्थ हिंसा (यज्ञादि) का आचरण करते हैं।

4. संशय मिथ्यात्व

संशय यानि सन्देह। सन्देहयुक्त दृष्टिकोण संशय मिथ्यात्व है। सर्वार्थसिद्धि में इसका लक्षण उल्लिखित है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्यतरपक्षापरिग्रहः संशयः।⁶⁸

अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र—ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है या नहीं, इस प्रकार किसी एक पक्ष को स्वीकार न करना संशय मिथ्यात्व है। भगवती आराधना में कहा गया—'जिसमें तत्त्वों का निश्चय नहीं है ऐसे संशयज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले श्रद्धान को संशय मिथ्यात्व

कहते हैं।' जिसको पदार्थों के स्वरूप का निश्चय नहीं है उसको, जीवादि का स्वरूप ऐसा ही है अन्य नहीं है, ऐसी तत्त्व विषयक सच्ची श्रद्धा नहीं रहती है। जब सच्ची श्रद्धा होती है तब निश्चय ज्ञान होता है।⁶⁹

धवला में कहा गया—'सर्वत्र सन्देह ही है निश्चय नहीं है, ऐसे अभिनिवेश को संशय मिथ्यात्व कहते हैं।'

सव्वत्थ संदेहो चेव णिच्छओ णत्थि ति अहिणिवेसो संसयमिच्छत्तं।⁷⁰

देव के विषय में संदेह भी संशय मिथ्यात्व है। जिनदेव होंगे या शिवदेव होंगे, यह संशय है—

संशयः तावत् जिना वा शिवो वा देव इति।⁷¹

इसी तरह द्रव्यसंग्रह टीका में कहा गया—

शुद्धात्मतत्त्वादिप्रतिपादकमागमज्ञानं किं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं भविष्यति परसमयप्रणीतं वेति, संशयः।⁷²

अर्थात् शुद्धात्मतत्त्वादि का प्रतिपादक तत्त्वज्ञान क्या वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ सत्य है या अन्य मतियों द्वारा कहा हुआ सत्य है, यह संशय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मिथ्यात्व का पर्दा जब तक आंखों पर पड़ा रहेगा तक तक सही गलत लग सकता है और गलत सही प्रतीत होता है। अतः यह आसन्न है।

2. अविरति आश्रव

अविरति अर्थात् व्रत रहित। न विरतिः इति अविरतिः। जिसमें व्रत न हो, वह अविरति कहलाती है। अविरति को परिभाषित करते हुए द्रव्यसंग्रह टीका में लिखा है—

अभ्यन्तरे निजपरमात्मस्वरूपभावनोत्पन्नपरमसुखामृतरतिविलक्षणा बहिर्विषये पुनरव्रतरूपा चेत्यविरतिः⁷³ यानि अन्तरंग में निज परमात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न परमसुखामृत में जो प्रीति, उससे विलक्षण तथा बाह्यविषय में व्रत आदि को धारण न करना अविरति है। समयसार, तात्पर्यवृत्ति में कहा गया—'निर्विकार स्वसंवेदन से विपरीत अव्रत रूप विकारी परिणाम का नाम अविरति है।

निर्विकारस्वसंवित्तिविपरीताव्रतपरिणामविकारोऽविरतिः।⁷⁴

अविरति के भेद करते हुए बारस अणुवेक्खा में कहा गया—

अविरमणं हिंसादी पंचविहो सो हवइ णियमेण।⁷⁵

अविरति नियम से हिंसा आदि पांच प्रकार की है—अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह रूप है। प्राणातिपात, असत्य—वचन आदि से आस्रव कैसे? क्योंकि कर्म का बन्ध शुभ व अशुभ परिणामों से होता है परन्तु असत्य वचन न तो शुभ परिणाम है और न अशुभ परिणाम है क्योंकि पुद्गल के अथवा उसके परिणाम के जीव परिणाम होने का विरोध है। इस कारण असत्य वचन ज्ञानावरणीय के बन्ध का कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार प्राणातिपात भी ज्ञानावरणीय का प्रत्यय नहीं हो सकता क्योंकि अन्य जीव विषयक प्राण—प्राणि वियोग के कर्मबन्ध में कारण होने का विरोध है। इसका उत्तर देते हुए कहा गया—प्रकृत प्राण—प्राणि वियोग और वचन—कलाप चूंकि ज्ञानावरणीय बन्ध के कारणभूत परिणाम से उत्पन्न होते हैं अतएव उससे अभिन्न हैं। इस कारण वे ज्ञानावरणीय बन्ध के प्रत्यय भी सिद्ध होते हैं।

कम्मबंधो हि णाम, सुहासुहपरिणाममेहितो जायदे,.....असंतवयणं पुण ण सुहपरिणामो, णो असुहपरिणामो पोग्गलस्स तप्परिणामस्स वा जीवपरिणामत्तविरोहादो। तदो णासंतवयणं णाणावरणीयबंधस्स कारणं।.. न पाणादिवादपच्चओ वि, भिण्ण जीवविसयस्स पाणपाणिविओगस्स कम्मबंधहेउत्तविरोहादो।..... णाणावरणीयबंधनपरिणामजणिदो वहदे पाण—पाणिवियोगो वयणकलावो च। तम्हा तदो तेसिमभेदो तेणेव कारणेण णाणावरणीयबंधस्स तेसिं पच्चयत्तं पि सिद्धं।⁷⁶

इस तरह अविरति को आस्रव कहा जा सकता है। इसके पांच भेदों में से मुझे अब्रह्मचर्य (कुशील) का वर्णन करना इष्ट है।

अब्रह्मचर्य अथवा ब्रह्मचर्य अविरति

शरीर का निर्माण कर्म के निमित्त से होता है अथवा भूतमात्र के संयोग से? यह प्रश्न प्राचीनकाल से चर्चित रहा। दर्शन के क्षेत्र में दोनों मतवाद प्रचलित थे। वात्स्यायन ने न्यायसूत्र के भाष्य में इन दोनों मतों की चर्चा कर कर्मनिमित्तक शरीर—सृष्टि का समर्थन किया है। उनके अनुसार पूर्वकृत कर्म के फल से नये शरीर का निर्माण होता है।⁷⁷ विषय के निगमन में भाष्यकार ने लिखा है—कर्मनिमित्तक और अकर्मनिमित्तक सुख—दुःख का योग—यह मिथ्या दृष्टिकोण है।⁷⁸ चरक में भी इन दोनों प्रतिपत्तियों का उल्लेख मिलता है। जैन दर्शन में कर्मनिमित्तक शरीरनिर्माण की प्रतिपत्ति मान्य है। भगवती सूत्र में गर्भ सम्बन्धी पद इसी अवधारणा के सम्बन्ध में पठनीय है। ऐसा एक संवाद प्रस्तुत है—

गौतम—भन्ते! जो प्राणी अगले जन्म में उत्पन्न होने वाला है क्या वह सायुष्क संक्रमण करता है या निरायुष्क?

भगवान्—गौतम! वह सायुष्क संक्रमण करता है, निरायुष्क संक्रमण नहीं करता।

गौतम—भन्ते! वह आयुष्य का बंध कहां करता है?

भगवान्—गौतम! वह आयुष्य का बंध पूर्वभव में कर लेता है।⁷⁹

अष्टांगहृदय के अनुसार शुद्ध शुक्र और शुद्ध रज से तथा स्वकृत कर्मों के कारण जीव की गर्भ—रूप में उत्पत्ति होती है; जैसे अरणि को घिसने से अग्नि।

शुद्धे शुक्रार्तवे सत्त्वः स्वकर्मव्लेशचोदितः।

गर्भः सम्पद्यते युक्तिवशादग्निरिवारणौ।।⁸⁰

कोई जीव पूर्व जीवन को समाप्त कर नए जन्म में प्रवेश करता है, तब वह पूर्व जीवन से किन-किन वस्तुओं को साथ लेकर जाता है, इसकी चर्चा उपनिषद् और आयुर्वेद के ग्रंथों में भी उपलब्ध है। चरक के अनुसार जीव चार तन्मात्राओं (स्पर्श, रस, रूप और गंध तन्मात्रा) को साथ लेकर नए जन्म में प्रवेश करता है।⁸¹ इस संदर्भ में गौतम द्वारा प्रस्तुत जिज्ञासा बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाती है। भगवान् महावीर ने उस जिज्ञासा का सापेक्ष दृष्टि से समाधान किया है।

गणधर गौतम ने पूछा—भन्ते! गर्भ में उत्पन्न होता हुआ जीव क्या स-इन्द्रिय उत्पन्न होता है अथवा अनिन्द्रिय उत्पन्न होता है?

भगवान् ने समाधान दिया—गौतम! द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा वह अनिन्द्रिय उत्पन्न होता है। भावेन्द्रिय की अपेक्षा से स-इन्द्रिय उत्पन्न होता है।⁸² द्रव्येन्द्रिय का अर्थ है—इन्द्रिय की रचना और इन्द्रिय ज्ञान की उपकारक शक्ति। ये दोनों स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखती हैं, इसलिए नये जन्म में प्रवेश करते समय ये दोनों जीव के साथ नहीं रहतीं। भावेन्द्रिय का अर्थ है—इन्द्रिय ज्ञान की शक्ति। वह उस अवस्था में भी होती है। प्रत्येक जीव नए जन्म में होने वाले इन्द्रिय विकास की योग्यता के अनुरूप ही शरीर का निर्माण करता है।

गौतम स्वामी फिर दूसरी जिज्ञासा करते हैं—

भन्ते! गर्भ में उत्पन्न हुआ जीव क्या सशरीर उत्पन्न होता है अथवा अशरीर उत्पन्न होता है?

गौतम! वह स्यात् सशरीर उत्पन्न होता है। स्यात् अशरीर उत्पन्न होता है।

भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह स्यात् सशरीर उत्पन्न होता है? स्यात् अशरीर उत्पन्न होता है?

गौतम! औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर की अपेक्षा वह अशरीर उत्पन्न होता है। तैजस और कार्मण शरीर की अपेक्षा वह सशरीर उत्पन्न होता है।⁸³ यह समाधान भी सापेक्ष दृष्टि लिये हुए है। मृत्यु का अर्थ है—स्थूल शरीर का परित्याग। गर्भ में प्रवेश का अर्थ है—नए शरीर का निर्माण। स्थूल शरीर तीन हैं—

1. औदारिक—यह मनुष्य और तिर्यच के होता है।
2. वैक्रिय—यह देव और नारक के होता है।
3. आहारक—इसका निर्माण योगज शक्ति से किया जाता है। यह योगसम्पन्न मुनि के ही होता है। तैजस् शरीर सूक्ष्म है और कार्मण शरीर सूक्ष्मतर।

गर्भ में प्रवेश करते समय जीव के साथ केवल दो शरीर होते हैं—तैजस और कार्मण। इस आधार पर कहा गया है कि गर्भ में प्रवेश करते समय जीव स्थूल शरीर की अपेक्षा अशरीर और तैजस और कार्मण शरीर की अपेक्षा से सशरीर होता है।

सुश्रुत के 'गर्भावक्रान्ति प्रकरण' में सूक्ष्म इन्द्रियों या लिंग शरीर के साथ जीव का गर्भ में प्रवेश माना गया है।⁸⁴

चरकसंहिता में भी यह मत उपलब्ध होता है।⁸⁵

तीसरी बार गणधर गौतम की जिज्ञासा होती है—

भन्ते! जीव गर्भ में उत्पन्न होता हुआ सबसे पहले क्या आहार लेता है?

गौतम! जीव सबसे पहले माता का ओज और पिता का शुक्र—इन दोनों से मिश्रित आहार लेता है।⁸⁶

इस जिज्ञासा की पृष्ठभूमि में दो मत अवस्थित हैं। आयुर्वेद के आचार्य भारद्वाज का मत था कि गर्भ में ही चेतना अभिव्यक्त होती है। वह कहीं बाहर से आकर उसका निर्माण नहीं करती।⁸⁷ महर्षि आत्रे इस मत का अस्वीकार करते हैं।⁸⁸ उनके अनुसार जीव दूसरे जन्म से आकर नए गर्भ में प्रवेश करता है।⁸⁹

गौतम स्वामी की जिज्ञासा इन दोनों मतों से जुड़ी हुई है।

भगवान् ने समाधान की भाषा में कहा—जीव पूर्व शरीर को छोड़कर गर्भ में प्रवेश करता है। वहां सर्वप्रथम माता के ओज और पिता के शुक्र के मिश्रण का आहार वर्तमान जीवन की आधारशिला बनता है।

आहार तीन प्रकार के बतलाए गए हैं—ओज आहार, लोम आहार और प्रक्षेप अथवा कवल आहार।^{१०} उत्पत्ति के प्रथम समय में शरीर आदि पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों का ग्रहण किया जाता है, वह ओज आहार है—यह प्रवचनसारोद्धार के वृत्तिकार सिद्धसेनसूरि का मत है। उन्होंने इसका वैकल्पिक अर्थ किया है—स्वजन्म स्थानोचित शुक्र, शोणित आदि पुद्गलसंघात का आहार। ओजस् का अर्थ है तैजस। यह आहार कार्मण शरीर युक्त तैजस शरीर से लिया जाता है, इसलिए इसका नाम ओज आहार है।^{११} अष्टांगसंग्रह के अनुसार गर्भ में प्रवेश करने वाला प्राणी पहले ओज ग्रहण करता है। उसके पश्चात् शुक्र—शोणित में प्रवेश करता है।^{१२} उक्त दोनों अभिमतों के संदर्भ में प्रस्तुत आगम का मत समीक्षणीय है। यहां प्रथम आहार माता का ओज और पिता का शुक्र बताया गया है।

गौतम गणधर की चौथी जिज्ञासा होती है—

भन्ते! गर्भगत जीव क्या आहार लेता है?

गौतम! गर्भगत जीव की माता जो नाना प्रकार की रस—विकृतियों का आहार लेती है, उसके एक देश के साथ ओज का आहार लेता है।^{१३}

यहां 'ओज' का अर्थ ओज धातु होना चाहिए।^{१४} माता जो आहार लेती है, उसका एक देश और ओज वह ग्रहण कर लेता है। तदेकदेश का अर्थ चरकसंहिता से स्पष्ट होता है—सभी रसों से युक्त वह आहार—रस गर्भिणी स्त्री के शरीर में तीन भागों में विभक्त होता है—

1. गर्भिणी के अपने शरीर की पुष्टि के लिए।
2. दूध बनाने के लिए।
3. गर्भ—शरीर की पुष्टि और वृद्धि के लिए।

वह गर्भ इस आहार—रस से उपप्लब्ध होकर गर्भाशय के अन्दर अपना जीवन व्यतीत करता है। तदेकदेश की प्रक्रिया इस प्रकार होती है। दो नाडियां होती हैं—मातृजीवरसहरणी और पुत्रजीवरसहरणी। उनके द्वारा गर्भस्थ शिशु आहार लेता है। अष्टांगहृदय और सुश्रुतसंहिता में इनके सम्बन्ध में जानकारी मिलती है—गर्भ की नाभि में तथा माता

के हृदय में रसवाहिनी नाडी का सम्बन्ध रहता है, जिसके द्वारा गर्भ का पोषण होता रहता है, जैसे खेत की फसल का पोषण कुल्या (जल-प्रणाली) द्वारा होता है।⁹⁵

गणधर गौतम भगवान् महावीर से फिर जिज्ञासा करते हैं—

भन्ते! क्या गर्भगत जीव नैरयिकों में उपपन्न होता है?

गौतम! कोई उपपन्न होता है, कोई उपपन्न नहीं होता।

भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—कोई उपपन्न होता है, कोई उपपन्न नहीं होता?

गौतम! सब पर्याप्तियों से पर्याप्त, वीर्यलब्धि और वैक्रियलब्धि से सम्पन्न, संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भगत शिशु शत्रुसेना का आगमन सुनकर, अवधारण कर अपने आत्म-प्रदेशों का गर्भ से बाहर प्रक्षेपण करता है, उनका प्रक्षेपण कर वैक्रिय समुद्घात से समवहत होता है, समवहत होकर चतुरंगिणी सेना का निर्माण करता है। निर्माण कर उस चतुरंगिणी सेना के द्वारा शत्रु-सेना के साथ युद्ध करता है।

वह जीव अर्थकामी, राज्यकामी, भोगकामी और कामकामी, अर्थकांक्षी, राज्यकांक्षी, भोगकांक्षी और कामकांक्षी तथा अर्थपिपासु, राज्यपिपासु, भोगपिपासु और कामपिपासु होकर उस अर्थ आदि में ही अपने चित्त, मन, लेश्या, अध्यवसाय और तीव्र अध्यवसान का नियोजन करता है। वह उसी विषय में उपयुक्त हो जाता है। उसके लिए अपने सारे करणों का समर्पण कर देता है। वह उसकी भावना से भावित हो जाता है। उस अंतर (युद्धकाल) में यदि वह मरणकाल को प्राप्त होता है, तो नैरयिकों में उपपन्न होता है। गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—कोई उपपन्न होता है, कोई उपपन्न नहीं होता।⁹⁶

गौतम फिर जिज्ञासा करते हैं—

भन्ते! क्या गर्भगत जीव देवलोकों में उपपन्न होता है?

गौतम! कोई उपपन्न होता है, कोई उपपन्न नहीं होता।

भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—कोई उपपन्न होता है, कोई उपपन्न नहीं होता?

गौतम! सब पर्याप्तियों से पर्याप्त, संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भगत शिशु तथारूप श्रमण-माहन के पास एक भी आर्य धार्मिक सुवचन सुनता है, अवधारण करता है। उससे उसके मन में संवेगजनित श्रद्धा उत्पन्न होती है। वह तीव्र धर्म-अनुराग से अनुरक्त हो जाता है।

वह जीव धर्मकामी, पुण्यकामी, स्वर्गकामी और मोक्षकामी, धर्मकांक्षी, पुण्यकांक्षी, स्वर्गकांक्षी, मोक्षकांक्षी तथा धर्मपिपासु, पुण्यपिपासु, स्वर्गपिपासु, मोक्षपिपासु होकर उस धर्म, पुण्य आदि में ही अपने चित्त, मन, लेश्या अध्यवसाय तीव्र अध्यवसान का नियोजन करता है। वह उसी विषय में उपयुक्त हो जाता है। उसके लिए अपने सारे करणों का समर्पण कर देता है। वह उसकी भावना से भावित हो जाता है। उस अंतर में यदि वह मरणकाल को प्राप्त होता है तो देवलोकों में उपपन्न होता है। गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—कोई उपपन्न होता है, कोई उपपन्न नहीं होता।^{७७}

प्रस्तुत आलापक गर्भविज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। गर्भस्थ शिशु के विकास, क्षमता और व्यवहार पर आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में अनेक अनुसंधान हो रहे हैं। अनेक आश्चर्यजनक रहस्य भी उद्घाटित हुए हैं। नार्थ केरोलिना यूनिवर्सिटी के श्री एंथानी डिकेस्पर तथा उनके सहयोगी श्री विलियन किफर ने अनेक प्रयोग किये हैं। अपने अध्ययन में उन्होंने पाया कि गर्भस्थ शिशु जिन गीतों को सुनता है, जिन आवाजों को सुनता है, जन्म के पश्चात् वह उनको पहचान लेता है। जर्मन वैज्ञानिक प्रो. अनेस्ट पोपेल के अनुसार गर्भस्थ शिशु सपने भी देख सकता है। 28 सप्ताह का अजन्मा शिशु संगीत की थाप पर नाचता है। चरकसंहिता में भी गर्भस्थ शिशु के विकास और व्यवहार की चर्चा मिलती है।^{७८} उपर्युक्त प्रकरण में जिस वैक्रिय लब्धि का उल्लेख है, वह आश्चर्यकारी रहस्य है। एक गर्भस्थ शिशु के द्वारा वैक्रिय लब्धि के द्वारा सेना का निर्माण कर युद्ध करना सभी ज्ञात घटनाओं से विलक्षण घटना है। इसी प्रकार धार्मिक प्रवचन सुनकर धर्मानुराग से अनुरक्त होना भी विलक्षण घटना है।

इसके पश्चात् आगे बढ़ते हुए गणधर गौतम काल की दृष्टि से जिज्ञासा करते हैं—

भन्ते! तिर्यग्योनिकगर्भ तिर्यग्योनिकगर्भ के रूप में काल की दृष्टि से कितने समय तक रहता है?

गौतम! जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त, उत्कर्षतः आठ वर्ष।

भन्ते! मानुषी-गर्भ मानुषी-गर्भ के रूप में काल की दृष्टि से कितने समय तक रहता है?

गौतम! जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त, उत्कर्षतः बारह वर्ष।

भन्ते! कायभवस्थ कायभवस्थ के रूप में काल की दृष्टि से कितने समय तक रहता है?

गौतम! जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त, उत्कर्षतः चौबीस वर्ष।⁹⁹

मानुषी गर्भ की स्थिति बताई 12 वर्ष एवं कायभवस्थ की बतलाई 24 वर्ष। कोई प्राणी पहले गर्भ में 12 वर्ष तक रहता है और वहां से मरकर फिर उसी गर्भ शरीर में उत्पन्न हो जाता है और उत्पन्न होकर फिर 12 वर्ष तक गर्भ में रहता है। इस प्रकार कायभवस्थ की उत्कृष्ट स्थिति 24 वर्ष की हो जाती है। एक ही गर्भकाय में उसके दो भव या जन्म हो जाते हैं¹⁰⁰ इसलिए उसका नाम कायभवस्थ किया गया है। 12 वर्ष की स्थिति को 'भवस्थिति' और 24 वर्ष की स्थिति को 'कायस्थिति' कहा जाता है।¹⁰¹

अगले सूत्रों में गौतम प्रभु द्वारा की गई जिज्ञासा है—

भन्ते! एक जीव एक भव में कितने जीवों का पुत्र हो सकता है?

गौतम! जघन्यतः एक, दो या तीन और उत्कर्षतः नौ सौ तक जीवों का पुत्र हो सकता है।¹⁰²

वृत्तिकार ने इस संदर्भ में बैल आदि का उदाहरण प्रस्तुत किया है।¹⁰³

अगली जिज्ञासा गणधर गौतम की है—

भन्ते! एक जीव के एक भव में कितने जीव पुत्र—रूप में उत्पन्न हो सकते हैं?

गौतम! जघन्यतः एक, दो या तीन और उत्कर्षतः नौ लाख जीव पुत्र—रूप में उत्पन्न हो सकते हैं।

भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—एक जीव के जघन्यतः एक, दो या तीन और उत्कर्षतः नौ लाख जीव पुत्र—रूप में उत्पन्न हो सकते हैं?

गौतम! स्त्री और पुरुष की कर्मकृत (कामोद्दीपक) योनि में मैथुनवृत्तिक नामक संयोग उत्पन्न होता है। वे स्त्री और पुरुष स्नेह (वीर्य और शोणित) का संचय करते हैं। संचय करने के पश्चात् वहां जघन्यतः एक, दो या तीन और उत्कर्षतः नौ लाख जीव पुत्र—रूप में उत्पन्न हो सकते हैं। गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जघन्यतः एक, दो या तीन और उत्कर्षतः नौ लाख जीव पुत्ररूप में उत्पन्न हो सकते हैं।¹⁰⁴

वृत्तिकार ने बहुपुत्र की बात समझाने के लिए मत्स्य आदि का उदाहरण दिया है। मछली के एक साथ नौ लाख बच्चे उत्पन्न हो सकते हैं और निष्पन्न भी हो सकते हैं। मनुष्य-स्त्री की योनि में नौ लाख जीव उत्पन्न हो सकते हैं किन्तु निष्पन्न बहुत नहीं होते।¹⁰⁵ भगवती जोड़ के कर्ता श्रीमज्जयाचार्य के अनुसार ये नौ लाख जीव संज्ञी (समनस्क) होते हैं।¹⁰⁶ संभोग के समय असंज्ञी जीव भी पैदा होते हैं।¹⁰⁷ उनकी संख्या यहां निर्दिष्ट नहीं है।

इससे सम्बन्धित गौतम स्वामी की अंतिम जिज्ञासा होती है—

भन्ते! मैथुन सेवन करने वाले जीव के कैसा असंयम होता है?

गौतम! जिस प्रकार कोई पुरुष तपी हुई शलाका से रूई से भरी हुई नालिका अथवा बूर से भरी हुई नालिका को ध्वस्त कर देता है। गौतम! मैथुन सेवन करने वाले जीव के ऐसा असंयम होता है।

प्रस्तुत सूत्र में मैथुन के द्वारा होने वाले असंयम को समझाया गया है।

भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य पर बहुत बल दिया। अब्रह्मचर्य से राग या मूर्च्छा बढ़ती है। यह अब्रह्मचर्य की वर्जना का एक पहलू है। उसकी वर्जना का दूसरा पहलू है—हिंसा। संभोग—काल में उत्कर्षतः नौ लाख जीवों की हिंसा होती है। वे जीव पंचेन्द्रिय होते हैं। वृत्तिकार ने इस श्रुति का उल्लेख किया है¹⁰⁸ और भी हम चिंतन करें तो पायेंगे कि असत्य—वचन, चोरी व परिग्रह भी कुछ हद तक अब्रह्मचर्य के परिणाम हो सकते हैं।

अतः अविरति जब तक है तब तक आस्रव का आक्रमण हमारे ऊपर हर क्षण होता रहता है। जब व्रत—कवच का निर्माण हो जाता है तो आस्रव से व्यक्ति अपनी सुरक्षा करने में समर्थ हो जाता है।

प्रमाद आस्रव

प्रमाद के कारण होने वाला कर्मबन्ध प्रमाद आस्रव कहलाता है। मुख्य रूप से धर्माचरण में अनुत्साह को प्रमाद कहा जाता है। सर्वार्थसिद्धि में प्रमाद को परिभाषित करते हुए कहा गया—स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः।¹⁰⁹ यानि अच्छे कार्यों के करने में आदर भाव का न होना प्रमाद है।

समयसार आत्मख्याति टीका में कहा है—

कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः।¹¹⁰

अर्थात् कषाय के भार से भारी होने को आलस्य कहा जाता है, उसे प्रमाद कहते हैं। द्रव्यसंग्रह टीका में कहा गया—‘अन्तरंग में प्रमाद रहित शुद्धात्मानुभव से डिगाने रूप और बाह्य विषय में मूलगुणों तथा उत्तरगुणों में मैल उत्पन्न करने वाला प्रमाद है।

अभ्यंतरे निष्प्रमादशुद्धात्मानुभूतिचलनरूपः, बहिर्विषये तु मूलोत्तर-गुणमलजनकश्चेति प्रमादः।¹¹¹

महापुराण में कहा गया—छटे गुणस्थान में व्रतों में संशय उत्पन्न करने वाली जो मन, वचन, काय की प्रवृत्ति है उसे प्रमाद कहते हैं, यह बन्ध का कारण है—कायवाक्चेतसां वृत्तिर्प्रतानां मलकारिणी। या सा षष्ठगुणस्थाने प्रमादो बन्धवृत्तये।¹¹²

प्रमाद के पांच प्रकार हैं—

मज्जं विसय कसाया निद्वा विगहा य पंचमी भणिया।¹¹³

मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा के भेद से प्रमाद पांच प्रकार का है।

प्रमाद साधना का बाधक तत्त्व है। व्यक्ति का उत्साह ही नहीं होगा तो वह साधना क्या करेगा? किसी भी कार्य की शुरुआत और निष्पन्नता के लिए सबसे पहले उस कार्य के प्रति उत्साह होना आवश्यक है। प्रमाद की उपस्थिति में साधना नहीं हो सकती।

प्रचुर कर्मरूपी इन्धन से उत्पन्न, निरन्तर प्रज्वलित, शारीरिक और मानसिक दुःखरूपी अग्नि की ज्वालाओं से यह सारा संसार—वास घिरा हुआ है। उसमें रहने वाला व्यक्ति उस अग्नि को साक्षात् देख रहा है। उस प्रज्वलित गृह से निर्गमन का उपाय है वीतराग द्वारा प्रणीत धर्म का समाचरण। कर्मोदय से विचित्र परिणाम विशेष से उसको न देखता हुआ, उस विकराल अग्नि के भय की गणना न करता हुआ वह जीव परलोक के लिए की जाने वाली विशिष्ट क्रियाओं से विमुख ही रहता है। इसका मूल कारण है—प्रमाद। इस प्रमाद के मद्य आदि जो हेतु हैं, वे सभी प्रमाद हैं क्योंकि वे प्रमाद के कारणभूत हैं—

प्रचुरकर्मन्धनप्रभवनिरन्तराविध्यातशारीरमानसातेकदुःखहुतवह—ज्वालाकलापपरीतमशेषमेव संसार—वासगृहं पश्यंस्तन्मध्यवर्त्यपि सति च तन्निर्गमनोपाये वीतरागप्रणीतधर्मचिन्तामणौ यतो विचित्रकर्मोदय—साचिव्य—जनितात् परिणामविशेषादपश्यन्निव तद्भयमविगणय्य विशिष्टपर—लोक—

क्रियाविमुख एवास्ते जीवः स खलु प्रमादः। तस्य च प्रमादस्य ये हेतवो मद्यादयस्तेऽपि प्रमादास्तत्कारणत्वात्।¹¹⁴

प्रमाद—बहुल जीव शुभ—अशुभ कर्मों द्वारा जन्म मृत्युमय संसार में परिभ्रमण करता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भी प्रमाद मत कर।¹¹⁵ उत्तराध्ययन का दसवां अध्ययन भी अप्रमत्तता का संदेश देता है। भगवान् महावीर की साधना का रहस्य यदि एक शब्द में कहा जाए तो वह है 'जागरूकता', 'अप्रमाद'। इसलिए भगवान् महावीर अपने प्रिय अन्तेवासी गौतम को अप्रमत्तता का संबोध देते हैं।

प्रमाद का परिवार बहुत बड़ा है। क्षणभर का भरोसा नहीं है। मृत्यु की तलवार सिर पर लटक रही है। कभी भी वह गिरकर गर्दन काट सकती है। ऐसे समय में प्रमाद? "यह मेरे पास है और यह नहीं है, यह मुझे करना है और यह नहीं करना है—इस प्रकार वृथा बकवास करते हुए पुरुष को उठाने वाला काल उठा लेता है। इस स्थिति में प्रमाद कैसे किया जाए।"

**इमं च मे अत्थि, इमं च नत्थि,
इमं च मे किच्च, इमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं,
हरा हरंति त्ति कंहं पमाए।।¹¹⁶**

अतः आत्मा के प्रति जागरूकता जरूरी है। अपने प्रति जागरूक व्यक्ति अभय होता है जबकि प्रमादी को सब ओर से भय सताता है—

'सव्वतो पमत्तस्स भयं।'¹¹⁷

जिज्ञासा होती है कि प्रमाद कब छोड़ा जाए, अप्रमत्त कब बनें? सामान्य अवधारणा यही होती है कि बचपन से युवावस्था तक का काल तो मस्ती का है। अप्रमत्त वृद्धावस्था में ही हुआ जा सकता है। उस अवस्था में निद्रा भी कम हो जाती है तो उस समय हम अपने प्रति अप्रमत्त हो जाएंगे। इसका समाधान देता है उत्तराध्ययन का यह पद्य—

**स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा, एसोवमा सासयवाइयाणं।
विसीयई सिढिले आउयंमि, कालोवणीए सरीरस्स भेए।।
खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं, तम्हा समुट्ठाया पहाय कामे।
समिच्च लोयं समया महेसी, अप्पाणरक्खी चरमप्पमत्तो।।¹¹⁸**

जो पूर्व जीवन में अप्रमत्त नहीं होता वह पिछले जीवन में भी अप्रमाद को नहीं पा सकता। "पिछले जीवन में अप्रमत्त हो जाएंगे"—ऐसा

निश्चय वचन शाश्वतवादियों के लिए ही उचित हो सकता है। पूर्व जीवन में प्रमत्त रहने वाला आयु के शिथिल होने पर मृत्यु के द्वारा शरीरभेद के क्षण उपस्थित होने पर विषाद को प्राप्त होता है।

कोई भी मनुष्य विवेक को तत्काल प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिए मोक्ष की एषणा करने वाले महर्षि! तुम उत्थित हो, जीवन के अन्तिम भाग में अप्रमत्त बनें—इस आलस्य को त्यागो। कामभोगों को छोड़, लोक को भलीभांति जान समभाव में रमण तथा आत्मरक्षक और अप्रमत्त होकर विचरण करो।

सुतेसु यावी पडिबुद्धजीवी, न वीससे पंडिए आसुपन्ने।

घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारुंडपक्खी व चरप्पमत्तो।।¹¹⁹

आशुप्रज्ञ पंडित सोये हुए व्यक्तियों के बीच भी जागृत रहे। प्रमाद में विश्वास न करे। काल बड़ा घोर (क्रूर) होता है। शरीर दुर्बल है, इसलिए वह भारण्ड पक्षी की भांति अप्रमत्त होकर विचरण करे।

अप्रमाद अहिंसा है, प्रमाद हिंसा है। हिंसा की परिभाषा देते हुए कहा है—

पमत्तजोगस्स पाणववरोवणं हिंसा।¹²⁰

अर्थात् प्रमादयुक्त प्रवृत्ति से प्राणवियोजन करना हिंसा है। यहां प्राणवियोजन के साथ प्रमाद जुड़ा है और वही हिंसा का कारण बना है। अतः प्रमाद ही हिंसा है। अप्रमत्त व्यक्ति नियमतः अहिंसक होता है—

नाणी कम्मस्स खयड्ढमुट्ठिओऽणुट्ठितो य हिंसाए।

जयइ असढं अहिंसत्थमुट्ठिओ अवहओ सो उ।।

तस्स असंचेअयओ संचेययतो य जाइं सत्ताइं।

जोगं पप्प विणस्संति नत्थि हिंसाफलं तस्स।।¹²¹

जो ज्ञानी पुरुष कर्मक्षय के लिए उत्थित और हिंसा में अनुत्थित है, वह कर्मबन्ध नहीं करता। अहिंसा में उत्थित पुरुष यदि शुद्धभाव से प्रवृत्ति करता है, उससे जान या अनजान में सहसा प्राणिवध होने पर भी वह अवधक हैं, उसे हिंसा का दोष नहीं लगता। यहां प्रमाद के लिए अनुत्थित व अप्रमाद के लिए उत्थित शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्रमाद को मूढ़ता भी कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति के जो राग-द्वेष आदि की स्थितियां बनती हैं, वे भी प्रमाद का

ही परिणाम है। ऐसी स्थितियों में ही हिंसा होती है। ओघनिर्युक्ति में कहा गया है—

**रत्तो वा दुद्धो वा मूढो वा जं पउंजइ पओगं ।
हिंसावि तत्थ जायइ तम्हा सो हिंसओ होइ ।।
न य हिंसामित्तेणं सावज्जेणावि हिंसओ होइ ।
सुद्धस्स उ संपत्ती अफला भणिया जिणवरेहिं ।।¹²²**

राग—द्वेष और मूढता के वशीभूत हो जो मन, वचन, काया का प्रयोग करता है, उसे हिंसा का दोष लगता है, वह हिंसक है। हिंसामात्र से हिंसक नहीं होता। जो राग—द्वेष मुक्त शुद्ध है, वह हिंसा से होने वाले कर्मफल का भागी नहीं होता।

**जा जयमाणस्स भवे विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स ।
सा होइ निज्जरफला अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ।।
परमरहस्समिसीणं समग्गणिपिडगङ्गरितसारणं ।
परिणामियं पमाणं निच्छयमवलंबमाणं ।।¹²³**

जो सूत्र और अर्थ का ज्ञाता है, जिसकी भावधारा विशुद्ध है, उस जागरूक गीतार्थ मुनि द्वारा होने वाली विराधना भी निर्जरा फल वाली है—यह द्वादशांगवेत्ता ऋषियों से प्राप्त रहस्य है। निश्चयनयावलम्बी के लिए परिणामधारा ही प्रमाण है।

प्रमत्त के साम्परायिक व अप्रमत्त के ईर्यापथिक बंध होता है—
नास्ति तस्य साधोहिंसाफलं—साम्परायिकम्। यदि परमीर्याप्रत्ययं कर्म भवति, तच्चैकस्मिन् समये बद्धमन्यस्मिन् समये क्षपयति।¹²⁴

हिंसा के फलस्वरूप साम्परायिक कर्मबंध होता है। उस अप्रमत्त मुनि के साम्परायिक कर्मबंध नहीं होता, ईर्यापथ कर्मबंध होता है। प्रथम समय में बद्ध वह कर्म दूसरे समय में क्षीण हो जाता है।

दो व्यक्तियों के द्वारा समान क्रियाएं किये जाने पर भी कर्मबंध में असमानता प्रमाद की परिणति है।

**अविसिट्ठमवि जोगमि बाहिरे होइ विहरया इहरा ।
सुद्धस्स उ संपत्ती अफला जं देसिआ समए ।।¹²⁵**

गृहस्थ और साधु के प्राणातिपात आदि बाह्य क्रियाएं समान होने पर भी उनका परिणाम असमान होता है। वीतराग साधु के प्राणातिपात आदि की क्रिया अफल हो जाती है। उससे बन्ध नहीं होता, ऐसा सिद्धांत में कहा गया है।

इस प्रकार प्रमाद आस्रव का हेतु कहा है। विचार करने पर यह तथ्य सामने आता है कि जब कोई व्यक्ति हिंसा, असत्य वचन, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि का प्रयोग करता है तो वह प्रमाद के कारण ऐसा करता है। अतः प्रमाद को आस्रव की कोटि में रखना उचित प्रतीत होता है।

4. कषाय आस्रव

कषाय के द्वारा होने वाला बन्ध कषाय आस्रव होता है। कषाय शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया—

कम्मं कस भवो वा कसमाओ सिं जओ कसाया तो।

कसमाययंति व जओ गमयंति कसं कसाय ति।¹²⁶

1. जिससे प्राणी पीड़ित होते हैं, वह है कष अर्थात् कर्म या भव। जिनसे कर्म या भव की प्राप्ति होती है, वह है कषाय।
2. जो कष—संसार को प्राप्त कराते हैं—वे हैं कषाय।
3. जो कष—संसार के उपादान कारण हैं—वे हैं कषाय।

कषाय संसार का कारण बनने के कारण आस्रव है। कषाय के सोलह प्रकार हैं—

सोलसविहभेएणं कम्मं तु कसायजं।¹²⁷

षोडशविधत्वं चास्य क्रोधमानमायालोभानां चतुर्णामपि प्रत्येक—
मनन्तानु—बन्ध्यप्रत्याख्यानावरण— संज्वलनभेदतश्चतुर्विधत्वात्।¹²⁸

कषाय के सोलह प्रकार हैं—

अनन्तानुबन्धी — 1. क्रोध 2. मान 3. माया 4. लोभ।

अप्रत्याख्यान — 5. क्रोध 6. मान 7. माया 8. लोभ।

प्रत्याख्यान — 9. क्रोध 10. मान 11. माया 12. लोभ।

संज्वलन — 13. क्रोध 14. मान 15. माया 16. लोभ।

क्या होता है अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन चतुष्क से?

अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क के उदयकाल में भव्य जीव भी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकते—

पढमिल्लुयाण उदए नियमा संजोयणा कसायाणं।

सम्मइंसणलभं भवसिद्धीयावि न लहंति।।¹²⁹

अप्रत्याख्यानचतुष्क के उदयकाल में सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है, विरताविरत—श्रावकत्व प्राप्त नहीं होता।

बिइयकसायाणुदए अपच्चक्खाणनामधेज्जाणं ।

सम्मदंसणलंभं विरयाविरइं न उ लहंति ।।¹³⁰

विशेषावश्यक भाष्य का मत है कि अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से देश (आंशिक) और सर्व—दोनों प्रकार के प्रत्याख्यान नहीं होते। यहां 'अकार' सर्वप्रतिषेध का वाचक है—

सव्वं देसो व जओ पच्चक्खाणं न जेसिमुदएणं ।

ते अप्पच्चक्खाणा सव्वनिसेहे मओऽकारो ।।¹³¹

जो सर्वप्रत्याख्यान को आवृत करते हैं, अंश को नहीं, वे प्रत्याख्यानावरण कषाय हैं—

तइयकसायाणुदए पच्चक्खाणावरणनामधिज्जाणं ।

देसिक्कदेसविरइं चरित्तलंभं न उ लहंति ।।¹³²

मूलगुणों (महाव्रत आदि) का घात करने वाले प्रत्याख्यान—कषायचतुष्क आदि का उदय रहने पर मूलगुणों की प्राप्ति नहीं होती। संज्वलन कषाय का उदय होने के कारण यथाख्यात चारित्र प्राप्त नहीं होता—

मूलगुणाण लंभं न लहइ मूलगुणाधाइणं उदए ।

उदए संजलणाणं न लहइ चरणं अहक्खायं ।।¹³³

विशेषावश्यकभाष्य में संज्वलन कषाय का अर्थ किया है—अल्पदीप्त, शीघ्रदीप्त अथवा परीषह आदि के कारण दीप्त कषाय।

जिज्ञासा होती है कि कषाय से व्यक्ति संसारभ्रमण करता है तो क्या कषाय कभी समाप्त होंगे? उनकी स्थिति कितनी और उनका उत्पत्तिस्थल क्या हो सकता है? इसका समाधान देती है प्रस्तुत गाथा—

पक्ख—चउम्मास—संवच्छर—जावज्जीवाणुगामिणो कमसो ।

देव—नर—तिरिय—नारयगइसाहणहेयवो ।।¹³⁴

अनन्तानुबन्धी	अप्रत्याख्यान	प्रत्याख्यान	संज्वलन
स्थिति	यावज्जीवन	संवत्सर	चार मास एक पक्ष
उत्पत्तिस्थल	नरकगति	तिर्य्यचगति	मनुष्यगति देवगति

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन—इन चार प्रकार के कषायों को कैसे समझें? कैसे पता चले कि तत्कालीन कषाय किस कोटि में आएगा? इसी का उत्तर मिलता है विशेषावश्यकभाष्य में—

जल-रेणु-भूमि-पव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो ।

तिणिसलयाकड्डुट्टियसेलत्थंभोवमो माणो ॥

मालावलेहि-गोमुत्ति-मेंढसिंग-धणवंसिमूलसमा ।

लोहो हरिद्द-खंजण-कद्दम-किमिरागसमाणो ॥¹³⁵

अनन्तानुबन्धी क्रोध	पर्वत की रेखा के समान ।
अप्रत्याख्यान क्रोध	भूमि की रेखा के समान ।
प्रत्याख्यान क्रोध	रेणु की रेखा के समान ।
संज्वलन क्रोध	जल की रेखा के समान ।
अनन्तानुबन्धी मान	शैल के स्तम्भ के समान ।
अप्रत्याख्यान मान	अस्थि के स्तम्भ के समान ।
प्रत्याख्यान मान	काष्ठ के स्तम्भ के समान ।
संज्वलन मान	तिनिशलता के स्तम्भ के समान ।
अनन्तानुबन्धी माया	वंशीमूल के समान ।
अप्रत्याख्यान माया	मेष-विषाण के समान ।
प्रत्याख्यान माया	गोमूत्रनिका के समान ।
संज्वलन माया	अवलेखनिका के समान ।
अनन्तानुबन्धी माया	कृभिराग के समान ।
अप्रत्याख्यान माया	कर्दमराग के समान ।
प्रत्याख्यान माया	खंजनराग के समान ।
संज्वलन माया	हरिद्रराग के समान ।

ये हुई कषाय की कोटियां। यह स्वयं व्यक्ति पर निर्भर है कि वह देखे उसका क्रोध कैसा है। जल की रेखा के समान क्षणिक है या शैल की रेखा के समान जन्म-जन्मान्तर तक रहने वाला है। इस प्रकार आत्मचिन्तन से यह स्पष्ट होता है कि कषाय किस कोटि का है।

अन्तर्-समुद्र में उच्छलित कषाय-तरंगों को रोका जाए। जब तक ये तरंगें उठती रहेंगी तब तक पुनर्जन्म, पूर्वजन्म—यों जन्म-भ्रमण का चक्र भी चलता रहेगा। अनिगृहीत क्रोध और मान, प्रवर्धमान माया और लोभ—ये चारों संक्लिष्ट कषाय पुनर्जन्म रूपी वृक्ष की जड़ों का सिंचन करते हैं—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्डुमाणा ।

चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणभवस्स ॥¹³⁶

कषाय से रंजित चित्त पतन का हेतु बनता है। गति का पतन

भी होता रहता है। ऊंची गति में मनुष्य है तो कषायों के कारण वह उससे नीची गति में भी जा सकता है—

अहे वयइ कोहेणं माणेणं अहमा गई।

माया गईपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भवं।।¹³⁷

क्रोध से मनुष्य अधोगति में जाता है। मान से अधम गति होती है। माया से सुगति का विनाश होता है। लोभ से दोनों प्रकार का—ऐहिक और पारलौकिक भय होता है।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।

माया भित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो।।¹³⁸

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने वाला है, माया मैत्री का विनाश करती है और लोभ सबका नाश करने वाला है। दशवैकालिक का यह सूत्र व्यावहारिक भी है। व्यावहारिक जीवन में दृष्टिपात करें तो देखा भी जाता है कि प्रेम में क्रोध दरार डाल देता है। अभिमान से विनम्रता नष्ट होती है। दो मित्रों में यदि सरलता नहीं है तो मित्रता क्षणभर में टूट जाती है और लोभ से तो सभी कुछ नष्ट हो जाता है। लोभ के भंवर में फंसा व्यक्ति निकल नहीं सकता और जब समझ आती है तो सब कुछ नष्ट हो चुका होता है, यहां तक कि स्वयं का वजूद भी नहीं बचता।

कषाय की अल्पता पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए। यह थोड़ा होते हुए भी बहुत होता है—

अणथोवं वणथोवं अग्गिथोवं कसायथोवं च।

ण हु भे वीससियव्वं थोवंपि हु तं बहु होइ।¹³⁹

और ज्यादा क्या कहें? कषायों का उपशमन करने वाले तथा महान् गुणों से अर्हत् के समान चारित्र वाले व्यक्ति को भी कषाय नीचे गिरा देते हैं, फिर सरागी व्यक्तियों की तो बात ही क्या?

इतना अनर्थ कषाय आस्रव से होता है। आखिर इस पर विजय कैसे प्राप्त करें? क्या हो सकते हैं कषाय विजय के उपाय? उपाय हो सकते हैं—

उवसमेण हणे कोहं, माणं महवया जिणे।

मायं चज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे।।¹⁴⁰

उपशम से क्रोध का हनन करें, मृदुता से मान को जीते, ऋजुभाव से माया को और संतोष से लोभ को जीते।

उत्तराध्ययन के केशी-गौतम संवाद में केशीकुमार श्रमण के इसी तरह का प्रश्न किये जाने पर गौतम स्वामी ने कहा—‘कषायों को अग्नि कहा गया है। श्रुत, शील और जप जल हैं। श्रुत की धारा से आहत किये जाने पर निस्तेज बनी हुई वे अग्नियां मुझे नहीं जलातीं।

कषाय समाप्त हो गया तो उससे क्या लाभ? कषाय-प्रत्याख्यान के क्या परिणाम हैं? जिज्ञासा होने पर समाधान मिलता है—

.....**कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ।**

वीयरागभावपडिवन्ने वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ।¹⁴¹

कषाय के प्रत्याख्यान से जीव वीतरागभाव को प्राप्त होता है। वीतरागभाव को प्राप्त हुआ जीव सुख-दुःख में सम हो जाता है।

.....कोहविजएणं खंतिं जणयइ। कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

.....माणविजएणं मद्दवं जणयइ। माणवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

.....मायाविजएणं उज्जुभावं जणयइ। मायावेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

.....लोभविजएणं संतोसीभावं जणयइ। लोभवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।¹⁴²

क्रोधविजय से जीव क्षमा को उत्पन्न करता है। वह क्रोधवेदनीय कर्म का बंधन नहीं करता और पूर्वबद्ध तन्निमित्तिक कर्म को क्षीण करता है।

इसी प्रकार मानविजय से मृदुता को, माया-विजय से ऋजुता को और लोभ-विजय से संतोष को उत्पन्न करता है।

इस प्रकार कषाय आस्रव के परिणामस्वरूप होने वाली हानियां एवं उनकी विजय के परिणामस्वरूप होने वाले अच्छे परिणामों को देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि कषाय कितना खतरनाक है और वह जीव को पंगु बनाकर छोड़ता है। वह जीव मुक्ति-पर्वत पर आरोहण नहीं कर सकता।

5. योग आस्रव

मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति योग है। योग को परिभाषित करते हुए कहा गया—

जं तेण जुज्जए वा स कम्मुणा जं च जुज्जए तम्मि ।

तो जोगो सो य मओ तिविहो कायाइवावारो ।।¹⁴³

जिससे आत्मा कर्म से सम्बद्ध होती है, वह योग है। उसके तीन प्रकार हैं—मनोयोग, वचनयोग, काययोग। योग की निरुक्ति करते हुए कहा—

योजनं योगः संबन्ध इति यावत्¹⁴⁴—सम्बन्ध करने का नाम योग है।

धवला में कहा गया—युज्यत इति योगः¹⁴⁵—जो सम्बन्ध अर्थात् संयोग को प्राप्त हो, उसे योग कहते हैं।

जीव के वीर्य या शक्ति विशेष को भी योग कहा गया—

मणसा वाया काएण वा वि जुत्तस्स विरियपरिणामो ।

जीवस्स (जिह) प्पणिजोगो जोगो त्ति जिणेहिं णिदिट्ठो ।।¹⁴⁶

मन, वचन और काय से युक्त जीव का जो वीर्य—परिणाम अथवा प्रदेश परिस्पन्द रूप प्रणियोग होता है, उसे योग कहते हैं।

योग आत्मप्रदेशों के परिस्पन्द के साथ भी जुड़ा हुआ है।

योगो वाङ्मनसकायवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः ।¹⁴⁷

वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणा के निमित्त से होने वाले आत्मप्रदेशों के हलन—चलन को योग कहते हैं।

ऐसी ही बात तत्त्वार्थराजवार्तिक में कही गई है—आत्मनो मनोवाक्कायवर्गणालम्बनः प्रदेशपरिस्पन्दः उपयोगो योगः ।¹⁴⁸

मन, वचन और काय वर्गणा निमित्तक आत्मप्रदेश का परिस्पन्द योग है।

धवला में आत्मप्रदेशों के संकोच और विस्तार रूप होने को योग कहा है ।¹⁴⁹

योग शब्द का प्रयोग समाधि के अर्थ में भी होता है। नियमसार में कहा गया है—

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु ।

जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो ।।¹⁵⁰

विपरीत अभिनिवेश का परित्याग करके जो जैन कथित तत्त्वों में आत्मा को लगाता है, उसका निजभाव योग है।

सर्वार्थसिद्धि में कहा गया—

योगः समाधिः सम्यक्प्रणिधानमित्यर्थः¹⁵¹—योग, समाधि और सम्यक् प्रणिधान—ये एकार्थवाची नाम हैं। राजवार्तिक में भी ऐसी ही परिभाषा प्राप्त होती है—

युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम्¹⁵²—योग का अर्थ समाधि और ध्यान भी होता है।

इस प्रकार योग शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहां पर हम आस्रव के रूप में विचार कर रहे हैं तो कर्म के साथ सम्बन्ध के कारण योग शब्द हमारे लिए अधिक उपादेय है।

योग के तीन प्रकार हैं—मनोयोग, वचनयोग एवं काययोग।

1. मनोयोग

मन का योग मनोयोग है। विशेषावश्यकभाष्य में मनोयोग को निम्न शब्दों में परिभाषित किया—

....तणुवावाराहिअमणदव्वसमूहजीववावारो ।

सो मणजोगो भण्णइ मण्णइ नेयं जओ तेणं ।।¹⁵³

काययोग से गृहीत मनोद्रव्य के द्वारा जीव का जो व्यापार होता है, वह मनोयोग से ज्ञेय का चिंतन—मनन किया जाता है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर की प्रवृत्ति से गृहीत मनोवर्गणा के पुद्गलों के सहयोग से होने वाला जीव का चिन्तनात्मक प्रयत्न मनोयोग है।

औदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसाचिव्याजीवव्यापारो मनोयोगः ।¹⁵⁴

मन के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल मनोयोग के अन्तर्गत आते हैं।

2. वचनयोग

वचन का योग वचनयोग है।

.....तणुजोगाहिअवइदव्वसमूहजीववावारो ।

सो वइजोगो भण्णइ वाया निसिरिज्जए तेणं ।।¹⁵⁵

काययोग से गृहीत शब्दद्रव्य के द्वारा जीव का जो व्यापार होता है, वह वचनयोग है। वचनयोग से शब्दद्रव्यों का विसर्जन होता है।

औदारिकवैक्रियाहारकव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याजीवव्यापारो वाग्योगः ।¹⁵⁶

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर की प्रवृत्ति से गृहीत भाषावर्गणा के पुद्गलों के सहयोग से होने वाला जीव का भाषात्मक प्रयत्न वचनयोग है।

3. काययोग

औदारिक आदि शरीर के द्वारा होने वाली आत्मा की वीर्यपरिणति काययोग है।

औदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः।¹⁵⁷
काययोग के तीन रूप हैं—

....तणुसंरभेण जेण मुंचइ स वाइओ जोगो।

मण्णइ य स माणसिओ तणुजोगो चव स विभत्तो।¹⁵⁸

जिस कायव्यापार से जीव शब्द-द्रव्यों को छोड़ता है, वह वचनयोग है। जिस काय की प्रवृत्ति से जीव मनोद्रव्यों को मनन में व्यापृत करता है, वह मनोयोग है। एक काययोग ही उपाधिभेद से तीन रूपों में विभक्त है।

कहीं-कहीं पर द्रव्ययोग एवं भावयोग की भी चर्चा मिलती है।

मनो-वाक्-काययोगप्रवर्तकानि द्रव्याणि, मनो-वाक्-काय-परिस्पन्दात्मको योगश्च द्रव्ययोगः। यस्त्वेतदुभयरूपयोगहेतुरध्यवसायः स भावयोगः।¹⁵⁹

द्रव्ययोग

(1) मन, वचन और काय के प्रवर्तक द्रव्य।

(2) मन, वाक् और शरीर का परिस्पन्दन।

भावयोग

द्रव्ययोग के सहयोग से होने वाला अध्यवसाय। भावयोग कभी मिश्र नहीं होता। इसी बात को विशेषावश्यकभाष्य में स्पष्ट किया गया है—

कम्मं जोगनिमित्तं सुभोऽसुभो वा स एगसमयम्मि।

होज्ज न उ उभयरूवो कम्मपि तओ तयणुरुवं।।

नणु मण-वइ-काओगा सुभासुभा वि समयम्मि दीसंति।

दव्वम्मि मीसभावो भवेज्ज न उ भावकरणम्मि।।

झाणं सुभमसुभं वा न उ मीसं जं च झाणविरमे वि।

लेसा सुभाऽसुभा वा सुभमसुभं या तओ कम्मं।।¹⁶⁰

कर्मबंध का हेतु है योग। यह योग एक समय में या तो शुभ होता है या अशुभ, मिश्र नहीं होता।

कुछ कहते हैं—‘अविधि से दान आदि का उपदेश देने, अविधि से पूजा, वन्दना आदि प्रवृत्ति करने से शुभ और अशुभ—मिश्रयोग होता है’ पर यह कथन अयुक्त है।

व्यवहार नय की अपेक्षा द्रव्ययोग मिश्र हो भी सकता है किन्तु निश्चय नय के अभिभूत में द्रव्ययोग और भावयोग—दोनों ही मिश्र नहीं हो सकते।

अध्यवसाय के दो प्रकार हैं—शुभ और अशुभ। अध्यवसाय का तीसरा प्रकार शुभाशुभ या मिश्र अध्यवसाय आगमों में कहीं भी प्रतिपादित नहीं है।

कारण के अनुरूप कार्य होता है। इसलिए शुभ अध्यवसाय या भावयोग से पुण्य और अशुभ से पाप का बंध होता है। पुण्य और पाप का मिश्रण नहीं होता, मिश्र बंध नहीं होता। ध्यान और लेश्या शुभ और अशुभ होते हैं, मिश्र नहीं होते। ये भावयोग हैं। अतः भावयोग मिश्र नहीं होता।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आस्रव संसार—भ्रमण का कारण है और पांचों आस्रवों की वजह से ही संसारी जीव का स्वरूप है।

अब हमें मुक्त आत्मा के स्वरूप पर विचार विमर्श करना है।

मोक्ष का स्वरूप

भारतीय दर्शन में मूल्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुरुषार्थ नाम से भारतीय दर्शन में मूल्य को अभिहित किया गया है। पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। अर्थ और काम सांसारिकता से सम्बन्धित है। धर्म और मोक्ष परमार्थ के साधक हैं। धर्म का अर्थ नैतिकता मात्र से है। मोक्ष से तात्पर्य आध्यात्मिक मूल्य से है। मोक्ष का साधन नैतिक जीवन है। इस प्रकार धर्म साधन है और मोक्ष साध्य है।

मोक्ष ही भारतीय दर्शन की वह विशेषता है जो उसे पश्चिमी दर्शन से जुदा करती है। पश्चिमी दर्शन के अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य नैतिक या धार्मिक जीवन तथा मानवता की सेवा है, पर भारतीय ऋषियों ने इन्हें केवल साधन मूल्य माना है। भारतीय दर्शन का साध्य तो सभी दुःखों का आत्यन्तिक अभाव तथा जीवन—मरण के चक्र से मुक्ति पाना है, मोक्ष को सभी भारतीय दर्शनों ने केन्द्र बिन्दु माना है।

मोक्ष का अर्थ है मुक्त होना। संसारी आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त होता है। अतः आत्मा और बन्ध का अलग हो जाना मोक्ष है। मोक्ष शब्द 'मोक्ष असने' धातु से बना है, जिसका अर्थ छूटना या नष्ट होना होता है। इसलिए समस्त कर्मों का समूल आत्यन्तिक उच्छेद होना मोक्ष कहलाता है।¹⁶¹ पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में भी कहा है—“जब आत्मा कर्ममल कलंक रूपी शरीर को अपने से सर्वथा अलग कर देती है, तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, उसे मोक्ष कहते हैं।”¹⁶² अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में एक उदाहरण द्वारा मोक्ष को समझाते हुए कहा है कि जिस प्रकार बन्धन में पड़ा हुआ प्राणी जंजीर आदि से छूटकर स्वतन्त्र होकर इच्छानुसार गमन करते हुए सुखी होता है, उसी प्रकार समस्त कर्मबन्धन के नष्ट हो जाने पर आत्मा स्वाधीन होकर अत्यधिक ज्ञानदर्शनरूप अनुपम सुख का अनुभव करता है।¹⁶³ आचार्य वीरसेन¹⁶⁴ ने भी यही कहा है।

सांख्यसार में उद्धृत है—

न मोक्षो नभसे पृष्ठे न पाताले न भूतले।

सर्वाशासंक्षये चेतः क्षयी मोक्ष मोक्ष इति श्रुतेः।¹⁶⁵

मेदिनी में पाटलिवृक्ष एवं मोचन इसके पर्याय बताये गए हैं।¹⁶⁶ रामानुज ने इसे आत्मस्वरूपदर्शन कहा है। श्रीधरस्वामी ने मोक्ष को निरसन शब्द दिया है। कुमारसम्भव में पतनम् शब्द से इसे अभिहित किया गया है—मदोद्धता प्रत्यनिलं विचेरुर्वरस्थलीर्मर्मरपत्रमोक्षाः।¹⁶⁷ इसी की टीका में मल्लिनाथ ने लिखा मर्मरपत्रमोक्षाः जीर्णशीर्ण पाताः।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति में मोक्ष के स्वरूप के बारे में उद्धृत है—

अद्विविहकम्ममुक्को नायव्वो भावओ मुक्खो।।

मोक्षः अष्टविधकर्मोच्छेदः। क्षायिकभाव एवात्मनो मुक्तत्वलक्षणो मोक्षः।¹⁶⁸ अर्थात् मोक्ष का अर्थ है—1. ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का समूल उच्छेद। 2. आत्मा का क्षायिकभाव में प्रतिष्ठित होना।

बंध जीवकर्मयोगदुःखलक्षणं मोक्षं च तद्वियोगसुखलक्षणम्¹⁶⁹ इसका अर्थ हुआ कि जीव और कर्म का सम्बन्ध होना बंध है। उसका लक्षण है—दुःख। कर्म के योग से विमुक्त होना मोक्ष है। उसका लक्षण है—अव्याबाध सुख।

णाणं पयासगं सोहओ तवो संजमो य गुत्तिकरो।

तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिणसासणे भणिओ।।¹⁷⁰

यानि ज्ञान प्रकाश करने वाला है। तप शोधन करता है। संयम गुप्ति—निग्रह करता है। तीनों के समायोग समन्विति को जिनशासन में मोक्ष कहा गया है। विभिन्न भारतीय दर्शनों में मोक्ष का स्वरूप भिन्न—भिन्न है।

न्याय—वैशेषिक में मोक्ष की अवधारणा

न्याय—वैशेषिक दोनों वस्तुवादी दर्शन हैं। वस्तुवादी विचारधारा की ज्ञानमीमांसा न्यायदर्शन प्रदान करता है और तत्त्वमीमांसा वैशेषिकों द्वारा प्रस्तुत की जाती है। इस प्रकार न्याय और वैशेषिक एक दूसरे के पूरक हैं। न्याय और वैशेषिकों के अनुसार सभी प्रकार के दुःखों का हमेशा के लिए नाश हो जाना ही मोक्ष या अपवर्ग कहलाता है। यह दुःखों के आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था है। ऐसा जन्म—मरण के चक्र के रुक जाने के परिणामस्वरूप संभव होता है।

न्याय वैशेषिक के अनुसार मोक्ष की अवस्था में दुःख के साथ—साथ सुखों का भी अभाव रहता है। मोक्ष की स्थिति सुख एवं दुःख दोनों से अतीत है।

इस अवस्था में आत्मा अपने सभी आगंतुक धर्मों का त्याग कर देती है। सुख—दुःख, इच्छा, द्वेष, कर्त्तव्य, भोक्तृत्व आत्मा के आगंतुक धर्म हैं। मोक्ष में आत्मा इन सबका त्याग कर देती है। इस अवस्था में आत्मा की स्थिति प्रायः उसी प्रकार की हो जाती है जिस प्रकार गाढ़ सुषुप्तावस्था में वह जड़ पाषाणवत् संज्ञाशून्य हो जाती है।¹⁷¹

वात्स्यायन कहते हैं कि सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति से सांसारिक पदार्थों में आसक्ति का नाश हो जाता है। फलस्वरूप आत्मा को मन, वाणी या शरीर से किसी कर्म को करने की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः पुनः जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। धीरे—धीरे उसके कर्म भोग द्वारा समाप्त हो जाते हैं और उनकी समाप्ति पर वह मुक्त हो जाता है।

पूर्व मीमांसा दर्शन में मोक्ष

पूर्व मीमांसा के दोनों सम्प्रदाय प्रभाकर एवं कुमारिल के अनुसार आत्मा का स्वरूप लगभग वैसा ही है जैसा न्याय वैशेषिक आत्मा का है। अतः मोक्ष की स्थिति एवं उसे प्राप्त करने के साधन भी वहीं हैं, जिन्हें नैयायिक स्वीकार करते हैं।

सांख्य योग में मोक्ष

सांख्य और योग वास्तव में एक ही विचारधारा के दो

पहलू—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक है। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष नित्य मुक्त है। विवेक ज्ञान के उदय से पूर्व भी वह मुक्त ही था। भेद ज्ञान के उदय होने पर जिसका निषेध होता है वह वास्तविक आत्मा नहीं अपितु केवल दोषपूर्ण तादात्म्य है। जिस प्रकार नर्तकी दर्शकों का मनोरंजन करके रंगमंच से चली जाती है, ठीक उसी प्रकार प्रकृति किसी विशेष पुरुष के मोक्ष प्राप्त कर लेने पर उसके सामने से हट जाती है।¹⁷²

सांख्य दर्शन जीवन्मुक्ति अर्थात् शरीर के रहते मोक्ष प्राप्त हो जाना तथा विदेह मुक्ति दोनों को स्वीकार करता है। जिस प्रकार कुम्हार द्वारा चक्के को घुमाना बन्द कर देने पर भी वह कुछ समय तक घूमता रहता है, ठीक उसी प्रकार विवेक ज्ञान के उदय हो जाने पर भी पुरुष कुछ समय तक इस शरीर को धारण किये रहता है। इस समय शरीर में उसकी रुचि समाप्त हो जाती है। इस अवस्था में शरीर द्वारा किये गये कर्म उसके बन्धन का कारण नहीं बनते।¹⁷³ यही जीवन्मुक्ति है। जब भोग द्वारा प्रारब्ध कर्म भी समाप्त हो जाते हैं तो पुरुष इस शरीर को छोड़ देता है तथा पूर्ण कैवल्य को प्राप्त करता है यही विदेह मुक्ति है।¹⁷⁴ वह प्रकृति और उसके विकारों से पूर्णतः मुक्त हो जाता है।

न्याय के अनुसार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक धर्म है। अतः मुक्त आत्मा चेतना से शून्य रहती है।

योग सांख्य दर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष को स्वीकार करता है। परन्तु इस बात पर जोर देता है कि सांख्य द्वारा प्रतिपादित कैवल्य केवल अष्टांगयोग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

कैवल्य मार्ग पर चलते समय योगी को बहुत सी चामत्कारिक शक्तियां प्राप्त होती हैं जिन्हें सिद्धियां कहा जाता है, परन्तु योगसूत्रकार साधक को सावधान करते हैं कि वह इन सिद्धियों के प्रलोभन में न फंसे। ये सिद्धियां कैवल्य प्राप्ति के मार्ग में बाधाएं ही उपस्थित करती हैं। साधक को कैवल्य से कम किसी भी लक्ष्य से सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए।

अद्वैत वेदान्त दर्शन में मोक्ष

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त का सार प्रायः आधे श्लोक में इस प्रकार रखा जाता है—केवल ब्रह्म ही परम सत्य है, विविधता और बहुलता से भरा यह जगत् मिथ्या है तथा जीव और ब्रह्म में कोई भेद

नहीं है—ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

शंकराचार्य अपने मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथमपाद के चतुर्थ सूत्र पर भाष्य करते समय करते हैं। मोक्ष के स्वरूप को बतलाते हुए वे लिखते हैं कि यह परमार्थ है, कूटस्थ नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सभी विकारों से शून्य है, नित्य तृप्त है, अवयवों से रहित है, स्वभाव से स्वयं प्रकाश है। वह एक ऐसी स्थिति है, जहां तक पाप और पुण्य अपने फल सहित त्रिकाल में भी नहीं पहुंच सकते।

जिस प्रकार रज्जु में सर्पभ्रम को ज्ञान से और केवल ज्ञान से ही दूर किया जा सकता है उसी प्रकार मोक्ष भी जो कि ब्रह्म—जगत् भ्रम का दूर होना ही है, ज्ञान से और केवलज्ञान से ही प्राप्त किया जा सकता है। कर्म और भक्ति मन को शुद्ध करके ज्ञान के उदय के लिए आधार तैयार करते हैं और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से मोक्ष के साधन हैं। प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। साधन चतुष्टय के रूप में नैतिक जीवन एवं नैतिकपूर्णता मोक्ष प्राप्ति के लिए अनिवार्य पूर्व स्थिति है। संक्षेप में कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि नैतिक जीवन आवश्यक है तथापि मोक्ष प्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं है।

मुक्त पुरुष के सभी संचित कर्मों का नाश हो जाता है और संचयीमान कर्म उसको बांध नहीं सकते क्योंकि अब वह सभी कर्मों को करते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होता, परन्तु प्रारब्ध कर्मों को उसे भोग द्वारा ही समाप्त करना पड़ता है।

शंकराचार्य जीवन्मुक्ति के कट्टर समर्थक हैं। मोक्ष ब्रह्म से अभेद ज्ञान है। ज्ञान शरीर रहते भी प्राप्त किया जा सकता है। शंकर का तर्क है कि यदि जीवन्मुक्ति न हो तो संसार का पथ— प्रदर्शन कौन करता।

वैष्णव वेदान्त दर्शन में मोक्ष

शंकर के मायावाद का विरोध रामानुज (विशिष्टाद्वैत), मध्व (द्वैत), निम्बार्क और चैतन्य (द्वैताद्वैत या भेदाभेद) तथा वल्लभ (शुद्धाद्वैत) ने किया। इन सब वेदान्तियों ने शंकर के निर्गुण ब्रह्म का तिरस्कार किया और उसके स्थान पर सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया। इन सबने ब्रह्म का विष्णु के किसी न किसी रूप के साथ तादात्म्य स्थापित किया। अतः इन सबको वैष्णव वेदान्ती कहा जाता है। इन सबके अनुसार ब्रह्म सगुण है, जगत् ब्रह्म की आत्म सृष्टि होने के कारण सत्य

है, जीव अणु रूप है तथा उसके मोक्ष प्राप्त करने का एक ही सुरक्षित साधन है और वह है भक्ति। इनके अनुसार मोक्ष की उच्चतम अवस्था में भी जीव अपनी वैयक्तता बनाये रखता है और ईश्वर या ब्रह्म की भक्ति में लीन रहता है।

मोक्ष की अवस्था में जीव को ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप तथा जीव और जगत् के ब्रह्म से वास्तविक सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म का जीव और जगत् से विशिष्ट प्रकार का अद्वैत सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ठीक वैसा ही है जैसा कि द्रव्य का उसके गुणों से या साकल्य का विभिन्न अंशों से या शरीर का उसके विभिन्न अंगों से। मध्व स्पष्ट रूप से ब्रह्म का जीव और जगत् से भेद प्रतिपादित करते हैं। जीव कभी भी ब्रह्म नहीं बन सकता और मोक्ष की उच्चतम अवस्था में उसे पंचभेदों का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। ये पांच भेद हैं—ईश्वर और जीव के बीच भेद, जीवात्मा और जड़-पदार्थों के बीच भेद, एक जीव और जीव के बीच भेद तथा एक जड़-पदार्थ का दूसरे जड़-पदार्थ से भेद निम्बार्क और चैतन्य ब्रह्म के जीव और जगत् से भेद और अभेद दोनों की सत्यता को स्वीकार करते हैं। ब्रह्म का जीव और जगत् से वही सम्बन्ध है जो सागर का उसकी लहरों से है। यह सम्बन्ध भेद और अभेद दोनों को स्वीकार करता है।

कोई भी वैष्णव वेदान्ती, शंकराचार्य के सद्योमुक्ति अर्थात् ब्रह्म ज्ञान होते ही तत्काल मुक्त हो जाना के सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं करता। वे जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं करते। ऐसा जीव जिसने स्वयं और ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है और मोक्ष प्राप्त करने के योग्य हो जाता है।

प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त होने पर तथा शरीर त्याग कर देने पर जीव की ब्रह्म लोक की आध्यात्मिक यात्रा प्रारंभ होती है। ब्रह्मज्ञानी की ब्रह्मलोक की आध्यात्मिक यात्रा के प्रारंभ में शरीर का पतन हो जाता है और जीव की सभी ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियों का मन में लय हो जाता है। फिर मन का प्राण में लय होता है और प्राण का आत्मा में। इसके पश्चात् ब्रह्मविद् की आत्मा सुषुम्ना नाड़ी में से होती हुई शरीर का त्याग कर देती है और देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक को पहुंचती है। देवयान मार्ग के विभिन्न सोपानों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार हैं—मुक्त आत्मा सर्वप्रथम अर्चि (ज्योति, अग्नि अथवा सूर्य किरण) को प्राप्त होती है।

अर्चि से दिन के देवता को, दिन के देवता से शुक्ल-पक्ष के देवता को, शुक्लपक्ष के देवता से उत्तरायण के देवता को, उत्तरायण के देवता से संवत्सर के देवता को प्राप्त होती है। इसके पश्चात् देवलोक प्रारंभ होता है। मुक्तात्मा वायुलोक को, वायुलोक से सूर्य को, सूर्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत को, विद्युत से वरुण लोक को, वरुण लोक से इन्द्रलोक को, इन्द्रलोक से प्रजापति लोक को और अन्त में ब्रह्मलोक को प्राप्त होती है।

एक बार मुक्त आत्मा के ब्रह्मलोक पहुंच जाने पर वहां से पुनरागमन का कोई भय नहीं रहता, यही सालोक्य मुक्ति है। ब्रह्मलोक में रहते हुए आत्मा क्रमशः ब्रह्म के ऐश्वर्य का उपभोग करती है, इसी को सार्ष्टि मुक्ति कहते हैं। फिर मुक्त आत्मा धीरे-धीरे ब्रह्म के समीप आती है, इसी को सामीप्य मुक्ति कहते हैं। फिर मुक्त आत्मा धीरे-धीरे ब्रह्म के समान बन जाती है, इसको सारूप्य मुक्ति कहते हैं। फिर वह द्रव्य ब्रह्म के शरीर में प्रवेश कर जाती है और उससे ऐक्य स्थापित करती है, इस स्थिति को सायुज्य मुक्ति कहते हैं।

सायुज्य की इस अवस्था में भी, जो कि वैष्णव वेदान्तियों के अनुसार मुक्ति की सर्वोच्च अवस्था है, मुक्त आत्मा अपनी वैयक्तता को कायम रखती है। स्वयं को ईश्वर की भक्ति में लीन रखती है। मोक्ष में केवल अहंकार का ही नाश होता है। मुक्त आत्मा स्वयं ब्रह्म नहीं बनती अपितु ब्रह्म के समान बन जाती है। मुक्त आत्मा की ब्रह्म के साथ समानता केवल ब्रह्मानन्द के उपभोग तक ही सीमित है। मुक्त आत्मा अणुरूप ही रहती है जब कि ब्रह्म विष्णु है। रामानुज के अनुसार सब मुक्त आत्माएं सभी दृष्टियों से एक समान हैं परन्तु मध्व मुक्त आत्माओं में भी गुणात्मक भेद को प्रतिपादित करते हैं।

बौद्ध दर्शन में मोक्ष

सब कुछ अनित्य है, सब कुछ निस्सार है तथा केवल निर्वाण में ही शान्ति है सर्वमनित्यं, सर्वमनात्मं, निर्वाणं शान्तम्—यह त्रिसूत्री शिक्षा बौद्ध दर्शन के प्रासाद की आधार शिला है। मोक्ष को निर्वाण शब्द से अभिहित किया गया बौद्ध दर्शन में। निर्वाण शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की जाती है। निर्वाण का अर्थ—बुझ जाना, पुनर्जन्म के रास्ते को छोड़ देना, सभी प्रकार के दुःख देने वाले कर्मरूपी धागे, जो जन्म-मरण का ताना बुनते हैं, उनसे मुक्ति, दुःख देने वाले कर्मों की

दुर्गन्ध से मुक्ति, पांच स्कन्धों, तीन अग्नियों (काम, द्वेष और अज्ञान) के घने जंगल से स्थायी रूप से छुटकारा पाना होता है। त्रिपिटक में अर्हत्व, असंस्कृत, अकृत इत्यादि शब्दों को निर्वाण के पर्यायवाची के रूप में प्रयोग में लाया गया है।

भगवान् बुद्ध के अनुसार निर्वाण का वास्तविक स्वरूप क्या था, इस विषय पर विभिन्न विद्वानों के मतों को मुख्य रूप से चार वर्गों में बांटा जा सकता है। ये इस प्रकार हैं¹⁷⁵—

1. निर्वाण पूर्णरूप से क्षय या विनाश या उच्छेद है।
2. निर्वाण एक अचिन्त्य और अनिर्वचनीय शाश्वत स्थिति है।
3. भगवान् बुद्ध ने निर्वाण को परिभाषित नहीं किया है।
4. निर्वाण शाश्वत, शुद्ध और अनन्त चैतन्य है।

निर्वाण को अपना विनाश या उच्छेद मानना गलत है। भगवान् बुद्ध निर्वाण को स्वयं का उच्छेद कैसे मान सकते थे? उच्छेदवाद और शाश्वत वे दो छोर हैं जिनसे बचकर मध्यम मार्ग को अपनाने का बुद्ध बार-बार उपदेश देते हैं। अतः निर्वाण स्वयं का उच्छेद नहीं हो सकता।

भगवान् बुद्ध के अनुसार निर्वाण उच्छेद या क्षय है, परन्तु यह उच्छेद साधक का नहीं बल्कि लालसा का, तृष्णा का, जिजीविषा का तथा उसकी तीनों जड़ों (राग, जीवनधारणा की इच्छा और अज्ञान) का है।¹⁷⁶ निर्वाण अहंकार का विनाश है, अस्तित्व का नहीं। जिस प्रकार अग्नि ईंधन के अभाव में बुझकर शान्त हो जाती है, उसी प्रकार तृष्णा रूपी ईंधन के अभाव में राग की अग्नि बुझकर शान्त हो जाती है। इसी अर्थ में निर्वाण बुझना है।

प्रायः निर्वाण के दो भेद किये जाते हैं—उपाधिशेष निर्वाण और अनुपाधिशेष निर्वाण या क्रमशः निर्वाण और परिनिर्वाण। बौद्ध दर्शन के अवान्तर प्रमुख सम्प्रदायों में वैभाषिक मत के निर्वाण के स्वरूप को अभिधर्मकोष की व्याख्या में इस प्रकार बताया गया है—निर्वाण नित्य, असंस्कृत, स्वतंत्रसत्ता, पृथक्भूत सत्य पदार्थ है।¹⁷⁷ निर्वाण में संस्कार या पर्ययों का अभाव होता है, लेकिन यहां संस्कारों के अभाव का अर्थ अनस्तित्व नहीं है वरन् एक भावात्मक अवस्था ही है। निर्वाण असंस्कृत धर्म है। प्रो. शारवात्स्की ने¹⁷⁸ वैभाषिक ने निर्वाण को अनन्त मृत्यु कहा है। उनके अनुसार निर्वाण आध्यात्मिक अवस्था नहीं है, वरन् चेतना एवं क्रिया शून्य जड़ अवस्था है। लेकिन एस. के. मुकर्जी, प्रो. नलिनाक्षदत्त¹⁷⁹

ने इस दृष्टि का विरोध किया है। निर्वाण की दशा में अनाश्रव विशुद्ध चेतना का अस्तित्व बना रहता है।¹⁸⁰ वैभाषिकों के इस उपसंप्रदाय का यह दृष्टिकोण जैन-दर्शन-सम्मत निर्वाण के अति समीप आ जाता है।

सौत्रान्तिक सम्प्रदाय

सौत्रान्तिक निर्वाण की दशा में किसी असंस्कृत अपरिवर्तनशील नित्य तत्त्व की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। उनकी मान्यता में ऐसा करना बुद्ध के अनित्यवाद और क्षणिकवाद की अवहेलना करना है। शारवात्स्की के अनुसार सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में निर्वाण का अर्थ है—जीवन की प्रक्रिया का समाप्त हो जाना, जिसके पश्चात् ऐसा कोई जीवन-शून्य तत्त्व शेष नहीं रहता, जिसमें जीवन की प्रक्रिया समाप्त हो गई हो।¹⁸¹ निर्वाण क्षणिक चेतना-प्रवाह का समाप्त हो जाना है, जिसके बाद कुछ भी शेष नहीं रहता। निर्वाण के भावात्मक, अभावात्मक और अनिर्वर्चनीय पक्षों की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सौत्रान्तिक विचारधारा निर्वाण के अभावात्मक पक्ष पर अधिक जोर देती है। सौत्रान्तिकों में भी एक ऐसा उपसम्प्रदाय था जिसके अनुसार निर्वाण पूर्णतया अभावात्मकदशा नहीं थी। उसके अनुसार निर्वाण अवस्था में भी विशुद्ध चेतना पर्यायों का प्रवाह बना रहता है। यह दृष्टिकोण जैन विचार की इस मान्यता के निकट है कि मोक्षदशा में आत्मा में चैतन्य ज्ञान-धारा सतत रूप से प्रवाहित होती रहती है।

विज्ञानवाद (योगाचार)

महायान के प्रमुख ग्रन्थ लंकावतारसूत्र के अनुसार निर्वाण सप्त प्रवृत्तिविज्ञानों की अप्रवृत्तावस्था है, चित्त प्रवृत्ति का निरोध है।¹⁸² स्थिरमति के अनुसार निर्वाण क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का क्षय है।¹⁸³ निर्वाण अचिन्त्य है क्योंकि तर्क से उसे जाना नहीं जा सकता। इसलिए अचिन्त्य होते हुए भी वह कुशल है, शाश्वत है, सुखरूप है, विमुक्त है और धर्मारण्य है।¹⁸⁴ विज्ञानवादी मान्यता में निर्वाण की अभावपरक और भावपरक व्याख्याओं के साथ-साथ उसकी अनिर्वर्चनीयता को भी स्वीकार किया गया है। वस्तुतः निर्वाण के अनिर्वर्चनीय स्वरूप के विकास का श्रेय विज्ञानवाद और शून्यवाद को ही है। लंकावतारसूत्र में निर्वाण के अनिर्वर्चनीय स्वरूप का सर्वोच्च विकास देखा जा सकता है।

शून्यवाद

बौद्ध दर्शन के माध्यमिक सम्प्रदाय में निर्वाण के अनिर्वर्चनीय

स्वरूप का सर्वाधिक विकास हुआ है। माध्यमिक दृष्टि से निर्वाण अनिवर्चनीय है, चतुष्कोटि विनिर्मुक्त है और वही परम तत्त्व है। वह न भाव है न अभाव है।¹⁸⁵ वह सर्व कल्पनाओं का क्षय है, प्रपंचोपशमता है।

गीता में मोक्ष का स्वरूप

गीता में भी नैतिक साधना का लक्ष्य है—परमतत्त्व, ब्रह्म, अक्षरपुरुष अथवा पुरुषोत्तम की प्राप्ति। गीताकार प्रसंगान्तर से उसे ही मोक्ष, निर्वाणपद, अव्ययपद, परमपद, परमगति और परमधाम कहते हैं। गीता में कहा गया है—जिसको प्राप्त कर लेने पर संसार में पुनः नहीं लौटना होता है, उस परमपद की गवेषणा करनी चाहिए।¹⁸⁶ मोक्ष के स्वरूप का निर्वचन करते हुए गीता कहती है “इस अव्यक्त से भी परे अन्य सनातन अव्यक्त तत्त्व हैं जो प्राणियों में रहते हुए भी उनके नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है। चेतना की अवस्थाएं नश्वर हैं, लेकिन उनसे परे रहने वाला यह आत्मतत्त्व सनातन है जो प्राणियों में चेतना के रूप में प्रकट होते हुए भी उन प्राणियों तथा उनकी चेतना पर्यायों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है। उसी आत्मा को अक्षर और अव्यक्त कहा गया है और उसे ही परमगति भी कहते हैं, वही परमधाम भी है। वही मेरा परमात्मस्वरूप या आत्मा का निजस्थान है, जिसे प्राप्त कर लेने पर पुनः निर्वतन नहीं होता।¹⁸⁷

गीता की दृष्टि में मोक्ष निर्वाण है, परमशांति का अधिस्थान है।¹⁸⁸ मुक्तात्मा ब्रह्मभूत होकर अत्यन्त सुख का अनुभव करती है।¹⁸⁹

जैन दर्शन में मोक्ष का स्वरूप

उत्तराध्ययन में मोक्ष को पारिभाषित करते हुए कहा गया है—
निव्वाणं ति अबाहं ति, सिद्धी लोगगमेव य।
खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरंति महेसिणो।।¹⁹⁰
अर्थात् जो निर्वाण है, जो अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध है, जिसे महान् की एषणा करने वाले प्राप्त करते हैं, वह मोक्ष है।

उत्तराध्ययन में उल्लिखित है—

सव्वगुणसंपन्नयाए णं अपुणरावत्तिं जणयइ। अपुणरावत्तिं पत्ताए य णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ।¹⁹¹

अर्थात् सर्वगुणसंपन्नता से जीव अपुनरावृत्ति (मोक्ष) को प्राप्त होता है। अपुनरावृत्ति को प्राप्त करने वाला जीव शारीरिक और मानसिक दुःखों का भागी नहीं होता।

तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष का लक्षण बताते हुए कहा गया—बन्ध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।¹⁹² तत्त्वार्थराजवार्तिक में यह उल्लेख मिलता है—‘मोक्ष असने’ इत्येतस्य घञ्भावसाधनो मोक्षणं मोक्षः असनं क्षेपणमित्यर्थः, स आत्यन्तिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्ष इत्युच्यते।¹⁹³ नयचक्र बृहद्गाथा में मोक्ष के विषय में कहा गया—जं अप्सहावादो मूलोत्तरपयडिसंचियं मुच्चइ। तं मुखं अविरुद्धं यानि आत्मस्वभाव से मूल व उत्तर कर्मप्रकृतियों के संचय का छूट जाना मोक्ष है और यह अविरुद्ध है।¹⁹⁴ समयसार में आत्मा और बन्ध को अलग-अलग कर देना ही मोक्ष कहा है।¹⁹⁵ मोक्ष में जीव का अभाव नहीं होता। बौद्ध दार्शनिकों ने मोक्ष में जीव का अभाव माना है। जिस प्रकार दीपक के बुझ जाने से प्रकाश का अन्त हो जाता है उसी प्रकार कर्मों का क्षय हो जाने से निर्वाण में चित्तसन्तति का विनाश हो जाता है। अतः मोक्ष में जीव का अस्तित्व नहीं होता।¹⁹⁶ परन्तु जैन दार्शनिकों का कहना है कि ऐसा नहीं होता। भट्टकलंकदेव¹⁹⁷ देव ने बौद्धमत की समीक्षा करते हुए कहा है कि दीपक के बुझ जाने पर दीपक का विनाश नहीं होता, बल्कि उस दीपक के तैजस परमाणु अन्धकार में बदल जाते हैं। उसी प्रकार मोक्ष होने पर जीव का विनाश नहीं होता। कुन्दकुन्द¹⁹⁸ ने भी कहा है कि मोक्ष में जीवों का असद्भाव मानने से उस जीव के शाश्वत उच्छेद भव्य-अभव्य, शून्य-अशून्य और विज्ञान-अविज्ञान रूप भावों का अभाव हो जाएगा। यह अनुचित है। अतः मोक्ष में जीव का अभाव नहीं होता है।

मोक्षप्राप्त जीवों को सिद्ध कहा जाता है। सिद्ध शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया—

दीहकालरयं जं तु कम्मं से सिअमड्डहा।

सियं धंतं ति सिद्धस्स सिद्धत्तमुवजायइ।

सितं बद्धं.....ध्मातं.....ध्यानानलेन दग्धं.....सिद्धः।।¹⁹⁹

यहां सित का अर्थ है बद्ध और ध्मात का अर्थ है दग्ध करना। जो आठ प्रकार की बद्ध कर्मरजों को ध्यानाग्नि से दग्ध करता है, वह सिद्ध है।

सिद्धों का स्वरूप

उत्तराध्ययन में उल्लेख मिलता है—

‘अरुविणो, जीवघणा नाणदंसणसन्निया’²⁰⁰

सिद्ध जीव अरूप, सघन और ज्ञान दर्शन में सतत उपयुक्त होते हैं। आवश्यकनिर्युक्ति में सिद्ध का स्वरूप निम्न गाथाओं में वर्णित है—

कम्मविवेगो असरीरयाय असरीरया अणाबाहा।

होअणबाह निमित्तं अवेयणमणाउलो निरुओ।

नीरुयत्ताए अयलो अयलत्ताए य सासओ होइ।

सासयभावमुवगओ अव्वाबाहं सुहं लहइ।²⁰¹

सिद्ध कर्ममुक्त होते हैं, अशरीरी होते हैं। कर्मविवेक से अशरीरता, अशरीररता से अनाबाधा, अनाबाधा से असंवेदन, असंवेदन से अनाकुलता, अनाकुलता से अरुजता, अरुजता से अचलता, अचलता से शाश्वतता, शाश्वतता से अव्याबाध सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार इनमें कारण-कार्य भाव है। सिद्धों का लक्षण बताते हुए आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है—साकार और अनाकार उपयोग सिद्धों का लक्षण है। वे केवलज्ञानोपयुक्त हो सब पदार्थों के गुण पर्यायों को जानते हैं और अनंत केवलदर्शन से उन्हें देखते हैं।²⁰²

आवश्यकनिर्युक्ति में सिद्ध के आठ एकार्थक शब्दों का उल्लेख हुआ है—²⁰³

सिद्ध — कृतकृत्य

बुद्ध — सर्वज्ञाता

पारगत — संसार समुद्र से पारगामी, तीर्थ

परम्परागत — दर्शन, ज्ञान, चरण की क्रमबद्ध साधना से मुक्त होने वाले

उन्मुक्त कर्मकवच — सब कर्मों से मुक्त

अजर — वय और बुढ़ापे से मुक्त

अमर — मृत्यु से मुक्त

असंग — सब क्लेशों से मुक्त

सिद्धों का केवलज्ञान सिद्ध केवलज्ञान कहलाता है। उसके दो भेद हैं—1. अनन्तर सिद्ध केवलज्ञान 2. परम्पर सिद्ध केवलज्ञान। शैलेशी अवस्था के अनन्तर सिद्धत्व प्राप्त होता है, उस क्षण का केवलज्ञान अनन्तर सिद्धकेवलज्ञान है। सिद्ध अवस्था से पूर्ववर्ती भवसंबंधी उपाधि के भेद से सिद्धों के पंद्रह प्रकार हैं²⁰⁴—1. तीर्थसिद्ध 2. अतीर्थसिद्ध 3. तीर्थकरसिद्ध 4. अतीर्थकरसिद्ध 5. स्वयंबुद्धसिद्ध 6. प्रत्येकबुद्धसिद्ध 7. बुद्धबोधितसिद्ध 8. स्त्रीलिंगसिद्ध 9. पुरुषलिंगसिद्ध 10. नपुंसकलिंगसिद्ध 11. स्वलिंगसिद्ध 12. अन्यलिंगसिद्ध 13. गृहलिंगसिद्ध 14. एकसिद्ध

15. अनेकसिद्ध ।

नन्दीचूर्णि आदि में इनका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—

1. **तीर्थसिद्ध**—जो चातुर्वर्ण श्रमणसंघ में प्रव्रजित होकर मुक्त होते हैं, वे तीर्थसिद्ध हैं।²⁰⁵
2. **अतीर्थसिद्ध**—अतीर्थ के दो अर्थ हैं—1. तीर्थ की अनुत्पत्ति 2. दो तीर्थकरों के अन्तराल काल में तीर्थ का विच्छेद। उस समय मुक्त होने वाले जीव अतीर्थसिद्ध कहलाते हैं।²⁰⁶
3. **तीर्थकरसिद्ध**—जिनके शरीर नामकर्म का उदय होता है और जो तीर्थकर अवस्था में मुक्त होते हैं, वे ऋषभ आदि तीर्थकरसिद्ध हैं।²⁰⁷
4. **अतीर्थकरसिद्ध**—अतीर्थकरसिद्ध का अर्थ है—सामान्य केवली, जैसे गौतम आदि। जो सामान्यकेवली के रूप में मुक्त होते हैं, वे अतीर्थकरसिद्ध हैं।²⁰⁸
5. **स्वयंबुद्धसिद्ध**—जो स्वयं ही बुद्ध होकर मुक्त होते हैं, वे स्वयंबुद्धसिद्ध हैं अथवा जिन्हें बाह्य निमित्त के बिना अपने जातिस्मरण आदि के कारण बोधि प्राप्त होती है, वे स्वयंबुद्ध हैं।²⁰⁹
6. **प्रत्येकबुद्धसिद्ध**—किसी एक निमित्त से संबुद्ध हो मुक्त होने वाले।²¹⁰
7. **बुद्धबोधितसिद्ध**—जो बुद्धबोधित होकर मुक्त होते हैं, वे बुद्ध-बोधितसिद्ध हैं। बुद्धबोधित के चार अर्थ किये गये हैं—
 1. स्वयंबुद्ध तीर्थकर आदि के द्वारा बोधि प्राप्त।
 2. कपिल आदि प्रत्येकबुद्ध के द्वारा बोधि प्राप्त।
 3. सुधर्मा आदि बुद्धबोधित द्वारा बोधि प्राप्त।
 4. आचार्य के द्वारा प्रतिबुद्ध प्रभव आदि आचार्य से बोधि प्राप्त।²¹¹
- 8, 9. **स्त्रीलिंगसिद्ध, पुरुषलिंगसिद्ध**—स्त्रीलिंग का अर्थ है—स्त्री का लिंग या चिन्ह। यह स्त्री का उपलक्षण है। लिंग के तीन अर्थ हैं—वेद (काम विकार), शरीर रचना और नेपथ्य (वेशभूषा)। जो स्त्री की शरीर रचना में मुक्त होते हैं, वे स्त्रीलिंगसिद्ध हैं। जो पुरुष की शरीररचना में मुक्त होते हैं, वे पुरुषलिंगसिद्ध हैं।²¹²
10. **नपुंसकलिंगसिद्ध**—जो कृत्रिम नपुंसक के रूप में मुक्त होते हैं, वे नपुंसकलिंगसिद्ध हैं।²¹³
11. **स्वलिंगसिद्ध**—जो भावतः अनगार है और बाह्यतः अपने लिंग, रजोहरण मुखवस्त्रिका, प्रतिग्रह आदि मुनिवेश में मुक्त होते हैं, वे स्वलिंगसिद्ध हैं।²¹⁴
12. **अन्यलिंगसिद्ध**—जो तापस, परिव्राजक आदि वल्कल, काषाय वस्त्र,

कमंडलू आदि द्रव्यलिंग में सिद्ध होते हैं, वे अन्यलिंगसिद्ध हैं।²¹⁵ आवश्यकचूर्णि में कहा गया है—सम्यक्त्व प्रतिपन्न अन्यलिंगी केवलज्ञान प्राप्त करता है और यदि वह उसी क्षण मुक्त हो जाता है तो उसका केवलज्ञान अन्यलिंगसिद्ध केवलज्ञान कहलाता है। यदि तत्काल उसका आयुष्य क्षीण नहीं होता है तो वह स्वलिंग—साधुवेश को ही स्वीकार करता है।²¹⁶

13. गृहलिंगसिद्ध—केश, अलंकार आदि से युक्त द्रव्यलिंग—गृहस्थवेश में जो सिद्ध होते हैं, वे गृहलिंगसिद्ध हैं, जैसे—मरुदेवा।²¹⁷

14. एकसिद्ध—एक समय में एक सिद्ध होता है, वह एकसिद्ध है।²¹⁸

15. अनेकसिद्ध—एक समय में अनेक जीवों का सिद्ध होना।²¹⁹

सिद्ध होने के स्थान—

सिद्ध होने के तीन क्षेत्र हैं—

1. ऊर्ध्वलोक—मेरुपर्वत की चूलिका से जीव सिद्ध होते हैं।

2. अधोलोक—अधोलोक के ग्राम से जीव सिद्ध होते हैं।

3. तिर्यक्लोक—अढाई द्वीप समुद्र प्रमाण तिरछे लोक में कहीं से भी जीव सिद्ध हो सकते हैं।²²⁰

इन तीनों क्षेत्र से सिद्धात्मा का ऊर्ध्वगमन होता है। जीव के कर्मों का क्षय एवं कर्ममुक्त आत्माओं का ऊर्ध्वगमन एक साथ होता है। जिज्ञासा होती है कि अधोगमन या तिर्यग्गमन क्यों नहीं होता है? इसका समाधान मिलता है कि कर्मों के कारण ही जीव दोनों लोकों में गमन करता है और मुक्त जीव में कर्मों का अभाव होता है, इसलिए मुक्त जीव तिर्यक् या अधो दिशा में गमन न करके स्वाभाविक गति से ऊर्ध्वगमन करता है।²²¹ तत्त्वार्थसूत्र में मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन के हेतुओं का दृष्टान्त सहित उल्लेख किया है,²²² वह निम्नांकित है—

1. पूर्वप्रयोग, आविद्ध कुलालचक्रवत्—कुम्भकार अपने चक्के को डण्डे से घुमाने के बाद डण्डा हटा लेता है, फिर भी पुराने संस्कारों के कारण चक्का घूमता रहता है, उसी प्रकार संसारी जीव ने मुक्त होने के पहले मुक्ति के लिए अनेक बार प्रयत्न किये। अतः मुक्त होने पर प्रणिधान और प्रयत्न न होने पर भी पहले वर्तमान संस्कारों से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है। अतः ऊर्ध्वगमन का एक कारण पुराने संस्कारों का होना ही है।

2. असंगत्वाद्, व्यपगतलेपालाबुवत्—मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन का दूसरा

कारण कर्मों का भार नष्ट होना है। जिस प्रकार मिट्टी से लिप्त तुम्बी मिट्टी के भार से पानी में डूबी रहती है, उसी प्रकार कर्मों के भार के कारण जीव दबा रहता है। तुम्बी के ऊपर लगी मिट्टी जब पूर्णतया पानी में घुल जाती है, तब वह तुम्बी पानी के ऊपर आ जाती है। इसी प्रकार कर्मों के नष्ट होने से जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

3. बन्धच्छेदात् एरण्डबीजवत्—एरण्ड बीज के ऊपर चढ़े हुए छिलके के फटने पर एरण्ड का बीज ऊपर की ओर जाता है। उसी तरह कर्मबन्धन के कट जाने पर मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

4. तथागतिपरिणामाद् अग्निशिखावत्—जिस प्रकार अग्नि की शिखा स्वभावतः ऊपर की ओर उठती है, उसी प्रकार जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना होता है। जब तक जीव की इस स्वाभाविक शक्ति को कर्म रोके रहता है, तब तक वह पूर्णतया ऊर्ध्वगमन नहीं कर पाता। जैसे ही जीव की इस स्वाभाविक शक्ति को रोकने वाले कर्मों का क्षय होता है, वैसे ही जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

इन चार कारणों से जीव का ऊर्ध्वगमन होता है। आचार्य तुलसी विरचित—जैन सिद्धान्त दीपिका में कहा गया—औदारिक, तैजस और कर्मण—ये तीन शरीर संसार के मूल कारण हैं। मुक्त जीव उनको छोड़कर ऋजुश्रेणी से एक ही समय में लोकान्त तक चले जाते हैं। धर्मास्तिकाय की सहायता प्राप्त न होने के कारण उससे ऊपर नहीं जाते। वे हल्के होते हैं, अतः फिर वापस नीचे भी नहीं आते। योगरहित होने के कारण तिरछी गति भी नहीं करते। ध्रुपं की तरह हल्के और तुंबे की तरह निर्लेप तथा मुच्यमान एरण्ड फली की तरह बन्धनमुक्त होने के कारण सिद्धों की ऊर्ध्वगति होती है। वहां वे सादि, अनन्त, अनुपम एवं बाधरहित स्वाभाविक सुख को पाकर केवलज्ञान केवलदर्शन से सहज आनन्द का अनुभव करते हैं।²²³

मुक्तसत्ता की गति ऊर्ध्व होती है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह निरन्तर ऊर्ध्वगमन करती है, जैसा कि मांडलिक मतावलम्बी मानते हैं। मुक्तसत्ता लोकान्त तक ही ऊर्ध्वगमन करती है, इससे आगे वह नहीं जाती है क्योंकि गति में सहायक निमित्त कारणरूप धर्मास्तिकाय द्रव्य का अभाव होता है—धर्मास्तिकायाभावात्।²²⁴ लोकान्त में जाकर मुक्तजीवों का स्थान होता है। उसका वर्णन प्रज्ञापना सूत्र में इस प्रकार है—²²⁵

गौतम भगवान् महावीर से जिज्ञासा करते हैं—

भगवन्! सिद्धों के स्थान कहां कहे गए हैं? भगवन्! सिद्ध कहां निवास करते हैं?

भगवान् जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते हुए फरमाते हैं—

गौतम! सर्वार्थसिद्ध महाविमान की ऊपरी स्तूपिका के अग्रभाग से बारह योजन ऊपर बिना व्यवधान के ईषत्प्राग्भारा नामक पृथ्वी कही है, जिसकी लम्बाई—चौड़ाई पैंतालीस लाख योजन है। इसकी परिधि एक करोड़, बयालीस लाख, तीस हजार, दौ सौ उनपचास योजन से कुछ अधिक है। ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के एकदम मध्यभाग में आठ योजन का क्षेत्र है। जो आठ योजन मोटा कहा गया है। उसके अनन्तर अनुक्रम से प्रदेशों की कमी होते जाने से हीन होती—होती वह अन्त में मक्खी के पंख से भी अधिक पतली, अंगुल के असंख्यातवें भाग मोटी कही गई है।

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के बारह नाम कहे गए हैं—1. ईषत् 2. ईषत्प्राग्भारा 3. तनु 4. तनु—मनु 5. सिद्धि 6. सिद्धालय 7. मुक्ति 8. मुक्तालय 9. लोकाग्र 10. लोकाग्र स्तूपिका या 11. लोकाग्रप्रतिवाहिनी और सर्वप्राण—भूत—जीव—सत्त्वसुखावहा।

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी श्वेत है, शंखदल के निर्मल चूर्ण के स्वस्तिक, जलकण, हिम, गोदुग्ध तथा हार के समान वर्ण वाली, उत्तान छत्र के आकार में स्थित, पूर्णरूप से अर्जुनस्वर्ण के समान श्वेत, स्फटिक सी स्वच्छ, चिकनी, कोमल, घिसी हुई, चिकनी की हुई (मृष्ट), निर्मल, निष्कंप, निरावरण छाया युक्त, प्रभायुक्त, श्रीसम्पन्न, उद्योतमय, प्रसन्नताजनक, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप है।

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी से निःश्रेणीगति से एक योजन पर लोक का अन्त है। उस योजन की जो ऊपरी गव्यूति है, उस गव्यूति का जो ऊपरी छटा भाग है, वहां सादि—अनन्त, अनेक जन्म, जरा, मरण, योनिसंसरण, बाधा, पुनर्भव, गर्भवासरूप वसति तथा प्रपंच से अतीत सिद्ध भगवान् शाश्वत अनागतकाल तक रहते हैं।

मुक्तात्मा का स्वरूप

सिद्धस्थान में मुक्तात्माएं वेदरहित, वेदनारहित, ममत्वरहित, संगरहित, संसार से सर्वथा विमुक्त एवं आत्म—प्रदेशों से बने हुए आकार वाले हैं।

जिज्ञासा हुई—सिद्ध कहां प्रतिहत होते हैं? सिद्ध किस स्थान में प्रतिष्ठित हैं? कहां शरीर को त्याग कर वहां जाकर निष्ठितार्थ हो

जाते हैं?

समाधान मिला—अलोक के कारण सिद्ध (लोकाग्र) में प्रतिहत हो जाते हैं। वे लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हैं तथा यहां (मनुष्यलोक) में शरीर को त्याग कर वहां (लोक के अग्रभाग में) जाकर सिद्ध हो जाते हैं।²²⁶

मुक्तात्मा की अवगाहना

दीर्घ अथवा ह्रस्व, जो अन्तिमभव में संस्थान होता है, उससे तीसरा भाग कम सिद्धों की अवगाहना कही गई है। इस भव को त्यागते समय अन्तिम समय में (त्रिभागहीन जितने) प्रदेशों में सघन संस्थान था, वही संस्थान वहां रहता है, ऐसा जानना चाहिए। तीन सौ तैंतीस धनुष और एक धनुष के तीसरे भाग जितनी अवगाहना होती है। यह सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना कही गई है। चार रत्नि (मुण्ड हाथ) और त्रिभागन्यून एक रत्नि, यह सिद्धों की मध्यम अवगाहना है। एक रत्नि और आठ अंगुल अधिक जो अवगाहना होती है, यह सिद्धों की जघन्य अवगाहना कही है। (अन्तिम) भव (चरम शरीर) से त्रिभागहीन सिद्धों की अवगाहना होती है। जरा और मरण से सर्वथा विमुक्त सिद्धों का संस्थान अनित्यस्थ होता है अर्थात् 'ऐसा है' यह नहीं कहा जा सकता।

जहां (जिस प्रदेश में) एक सिद्ध है, वही भवक्षय के कारण विमुक्त अनन्त सिद्ध रहते हैं। वे सब लोक के अन्त भाग से स्पृष्ट एवं परस्पर समवगाढ़ होते हैं। एक सिद्ध सर्वप्रदेशों से नियमतः अनन्तसिद्धों को स्पर्श करता है तथा जो देश-प्रदेशों से स्पृष्ट हैं, वे सिद्ध तो असंख्यातगुणा अधिक हैं। मुक्तात्माएं अशरीरी हैं, जीवघन हैं तथा ज्ञान और दर्शन में उपयुक्त हैं। साकार और अनाकार उपयोग होना, यही सिद्धों का लक्षण है।

केवलज्ञान से सदैव उपयुक्त होने से वे समस्त पदार्थों को, उनके समस्त गुणों और पर्यायों को जानते हैं तथा अनन्तकेवलदर्शन से सर्वतः देखते हैं। अव्याबाध को प्राप्त सिद्धों को जो सुख होता है, वह न तो मनुष्यों को होता है और न ही समस्त देवों को होता है। देवगण के समस्त सुख को सर्वकाल के साथ पिण्डित किया जाए फिर उसको अनन्तगुणा किया जाए तथा अनन्त वर्गों से वर्णित किया जाए तो भी वह मुक्ति-सुख को नहीं पा सकता।

एक सिद्ध के प्रतिसमय की सुखों की राशि यदि सर्वकाल से पिण्डित की जाए और उसे अनन्त वर्गमूलों से भाग दिया जाए तो वह सुख भी (इतना अधिक होगा कि) सम्पूर्ण आकाश में नहीं समाएगा। जैसे कोई म्लेच्छ अनेक प्रकार के नगर-गुणों को जानता हुआ भी उसके सामने कोई उपमा न होने से कहने में समर्थ नहीं होता। इसी प्रकार सिद्धों का सुख अनुपम है। फिर भी कुछ विशेष रूप से उसकी उपमा दी जाती है। जैसे कोई पुरुष सर्वकामगुणित भोजन का उपभोग करके प्यास और भूख से विमुक्त होकर ऐसा हो जाता है, जैसे कोई अमृत से तृप्त हो। वैसे ही सर्वकाल में तृप्त, अतुल, शाश्वत एवं अव्याबाध निर्वाण सुख को प्राप्त सिद्ध भगवान् सदैव सुखी रहते हैं।

वे मुक्त जीव सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, पारगत हैं परम्परागत हैं, कर्मरूपी कवच से उन्मुक्त हैं, अजर, अमर और असंग हैं। उन्होंने सर्वदुःखों को पार कर दिया है। वे जन्म, जरा, मरण के बन्धन से सर्वथा मुक्त, सिद्ध होकर अव्याबाध एवं शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं।

मोक्षस्थान का वर्णन भगवती आराधना, त्रिलोकसार एवं तिलोपपपण्णत्ति में भी विस्तार से प्राप्त होता है।²²⁷

आचारांग सूत्र में स्पष्ट रूप से कहा है कि समस्त स्वर वहां से लौट आते हैं। यानि ध्वन्यात्मक किसी भी प्रवृत्ति का वह विषय नहीं है। वाणी उसका निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है। वहां वाणी मूक हो जाती है, तर्क की वहां तक पहुंच नहीं है, तर्क का अर्थ है मीमांसा। तर्क के द्वारा परीक्षा करने पर आत्मा साक्षात् उपलब्ध नहीं होती। वह अमूर्त एवं सूक्ष्मतम होने के कारण तर्क से ग्राह्य नहीं है। बुद्धि उसे ग्रहण करने में असमर्थ है अर्थात् वह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नहीं है। किसी उपमा के द्वारा भी उसे नहीं समझाया जा सकता; क्योंकि वह अनुपम है। अरूपी सत्तावान् है। वह अपद कोई पद नहीं है अर्थात् ऐसा कोई पद नहीं है जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके।²²⁸ उसके बारे में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह अरूप, अरस, अवर्ण और अस्पर्श है; क्योंकि वह इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—आत्मा अमूर्त है इसलिए इन्द्रियों का विषय नहीं बनता।²²⁹ वह आत्मा ओज है—अकेला अथवा स्वतंत्र है। सामयिकी संज्ञा से ओज का अर्थ है—अकेला। वह शरीर से भिन्न एक

ही है, दूसरा कोई नहीं है। वह अप्रतिष्ठान है, सर्वथा अनावलम्बन है। वह क्षेत्रज्ञ है—ज्ञाता है।²³⁰

उपनिषदों में आत्मा के प्रतिपादक जो सूत्र हैं, उनका इन सूत्रों के साथ साम्य है। आत्मविद्या के पुरस्कर्ता थे क्षत्रिय। उनका आत्म-सिद्धान्त विषय में अधिकार था, यह बात उपनिषदों की साक्षी से कही जा सकती है। उपनिषद् में ब्रह्म के आनन्द विज्ञान के विषय में सूक्त प्राप्त होता है कि वाणी वहां तक पहुंचे बिना ही मन के साथ लौट आती है। जो ब्रह्म के आनन्द को जानता है, उसको कहीं कभी भय नहीं होता। उपनिषदों में आत्मा का ह्रस्वत्व एवं दीर्घत्व माना गया है। वह वृत्त आदि संस्थानों से संस्थित नहीं है।²³¹

सांख्य दर्शन में आत्मा का वाचक प्रणव बताया गया है। किन्तु मुक्तात्मा का कोई वाचक नहीं है। चूर्णि के अनुसार पद का अर्थ है—पदचिन्ह। जैसे सर्प अपद होता है। जब वह चलता है, तब दीर्घ, वृत्त या परिमंडल कोई भी पदचिन्ह नहीं होता।²³²

मुक्त जीव संसार में वापस नहीं आते। जैनागमों में मंखलि दार्शनिकों का उल्लेख है, जो आजीवक मतानुयायी माने जाते हैं। आजीवक मतानुयायी एवं सदाशिव मतानुयायियों का सिद्धान्त है कि मुक्तजीव संसार में धर्म का तिरस्कार देखकर उसके संस्थापनार्थ मोक्ष से पुनः संसार में वापिस आ जाते हैं। कहा भी है—“सदाशिववादी 100 कल्प प्रमाण समय व्यतीत होने पर जब जगत् शून्य हो जाता है, तब मुक्त जीव का संसार में वापस आना मानते हैं।²³³

जैन दार्शनिक उपयुक्त मत से सहमत नहीं हैं। इनका मानना है कि जीव एक बार संसार के कारणभूत भावकर्म और द्रव्यकर्म का सर्वथा विनाश करके मोक्ष पाने के बाद वहां से वापस नहीं आते हैं। यदि कर्मों के अभाव में भी मुक्त जीव का संसार में आगमन माना जाए तो कारणकार्य की व्यवस्था नष्ट हो जाएगी, जो अनुचित है। किसी स्थान विशेष पर रखे हुए बर्तन आदि की तरह मुक्त जीव का संसार की ओर पतन मानना ठीक नहीं है।²³⁴ दूसरी बात यह है कि गुरुत्व स्वभाव वाले पौद्गलिक पदार्थ ऊपर से नीचे गिरते हैं, मुक्तात्मा में यह स्वभाव नहीं होता।²³⁵ संसारी आत्मा पुद्गलों के सम्बन्ध से गुरुत्व रूप हो जाती है और पुद्गलों का मुक्तात्मा में अभाव होता है। अतः अगुरुलघु स्वभाव वाली आत्मा की मोक्ष से च्युति उस प्रकार से नहीं होती है, जिस प्रकार

गुरुत्व स्वभाव वाले आम का डाल से टपकना होता है या पानी भर जाने से जहाज का डूबना हो जाता है।²³⁶

मुक्तात्मा के ज्ञाता और द्रष्टा होते हुए भी वीतराग होने के कारण करुणादि के उत्पन्न न होने से कर्मबंध नहीं होता, इसलिए भी मुक्तात्मा संसार में वापस नहीं आता है।²³⁷ मुक्त जीव के संसार में न आने का एक कारण यह था कि उसे अपरिमित अनाकुल सुख की उपलब्धि होती है।²³⁸ इसके अतिरिक्त जो आत्मा एक बार कर्मरहित हो गया है, वह पुनः कर्मों से युक्त उसी प्रकार नहीं होता, जिस प्रकार एक बार सोने से किट्टकालिमादि निकल जाने से पुनः सोना उससे युक्त नहीं होता।²³⁹ मुक्त जीव का संसार में पुनः वापस आना माना जाए तो संसारी और मुक्त जीवों में कोई अन्तर नहीं रहेगा। अतः यह सिद्ध है कि मुक्त जीव वापस नहीं आते।

जो दार्शनिक मुक्त जीवों का पुनरागमन मानते हैं, उनका कहना है कि मोक्ष से मुक्त जीव वापस नहीं आते हैं और जीवराशि सीमित है तो एक दिन ऐसा आ सकता है जब सब जीव मुक्त हो जायेंगे और यह संसार जीवों से खाली हो जाएगा।²⁴⁰ किन्तु उपर्युक्त प्रश्न ठीक नहीं है; क्योंकि जितने जीव मोक्ष जाते हैं, उतने ही जीव निगोद से निकलते रहते हैं।²⁴¹ जितने जीव सिद्ध हुए हैं, वे निगोद जीवों के अनन्तवें भाग न थे, न हैं और न होंगे। अतः सिद्ध है कि मुक्त जीवों के वापस न आने पर संसार जीवों से खाली नहीं हो सकता।

मोक्ष स्वरूप की मीमांसा

भारतीय चिन्तकों ने मोक्ष को महत्त्वपूर्ण मानकर उस पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन किया है। सभी भारतीय दार्शनिक इस बात से सहमत हैं कि आत्मस्वरूप का लाभ ही मोक्ष है। आत्मस्वरूप की तरह मोक्ष—स्वरूप में भी विभिन्नता है। दार्शनिक बुद्ध्यादि विशेषगुणों का उच्छेद होना मोक्ष मानते हैं, कुछ शुद्ध चैतन्य मात्र में आत्मा का अवस्थान होना ही मोक्ष का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं, कुछ मोक्ष को सुखोच्छेद अर्थात् सुखविहीन रूप और कुछ मोक्ष को एकमात्र आनन्द स्वभाव की अभिव्यक्ति रूप मानते हैं। जैन दार्शनिक मोक्ष के उपर्युक्त स्वरूप से सहमत नहीं है। अतः कुछ विचार उन पर आवश्यक है।

बुद्ध्यादि नौ गुणों का उच्छेद होना मोक्ष नहीं है—न्याय—वैशेषिक, कुमारिल भट्ट और प्रभाकर का यह सिद्धान्त है कि बुद्धि, सुख, दुःख,

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार का समूल उच्छेद होना ही मोक्ष है, लेकिन मोक्ष का यह स्वरूप जैन दार्शनिकों को स्वीकार नहीं है।²⁴² प्रभाचन्द्र न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों से प्रश्न करते हैं कि आप बुद्धि आदि जिन नौ गुणों का मोक्ष में उच्छेद होना मानते हैं, वे गुण आत्मा से भिन्न हैं या अभिन्न हैं या कथंचिद् भिन्न हैं?²⁴³ यदि भिन्न माना जाए तो हेतु आश्रयसिद्ध हो जाता है क्योंकि सन्तानी से सर्वथा भिन्न सन्तान कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। अतः आत्मा से भिन्न बुद्धि आदि सन्तान रूप गुणों का आश्रय पक्ष सिद्ध न होने से आत्मा से उन्हें भिन्न मानना ठीक नहीं है।²⁴⁴ उपर्युक्त दोष से बचने के लिए माना जाए कि बुद्धि आदि गुण आत्मा से अभिन्न हैं और उसके इन अभिन्न गुणों का उच्छेद होना मोक्ष है तो उनका यह पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि अभिन्न होने का तात्पर्य है आत्मा और गुणों का एक होना। यदि आत्मा से अभिन्न गुणों का उच्छेद होना मोक्ष माना जाए तो गुणों के नष्ट होने से आत्मा का भी उच्छेद हो जाएगा, तब यह कहना व्यर्थ हो जाएगा कि मोक्ष में आत्मा बुद्धि आदि गुणों से शून्य हो जाती है। अतः अभिन्न मानना भी ठीक नहीं है।²⁴⁵ अब यदि न्याय वैशेषिक यह माने कि बुद्धि आदि गुण आत्मा से कथंचित् अभिन्न हैं तो वैसा मानने से निम्नांकित दोष आते हैं—²⁴⁶

1. सिद्धान्त विरोध नामक दोष आता है क्योंकि नैयायिकादि मत में कथंचिद् भाव मान्य नहीं है।
2. दूसरी बात यह कि कथंचिद् अभेद मानने पर बुद्धि आदि गुणों का अत्यन्त उच्छेद नहीं हो सकता।
3. तीसरा दोष यह है कि कथंचिद् अभिन्न सिद्धान्त जैन मानते हैं, अतः इसे जैन मत की सिद्धि हो जाएगी।

अतः उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मोक्ष में बुद्धि आदि गुणों का उच्छेद नहीं होता।

सन्तानत्वात् हेतु भी ठीक नहीं है—न्याय-वैशेषिक ने मोक्ष में आत्मा के बुद्धि आदि गुणों के उच्छेद हेतु यह तर्क दिया था कि दीपक की सन्तान परम्परा की तरह आत्मा के बुद्धि आदि विशेष गुणों की सन्तान परम्परा का उच्छेद हो जाता है। यहां सन्तानत्वात् हेतु विरुद्ध हेत्वाभास से दूषित है। कार्य-कारण क्षणों का प्रवाह सन्तान है, किन्तु इस सन्तान का लक्षण एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य तत्त्व में नहीं बनता। इसके

विपरीत कथंचिद् नित्य, कथंचिद् अनित्य सिद्धान्त में ही सन्तान का स्वरूप घटित होने से 'सन्तानत्वात्' हेतु से कथंचिद् नित्य एवं कथंचिद् अनित्य की सिद्धि होती है। अतः विरुद्ध हेत्वाभास²⁴⁷ से दूषित होने के कारण यह हेतु बुद्धि आदि गुणों के मोक्ष से उच्छेद—रूप साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि सन्तानत्वात् हेतु सामान्य है या विशेष? यदि इस हेतु को सामान्य माना जाए तो अनैकान्तिक दोष आता है क्योंकि गणन आदि में भी सन्तानत्व हेतु रहता है, किन्तु उसका अत्यन्त उच्छेद नहीं होता।²⁴⁸ इसी प्रकार सन्तानत्व हेतु को विशेष मानना ठीक नहीं है क्योंकि इस विषय में भी विकल्प होते हैं कि सन्तानत्व हेतु उत्पादन—उपादेयभूत बुद्धि आदि क्षण—विशेष रूप हैं अथवा पूर्वापर सामान्य जाति क्षण प्रवाह रूप?²⁴⁹ प्रथम विकल्प असाधारणानेकान्त (साध्य के अभाव वाले अधिकरण में हेतु का रहना असाधारण अनेकान्त है) नाम दोष से दूषित है क्योंकि सन्तानत्व हेतु दृष्टान्त में नहीं रहता है।

पूर्व अपर सामान्य जाति क्षण प्रवाह रूप सन्तानत्व है, यह दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि यह अनैकान्तिक दोष से दूषित है। पाकज परमाणु के रूपादि में सन्तानत्व हेतु रहता है किन्तु पाकज परमाणु के रूपादि का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता। प्रभाचन्द्र की तरह मल्लिषेण ने भी 'स्याद्वादमंजरी' में सन्तानत्व हेतु को दूषित बतलाकर सिद्ध किया है कि इस हेतु से बुद्धि आदि गुणों से विहीन मोक्ष का स्वरूप मानना ठीक नहीं है।²⁵⁰

अपने सिद्धान्त की पुष्टि में न्यायवैशेषिकों द्वारा प्रस्तुत किया गया दीपक का उदाहरण भी ठीक नहीं है क्योंकि दीपक का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता। दीपक के बुझने पर दीपक के चमकने वाले तैजस परमाणु की पर्याय बदल जाती है। तात्पर्य यह है कि तैजस परमाणु भासुर रूप को छोड़कर अन्धकार रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि शब्द, विद्युत् एवं प्रदीपादि का उच्छेद पर्याय रूप से होता है अर्थात् पूर्व पर्याय नष्ट हो जाती है और वे उत्तर पर्याय धारण कर लेते हैं। अतः साध्य विकल दृष्टान्त होने के कारण बुद्धि आदि गुणों के उच्छेद रूप मोक्ष सिद्ध नहीं होता।²⁵¹

ज्ञान मात्र निःश्रेयस् का हेतु नहीं—विपर्यय ज्ञान के व्यवच्छेद

के क्रमरूप तत्त्वज्ञान को निःश्रेयस का हेतु मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि विपर्यय ज्ञान का विनाश होने पर धर्म-अधर्म का अभाव हो सकता है और धर्म अधर्म के अभाव से अनेक कार्य शरीर इन्द्रिय का अभाव होने पर भी अनन्त और अतीन्द्रिय समस्त पदार्थों को जानने वाले सम्यग्ज्ञान और सुखादि सन्तान का अभाव नहीं होता।²⁵²

इन्द्रियज ज्ञानादि गुणों का उच्छेद जैन दर्शन को भी मान्य है। प्रभाचन्द्राचार्य प्रश्न करते हैं कि दो प्रकार के बुद्धि आदि गुणों में से मोक्ष में कौन से गुणों का विनाश होता है, क्या इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले बुद्धि आदि गुणों का अथवा आत्मा से उत्पन्न होने वाले बुद्धि आदि गुणों का? ²⁵³ यदि यह माना जाए कि मोक्ष में इन्द्रियों से उत्पन्न बुद्धि आदि गुणों का विनाश हो जाता है तो सिद्धसाधन नामक दोष आता है क्योंकि जैन सिद्धान्त में भी माना गया है कि मोक्ष में इन्द्रियज ज्ञानादि सन्तान का उच्छेद हो जाता है।²⁵⁴

शुद्ध चैतन्यमात्र में आत्मा अवस्थान होना मोक्ष नहीं। सांख्य दार्शनिक मानते हैं कि प्रकृति और पुरुष को एक मानना अज्ञान है और इसी अज्ञान का विनाश हो जाने पर पुरुष भेद-विज्ञान से अपने को प्रकृति से भिन्न मानने लगता है। इस तरह पुरुष अपने स्वाभाविक शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाता है, इसी का नाम मोक्ष है।²⁵⁵ सांख्य भी न्याय-वैशेषिक की तरह मानते हैं कि मोक्ष में आत्मा या पुरुष में सुख-दुःख और ज्ञानादि नहीं रहते हैं।²⁵⁶ क्योंकि सुख-दुःख आदि सांख्यमत में प्रकृति का कार्य है, अतः प्रकृति के अलग हो जाने से सुखादि का भी विनाश हो जाता है। न्याय-वैशेषिकों की अपेक्षा सांख्यों के मोक्ष स्वरूप की यह विशेषता है कि न्याय-वैशेषिक मोक्ष में आत्मा के चैतन्य का विनाश मानता है, जब कि सांख्य चैतन्य स्वरूप में पुरुष के अवस्थित होने को मोक्ष मानता है।

जैन दार्शनिकों ने सांख्य के उपर्युक्त मोक्ष स्वरूप पर विमर्श करते हुए कहा है कि सिर्फ चैतन्य स्वरूप में अवस्थान होना मोक्ष नहीं है क्योंकि चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा अनन्तज्ञानादि स्वरूप है, इसलिए अपने अनन्तज्ञानादि 'चैतन्य-विशेष' में अवस्थित होना मोक्ष कहलाता है।²⁵⁷ यदि पुरुष को अनन्तज्ञानादि स्वरूप न माना जाए तो आत्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकेगी।²⁵⁸ प्रकृति को आकाश की तरह अचेतन होने के कारण सर्वज्ञ मानना असंगत है। दूसरी बात यह है कि

ज्ञानादि को भी सर्वज्ञ मानना ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभव की तरह ज्ञानादि भी उत्पत्ति विनाशयुक्त होने से आत्मा का स्वभाव है। ज्ञानादि अनुभव की तरह स्वसंवेद्य है।²⁵⁹ अतः सिद्ध है कि चैतन्य में अवस्थान होना आत्मा का मोक्ष नहीं है।²⁶⁰

मुक्तात्मा अनन्तज्ञान स्वरूप हैं। ऐसा मानने से कुछ दार्शनिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं। जैसे जिज्ञासा होती है कि मुक्त आत्मा के जब इन्द्रियां ही नहीं होती हैं तो वह अतीन्द्रिय केवलज्ञान से पदार्थों को कैसे जानता है? जैन दार्शनिकों ने इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि केवलज्ञान दर्पण की तरह है। जिस प्रकार दर्पण के सामने पदार्थों के होने से ही पदार्थ उसमें अपने आप झलकने लगते हैं, उसी प्रकार केवलज्ञान में समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। अतः केवली को पदार्थों को जानने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

फिर जिज्ञासा होती है कि अनन्तज्ञान दर्पण की तरह है तो उसमें सभी पदार्थ एक साथ छोटे-बड़े कैसे प्रतिबिम्बित हो सकते हैं? समाधान मिला कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय के बराबर हैं और ज्ञेय लोक और अलोक है। अतः अनन्तज्ञान सर्वगत है।²⁶¹ दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञ का अनन्तज्ञान युगपत् एक साथ त्रिकालदर्शी पदार्थों को सूर्य की तरह प्रकाशित करता है।

इस प्रकार मोक्षावस्था वह अवस्था है जहां मात्र अनन्त आनन्द ही होता है। मोक्ष का सुख अनन्त, अपूर्व, अव्याबाध, अनुपम और अविनाशी होता है। जैन दार्शनिकों का यह मानना नहीं है कि मुक्तात्माएं किसी शक्ति में विलीन हो जाती हैं। समस्त मुक्त आत्माओं की स्वतंत्र सत्ता रहती है। मोक्ष में प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य से युक्त हैं, इसलिए उनमें कोई भेद नहीं है। अतः स्पष्ट है कि जैन आगमों में मोक्ष का सूक्ष्म तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अतः अव्याबाध स्थान को प्राप्त कर शाश्वत शान्ति की अवस्था, जन्म-मरण से मुक्ति, भव-भ्रमण से मुक्ति लक्ष्य है प्रत्येक साधक का और वह स्थान है मोक्ष।

जैन धर्म का आदर्श मोक्ष है। मोक्ष चेतना के तीन पक्षों की पूर्णता का द्योतक है। जीवन के ज्ञानात्मक पक्ष की पूर्णता अनन्त ज्ञान एवं दर्शन में जीवन के भावात्मक या अनुभूत्यात्मक पक्ष की पूर्णता अनन्त सौरभ में और संकल्पात्मक पक्ष की पूर्णता अनन्त शक्ति में मानी

गयी है। जैन साधनापथ भी चेतना के इन्हीं तीन तत्त्वों—ज्ञान, भाव और संकल्प के साथ सम्यक् विशेषण का प्रयोग करके निर्मित किया गया है। ज्ञान से सम्यग्ज्ञान, भाव से सम्यग्दर्शन और संकल्प से सम्यक्चारित्र का निर्माण हुआ है। जैन धर्म में मोक्ष की व्याख्या दो प्रकार से हुई है—

(क) मोक्ष वीतराग दशा के रूप में—हमारे सम्यक् आचरण का लक्ष्य क्या है? यह प्रश्न मनोविज्ञान और दर्शन दोनों की ही दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जैन दर्शन में इसे मोक्ष कहकर अभिव्यक्ति दी गई है। मोक्ष का विश्लेषण करें तो मोक्ष वह दशा है जहां राग और द्वेष दोनों ही नहीं होते। समत्व की अवस्था होती है। आत्मा का अनुभव होता है।

(ख) मोक्ष आत्मपूर्णता के रूप में—मोक्ष आत्मा की पूर्णावस्था है। पूर्ण समत्व के लिए आत्मपूर्णता आवश्यक भी है। अपूर्णता का अभाव भी एक प्रकार का मानसिक तनाव है। जैनागमों में जो वीतरागता की अवस्था है वह पूर्ण समत्व की ही अवस्था है। इस प्रकार समत्व को ही नैतिक जीवन का आदर्श माना गया।

भगवान् महावीर के सम्मुख जिज्ञासा की कि आत्मा क्या है? और आत्मा का साध्य या आदर्श क्या है? तब उन्होंने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया था, वह आज भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत्य है। उन्होंने कहा था "आत्मा समत्व रूप है और समत्व ही आत्मा का साध्य है।"²⁶² आज भी हम देखते हैं कि शारीरिक एवं मानसिक स्तर पर समत्व का संस्थापन ही जीवन का लक्षण है। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में जीवन गतिशील सन्तुलन है।²⁶³ स्पेन्सर के अनुसार परिवेश में निहित तथ्य जीवन के संतुलन को भंग करते रहते हैं और जीवन अपनी क्रियाशीलता के द्वारा पुनः इस सन्तुलन को बनाने का प्रयास करता है। यह सन्तुलन बनाने का प्रयास ही प्रक्रिया है।²⁶⁴ विकासवादियों ने इसे ही अस्तित्व के लिए संघर्ष कहा है किन्तु इसे अस्तित्व के लिए संघर्ष कहने की अपेक्षा समत्व के संस्थापन का प्रयास कहना अधिक उचित होगा। समत्व हमारा स्वभाव है और वही आदर्श भी है। स्वभाव से भिन्न आदर्श की कल्पना अयथार्थ है। स्पेन्सर, डार्विन आदि कुछ पाश्चात्य विचारक संघर्ष को ही जीवन का स्वभाव मानते हैं लेकिन यह एक मिथ्या धारणा है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी वस्तु का स्वभाव वह होता है जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता। जैन दर्शन के अनुसार नित्य

और निरपवाद वस्तु धर्म ही स्वभाव है। यदि हम इस कसौटी पर कसें तो संघर्ष जीवन का स्वभाव सिद्ध नहीं होता है। संघर्ष मिटाने के लिए होता है। जो मिटाने की वस्तु है क्या उसे स्वभाव कहा जा सकता है? मानव स्वभाव संघर्ष नहीं, संघर्ष का निराकरण या समत्व की अवस्था है। क्योंकि युगों से मानवीय प्रयास उसी के लिए हो रहे हैं। वीतरागता या समत्व की अवस्था को प्राप्त कर लेना ही मानवीय जीवन का साध्य है। व्यावहारिक जीवन में हमारे सम्पूर्ण प्रयास हमारी चेतना के ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं संकल्पात्मक शक्तियों के विकास के लिए ही होते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य अपनी सीमितता और अपूर्णता से छुटकारा पाना चाहता है। वास्तव में मानव मन की इस स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति ही जैन दर्शन में मोक्ष के प्रत्यय के रूप में अभिव्यक्त हुई है। जीवन वह प्यास है जो पूर्णता के जल से परिशान्त होना चाहती है। ब्रेडले का भी कथन है कि चेतना अनन्त है क्योंकि वह अनुभव करती है कि उसकी क्षमताएं शान्त एवं सीमित हैं। उसका सीमित होने का यह ज्ञान ही स्वयं उसके इस सीमा से परे ले जाता है।²⁶⁵ आत्मा अनन्त चतुष्टय से युक्त है। यद्यपि पूर्णता हमारी क्षमता है योग्यता नहीं। अपूर्णता का बोध पूर्णता की चाह का संकेत अवश्य है लेकिन वह पूर्णता की उपलब्धि नहीं है। हमारी ज्ञान, भाव और संकल्प की शक्तियों का अनन्त ज्ञान, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति के रूप में विकसित हो जाना ही आत्मपूर्णता है। आत्मशक्तियों का यह अनावरण एवं उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति ही जैन दर्शन में मोक्ष है।

संदर्भ ग्रंथ

1. तैत्तिरीय उपनिषद्, 3. 1
2. वही, 2. 7
3. बृहदारण्यकोपनिषद्, 1. 4. 1
4. छांदोग्योपनिषद्, 3. 19. 1
5. वही, 6. 2. 1
6. बृहदारण्यकोपनिषद्, 1. 2. 1
7. Greek Thinkers by Theodre Gomperz, vol. 1, p. 48
8. छांदोग्योपनिषद्, 4. 3. 1-4
9. Greek Thinkers, vol. 1, pp. 51, 52

10. Ibid. p. 56; The Principal Upanishadas by Dr. S. Radhakrishnan, p. 404
11. बृहदाप्यकोपनिषद् : एक समीक्षात्मक अध्ययन , पृ. 142-144
12. Greek Thinkers, vol. 1. p. 63; The Principal Upanishads, p. 33, footnote 3
13. छांदग्योपनिषद्, 1. 8. 8, 1. 9. 1
14. ऋग्वेद, मंडल 10, अनुवाक 11, सूक्त 129, श्लोक 1, 6, 7
15. अथर्ववेद, 17. 1. 19
16. शतपथब्राह्मण, 1. 1. 2. 3
17. The World Book Encyclopaedia, vol. 1, pp. 154&157; vol. 12, p. 304
18. भगवती सूत्र, 11. 99
19. पण्णवणा, 15. 53
20. ठाणं, 7. 14-22
21. भगवतीवृत्ति, 1. 301
22. भगवती सूत्र, 1. 309-311
23. भगवतीवृत्ति, 1. 310
24. भगवती सूत्र, 1. 312, 313
25. पंचास्तिकाय, गाथा 128-130 पर तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति
26. तत्त्वार्थसूत्र, 6. 1
27. वही, 6. 2
28. तत्त्वार्थवार्तिक, 1. 4. 9
29. वही, 1. 4. 16
30. वही, 6. 2. 4
31. नयचक्र, बृहद्गाथा 152
32. वही, 153
33. बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 31
34. भगवती आराधना, गाथा 38
35. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 29
36. तत्त्वार्थसूत्र, 6. 4
37. तत्त्वार्थवार्तिक, 6. 4. 6. 7
38. वही, 6. 4. 4-7
39. वही, 1. 7. 14
40. समयसार, 171; गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 786
41. बृहद्द्रव्यसंग्रह, 30
42. भगवती आराधना, 55
43. समयसार, तात्पर्यवृत्ति, 95

44. योगशास्त्र, श्लोक 2
45. नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, 91
46. बृहद्द्रव्यसंग्रह, 30
47. वही, 42
48. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 34
49. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, 623
50. समयसार, आत्मख्याति, गाथा 200, कलश 137
51. पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, श्लोक 1033, 1034
52. भगवती आराधना, गाथा, 55
53. बारस अणुवेक्खा, गाथा 48
54. धवला, 8. 3, 6. 20. 3
55. सर्वार्थसिद्धि, 8. 1
56. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, 876
57. सर्वार्थसिद्धि, 8. 1
58. धवला, 8. 3, 6. 20. 4
59. तत्त्वार्थसार, अधिकार, 5. 7. 278
60. सर्वार्थसिद्धि, 9. 20.
61. मोक्षपाहुड़ गाथा 92
62. दर्शनपाहुड़, गाथा 13
63. शीलपाहुड़, गाथा 14
64. पद्मनन्दविंशतिका, अधिकार 1, श्लोक 167
65. धवला, 8. 3, 6. 20. 6
66. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, जीवप्रबोधिनी, 16. 41. 3
67. अनगारधर्मात, अधिकार 2, श्लोक 7
68. सर्वार्थसिद्धि, 8. 1
69. भगवती आराधना, 55
70. धवला, 8. 3, 6. 20. 8
71. नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, 51
72. बृहद्द्रव्यसंग्रह, 42
73. वही, 30
74. समयसार, तात्पर्यवृत्ति, 95
75. बारस अणुवेक्खा, 48
76. धवला, 12. 4, 2, 8, 3. 279—281. 6
77. न्यायदर्शन, वात्स्यायनभाष्य, 3. 2. 59, 60
78. वही, 3. 2. 72
79. भगवती, 5. 59, 60
80. अष्टांगहृदय, शारीरस्थान, 1. 1

81. चरकसंहिता, शारीरस्थान, 2. 31
82. भगवती, 1. 7. 340, 341
83. भगवती, 1. 7. 342, 343
84. सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान, 3. 4
85. चरकसंहिता, शारीरस्थान, 2. 35
86. भगवती, 1. 7. 344
87. चरकसंहिता, शारीरस्थान, 3. 3 (6), 4
88. वही, 3. 5
89. वही, 3. 3
90. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा 170
91. प्रवचनसारोद्धार, वृत्ति पत्र, 342
92. अष्टांगसंग्रह, इन्दुव्याख्यासहित, सूत्रस्थान, 19. 29—32
93. भगवती, 1. 7. 345
94. चरकसंहिता, शारीरस्थान, 4. 24
95. अष्टांगहृदय, शारीरस्थान, 1. 56; सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान, 3. 31
96. भगवती, 1. 7. 353, 354
97. वही, 1. 7. 355, 356
98. चरकसंहिता, शारीरस्थान, 4. 15
99. भगवती, 2. 5. 82—84
100. भगवतीवृत्ति, 2. 84
101. प्रवचनासारोद्धार, वृत्ति पत्र 401, द्वार 241, गाथा 1360
102. भगवती, 2. 5. 86
103. भगवतीवृत्ति, 2. 86
104. भगवती, 2. 5. 87, 88
105. भगवतीवृत्ति, पत्र 2. 87
106. भगवतीजोड़, 1. 40. 30
107. पण्णवणा, 1. 84
108. भगवतीवृत्ति, 2. 89
109. सर्वार्थसिद्धि, 8. 1
110. समयसार, आत्मख्याति, 307, कलश 190
111. बृहद्द्रव्यसंग्रह, 30
112. महापुराण, सर्ग 62, लोक 305
113. ओघनिर्युक्ति, 180
114. नन्दी, मलयगिरिवृत्ति, पत्र 204
115. उत्तराध्ययन, 10. 25
116. वही, 14. 15
117. आयासो, 3. 75

118. उत्तराध्ययन, 4. 9, 10
119. वही, 4. 6
120. दशवैकालिक, अगस्त्यसिंह चूर्णि, पृ. 12
121. ओघनिर्युक्ति, 750, 751
122. वही, 757, 758
123. वही, 759, 760
124. ओघनिर्युक्तिवृत्ति, पत्र 220, 221
125. ओघनिर्युक्ति, 51
126. विशेषावश्यकभाष्य, 2978
127. उत्तराध्ययन, 33. 11
128. उत्तराध्ययन, शान्त्याचार्यवृत्ति, पत्र 643
129. आवश्यकनिर्युक्ति, 108
130. वही, 109
131. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1232
132. आवश्यकनिर्युक्ति, 110
133. वही, 111
134. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2992
135. वही, 2990, 2991
136. दशवैकालिक, 8. 39
137. उत्तराध्ययन, 9. 54
138. दशवैकालिक, 8. 37
139. आवश्यकनिर्युक्ति, 120
140. दशवैकालिक, 8. 38
141. उत्तराध्ययन, 29. 37
142. वही, 29. 68-71
143. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3499
144. तत्त्वार्थवार्तिक, 7. 13. 4
145. धवला, 1. 1, 1, 4. 139. 9
146. पंचसंग्रह, प्राकृत अधिकार 1, गाथा 88
147. सर्वार्थसिद्धि, 2. 25
148. तत्त्वार्थवार्तिक, 9. 7. 11
149. धवला, 7. 2, 1. 2. 6. 10
150. नियमसार, 139
151. सर्वार्थसिद्धि, 6. 12
152. तत्त्वार्थवार्तिक, 6. 1. 12
153. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 334
154. नन्दी, मलयगिरिवृत्ति, पत्र 112

155. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 363
 156. नन्दी, मलयगिरिवृत्ति, पत्र 112
 157. वही,
 158. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 359
 159. विशेषावश्यकभाष्य, मलयगिरिवृत्ति, 1, पत्र 685
 160. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1935—1937
 161. (क) सर्वार्थसिद्धि, 1. 8
 (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, 1. 1. 37
 162. सर्वार्थसिद्धि, उत्थानिका, पृ. 1
 163. तत्त्वार्थवार्तिक, 1. 4
 164. धवला, 13. 5. 5. 82, पृ. 348
 165. सांख्यसार, 2. 7. 25
 166. मेदिनी, घे. 25
 167. कुमारसंभव, 3. 31
 168. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, 497 शान्त्याचार्यवृत्ति, पत्र 555
 169. दशवैकालिक हारिभद्रीयवृत्ति, पत्र 159
 170. आवश्यकनिर्युक्ति, 103
 171. भारतीय दर्शन परिचय भाग 1, 5. 105—106
 172. वही, पृ 59
 173. वही, पृ. 67
 174. वही, पृ. 68
 175. (क) इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, खंड 9, पृ. 379—77
 (ख) आस्पेक्ट्स ऑफ महायान इन रिलेशन टू हीनयान, पृ. 145
 176. धम्मपद गाथा 154, ओघतरण सुत्त, निमोक्ख सुत्त, संयाजन सुत्त तथा बंधनसुत्त
 177. अभिधर्मकोश व्याख्या, पृ. 17
 178. कन्सेप्शन ऑफ बुद्धिस्ट निर्वाण, पृ. 27
 179. आस्पेक्ट्स ऑफ महायान इन रिलेशन टू हीनयान, पृ. 162
 180. (अ) लिबरेशन, पृ. 69
 (ब) बौद्धधर्म मीमांसा, पृ. 147
 181. कन्सेप्शन ऑफ बुद्धिस्ट निर्वाण, पृ. 29
 182. लंकावतारसूत्र, 2. 62
 183. त्रिंशिका विज्ञप्तिभाष्य, पृ. 15, उद्धृत बौद्ध धर्म मीमांसा, पृ. 150
 184. बौद्ध धर्म मीमांसा, पृ. 30
 185. माध्यमिककारिका वृत्ति, पृ. 524 (सेन्द्रल बुद्धिज्म, पृ. 274)
 186. गीता, 15. 4

187. वही, 8. 20. 21
188. वही, 6. 15
189. वही, 6. 28
190. उत्तराध्ययन, 23. 83
191. वही, 29. 45
192. तत्त्वार्थसूत्र, 10. 2
193. तत्त्वार्थवार्तिक, 1. 1. 37
194. नयचक्र बृहद्गाथा, 156
195. समयसार, आत्मख्याति, 288
196. भारतीय दर्शन, पृ. 127
197. तत्त्वार्थवार्तिक, 10. 4. 17
198. पंचास्तिकाय, गाथा 46
199. आवश्यकनिर्युक्ति 953; हारिभद्रीया वृत्ति 1, पृ. 293
200. उत्तराध्ययन, 36. 66
201. आवश्यकनिर्युक्ति 747. 748
202. वही, 977, 978
203. वही, 987
204. नन्दी, 31
205. नन्दीचूर्णि, पृ. 26
206. नन्दी मलयगिरिवृत्ति, पत्र 130
207. नन्दीचूर्णि, पृ. 26
208. वही, पृ. 26
209. वही, पृ. 26
210. वही, पृ. 26
211. नन्दीचूर्णि, पत्र 26, 27
212. वही, पृ. 27
213. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्यवृत्ति, पत्र 683
214. वही, पत्र 678 एवं नन्दीचूर्णि, पृ. 27
215. नन्दीचूर्णि, पृ. 27
216. आवश्यकचूर्णि 1, पृ. 76
217. नन्दीचूर्णि, पृ. 27
218. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्यवृत्ति, पत्र 678
219. वही, पृ. 26, 27
220. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्यवृत्ति, पत्र 683
221. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 14
222. तत्त्वार्थसूत्र, 10. 6, 7
223. जैन सिद्धान्त दीपिका, 5. 24

224. तत्त्वार्थसूत्र, 10. 8
 225. पण्णवणा, 2. 211
 226. उत्तराध्ययन, 36. 55, 56
 227. भगवती आराधना, गाथा 1133; त्रिलोकसार, गाथा 556—58;
 तिलोयपण्णति, 8. 652658
 228. आयारो, 2. 123—125, 139
 229. उत्तराध्ययन, 14. 19
 230. आचारांगचूर्णि, पृ. 199; आचारांगवृत्ति, पत्र 209
 231. (क) छांदोग्य उपनिषद्, 3. 14. 3
 (ख) श्वेताश्वतर उपनिषद्, 5. 8, 9
 232. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), जीवप्रबोधिनी टीका, गाथा 69; स्याद्वादमंजरी,
 कारिका 15
 233. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 14; स्याद्वादमंजरी, पृ. 4
 234. तत्त्वार्थवार्तिक, 10. 4. 4; तत्त्वार्थसार, 8. 8. 11
 235. तत्त्वार्थवार्तिक, 10. 4. 8
 236. तत्त्वार्थवार्तिक, 10. 9. 8; तत्त्वार्थसार, 8. 11. 2
 237. तत्त्वार्थवार्तिक, 10. 4. 5
 238. योगसार, 7. 8
 239. वही, 9. 53
 240. बृहद्द्रव्यसंग्रह, 37
 241. स्याद्वादमंजरी कारिका 29
 242. अमितगतिश्रावकाचार, 4. 39
 243. (क) न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. 825
 (ख) षड्दर्शनसमुच्चय, पृ. 285
 244. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 317
 245. वही
 246. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. 826
 247. (क) न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. 827
 (ख) प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 317
 (ग) षड्दर्शनसमुच्चय, पृ. 286
 248. वही
 249. वही
 250. स्याद्वादमंजरी, कारिका 8
 251. (क) न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. 827
 (ख) प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 318
 252. वही
 253. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. 827

254. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 318
255. (क) अष्टसहस्री, पृ. 66
(ख) स्याद्वादमंजरी कारिका. 15
(ग) प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 316
256. (क) सांख्यकारिका, 65, 66
257. (क) प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 327
(ख) अष्टसहस्री, पृ. 66
258. वही
259. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 327
260. अष्टसहस्री, पृ. 67
261. प्रवचनसार, गाथा 23
262. भगवती, 1. 4. 27
263. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ. 259
264. फर्स्ट प्रिन्सिपल, स्पेन्सर, पृ. 66
265. एथिकल स्टडीज, ब्रेडले वोटर सेकेन्ड

षष्ठ अध्याय आत्मविकास की भूमियां

आध्यात्मिक विकास का उद्देश्य

आध्यात्मिक विकास यानि आत्म विकास। सभी प्राणी चाहते हैं विकास। कोई भी हमेशा उसी स्थिति में रहना नहीं चाहता। पूर्णत्व, सुख-दुःख से छुटकारा पाना चाहता है। संसार से ऊपर उठकर ऐसे लोक में प्रविष्ट होना चाहता है जहां अनन्त आनन्द, शान्ति व ज्ञान का साम्राज्य हो। जन्म-मरण की समस्या न हो। ऐसा तभी हो सकता है जबकि कुछ भूमिकाओं को पार किया जाए, श्रेणियों पर चढ़ा जाए। आध्यात्मिक विकास का यही उद्देश्य है मोक्ष, पूर्णत्व की प्राप्ति। समस्त भारतीय दर्शनों का उद्देश्य है दुःखों से छुटकारा पाना। उसी के लिए सारी साधना है। संन्यासी, योगी उसी की प्राप्ति के लिए सब कुछ छोड़कर एकान्त में साधना करते हैं। उसी की खोज में प्राणी व्याकुल है। वह ऐसे लक्ष्य को निहार रहा है जहां राग-द्वेष न हो। सारी भटकन उसी मंजिल के लिए है। लम्बे-लम्बे दार्शनिक विचारों का निष्कर्ष है दुःख-मुक्ति। जैन दर्शन में आध्यात्मिक विकास की एकमात्र मंजिल है मोक्ष-प्राप्ति, पूर्णत्व प्राप्ति। एक ऐसा स्थान जहां से पुनरागमन न हो संसार में। वहां पर आत्मस्वरूप का बोध हो और हो आत्मलीनता। केवलज्ञान, दर्शन का व्यापार हो, कभी केवल ज्ञान और कभी केवल दर्शन। न राग का घुन और न द्वेष की अग्नि हो। ज्ञाता, द्रष्टा भाव हो जहां। केवल जानना, केवल देखना। वह वीतरागता की स्थिति पूर्णत्व का स्वरूप है और महावीर के दर्शन, उपदेशों का सार है।

आध्यात्मिक विकास क्रमशः होता है। यह एक दिन की वस्तु नहीं है। जैसे-जैसे व्यक्ति साधना-सोपानों पर आरोहण करता है, वैसे-वैसे विकास के उच्चतम शिखर की ओर चरण बढ़ते जाते हैं। इसके लिए कुछ उपादेय होता है, कुछ ज्ञेय और कुछ हेय। जागरूकता

पूर्वक अप्रमाद से उस मार्ग पर चलना होता है। जब सही-सही पथ पर चलते हैं तो आध्यात्मिक विकास के उद्देश्य की तरफ बढ़ते जायेंगे। जैन दर्शन में उन्हीं सोपानों को गुणस्थान नाम से अभिहित किया है। अन्य दर्शनों में भी इनका वर्णन प्राप्त होता है। वाशिष्ठ दर्शन में इन्हें ज्ञान की भूमिकाएं, पातंजल योग दर्शन में योग के अंग कहा गया है। योगवाशिष्ठ में ज्ञान की सात भूमिकायें दी गई हैं। वहां कहा गया कि कितने समय और कितने जन्मों में ज्ञान की सिद्धि और उससे जीवनमुक्ति की प्राप्ति होगी, यह प्रत्येक व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ पर निर्भर है। जिनमें अधिक लगन होती है और जो अधिक यत्न करते हैं, वे जल्द ही परम पद प्राप्त कर लेते हैं। जब अत्यन्त तीव्र वैराग्य और तीव्र मुमुक्षा होती है तो क्षणभर में मोक्ष का अनुभव हो जाता है। इसलिए मोक्ष की वासना होने और मोक्ष का अनुभव होने में कितने समय का अन्तर है, यह नहीं बतलाया जा सकता। योगवाशिष्ठ में सात भूमिकायें ये हैं—1. शुभेच्छा 2. विचारणा 3. तनुमानसा 4. सत्त्वापत्ति 5. असंसक्ति 6. पदार्थभावनी 7. तुर्यगा।

शुभेच्छा में सत्य को जानने की इच्छा होती है। विचारणा में शास्त्रों और विद्वानों के संग से वैराग्य और अभ्यास से सदाचार की ओर प्रवृत्ति होती है। तनुमानसा में इन्द्रियविषयों के प्रति अनासक्तता हो जाती है। सत्त्वापत्ति भूमिका में शुद्ध आत्मा में चित्त की स्थिरता होने लगती है। असंसक्ति नामक पांचवी भूमिका में सत्ता के प्रकाश में मन स्थिर हो जाता है। पांचों भूमिकाओं के अभ्यास से आत्मा में दृढ़ स्थिति हो जाने पर भीतर और बाहर के सब पदार्थों के अभाव की बड़े प्रयत्न से भावना करके उनको असत् समझ लिया जाए, तब छठी भूमिका का उदय होता है। इन छः भूमिकाओं का अभ्यास हो जाने पर और भेद के न दिखाई देने पर जो आत्मभाव में अविचलित भाव से स्थिति हो जाती है, उसे तुर्यगा कहते हैं। इसको ही तुर्या अवस्था कहते हैं और इसी को जीवनमुक्ति कहते हैं।

मनोविज्ञान में इसे सर्वांगीण व्यक्तित्व कहा गया है। औपनिषदिक दार्शनिक मनोविज्ञान में शरीर के पांच कोषों का जो उल्लेख किया गया, उनके आधार पर भी व्यक्तित्व के पांच सोपान बताये गये हैं—अन्नमय पुरुष, प्राणमय पुरुष, मनोमय पुरुष, विज्ञानमय पुरुष, आनन्दमय पुरुष। पुरुष शब्द का प्रयोग व्यक्तित्व के लिए किया गया है। श्री अरविन्द के

अनुसार व्यक्तित्व के भौतिक, प्राणिक, मानसिक आध्यात्मिक और चैत्य सोपान है। दूसरे शब्दों में कहें तो श्री अरविन्द ने व्यक्तित्व के निरूपण में सोपानात्मक उपागम को अपनाया है। इन पांचों कोषों एवं पांच सोपानों की तुलना—

अन्नमय कोष	भौतिक सोपान
प्राणमय कोष	प्राणिक सोपान
मनोमय कोष	मानसिक सोपान
विज्ञानमय कोष	आध्यात्मिक सोपान
आनन्दमय कोष	चैत्य सोपान

व्यक्तित्व का सर्वांगीण सिद्धान्त व्यक्तित्व के बाह्य पक्ष में भौतिक, प्राणिक एवं मानसिक सोपानों पर आधारित है। व्यक्तित्व का आन्तरिक पक्ष उस समय दिखाई पड़ता है जबकि व्यक्तित्व में चैत्य चेतना प्रकट होने लगती है। अरविन्द ने व्यक्तित्व के सर्वांगीण सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु चैत्य पुरुष को माना है। चैत्य आत्मा का ही पर्याय है। आत्मा सम्बन्धी वे सभी अनुभव चैत्य चेतना के पर्याय हैं। आत्मा सम्बन्धी वे सभी अनुभव चैत्य चेतना के अन्तर्गत आते हैं जो शारीरिक अथवा भौतिक, प्राणिक या मानसिक जगत् से प्रभावित नहीं होते। जब अन्तरतम ज्ञान आने लगता है तब चैत्य पुरुष के प्रति सचेतन होते हैं। गुणस्थान का सामान्य लक्षण बताते हुए पंचसंग्रह में कहा गया—दर्शनमोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित किये जाते हैं, उन्हें सर्वदर्शियों ने गुणस्थान संज्ञा से निर्देश किया है।¹ संखेओ ओघोत्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा।² संक्षेप ओघ ऐसी गुणस्थान की संज्ञा अनादिनिधन ऋषिप्रणीत मार्गविषैरूढ है। बहुरि सो संज्ञा दर्शन चारित्र मोह और मन वचन काय योग तिनकरि उपजी है।

गुणस्थान निर्देश का प्रयोजन बताते हुए कहा—संवर के स्वरूप का विशेष परिज्ञान करने के लिए चौदह गुणस्थानों का विवेचन आवश्यक है।³ गुणस्थान परिणामों पर आधारित है तो जिज्ञासा होती है कि जितने परिणाम हैं उतने ही गुणस्थान क्यों नहीं होते? समाधान मिला—जितने परिणाम हैं उतने ही गुणस्थान माने जायें तो व्यवहार ही नहीं चल सकता है, इसलिए द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नियतसंख्या वाले ही

गुणस्थान कहे गये हैं।⁴ गुणस्थान 14, बौद्धों के अनुसार दस भूमियां, पतंजलि के अनुसार योग के आठ अंग हैं।

हम यहां जैन दर्शन सम्मत गुणस्थानों की चर्चा करेंगे। समवायांग⁵ में जीवस्थान के नाम से 14 प्रकारों का वर्णन आता है। वहां मात्र नामोल्लेख ही है। उसके बाद आवश्यक चूर्ण में इन प्रकारों की चर्चा की गई है। गुणस्थान के 14 प्रकार हैं⁶— 1. मिथ्यादृष्टि 2. सास्वादन सम्यग्दृष्टि 3. सम्यग् मिथ्यादृष्टि 4. अविरत सम्यग्दृष्टि 5. विरताविरत 6. प्रमत्तसंयत 7. अप्रमत्तसंयत 8. निवृत्तिबादर 9. अनिवृत्तिबादर 10. सूक्ष्मसंपराय 11. उपशान्तमोह 12. क्षीणमोह 13. सयोगीकेवली 14. अयोगीकेवली।

1. मिथ्यादृष्टि

मोहकर्म का उदय मिथ्यादर्शन कहलाता है। उसके तीन प्रकार हैं—अभिनिवेश, मतिमोह और संप्लवन। गोष्ठामाहिल, जमालि और श्रावक—ये क्रमशः इनके उदाहरण हैं। मिथ्यादृष्टि प्राणी का गुणस्थान मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहलाता है।⁷

2. सास्वादन सम्यग्दृष्टि

जिसकी जिनप्रवचन में अत्यल्प रुचि है, वह सास्वादन सम्यग्दृष्टि है अथवा उपशम सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर जाने वाले जीव के संक्रमणकाल में सास्वादन सम्यक्त्व होता है। इसका कालमान है—छह आवलिका। यह सम्यक्त्व उस व्यक्ति के समान है, जो वृक्ष से गिर रहा है पर अभी भूमि तक नहीं पहुंचा है, अन्तरालवर्ती है। इस सम्यक्त्व वाले प्राणी का गुणस्थान सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहलाता है।⁸

3. सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

सम्यग्मिथ्यादृष्टि निश्चित रूप से भवस्थ पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय होता है। वह पहले मिथ्यादृष्टि होता है, फिर शुभ अध्यवसायों के प्रयोग से उपचित मिथ्यात्वपुद्गलों को तीन भागों में विभक्त करता है—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व। जब तीन मिथ्यात्व पुद्गलों को विशुद्ध कर मिथ्यात्व के उदय को सम्यग्मिथ्यात्व के उदय रूप में परिणत करता है, तब वह जिनवचनों पर श्रद्धा और अश्रद्धा करता है—यह सम्यग् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है। इसका कालमान है—अन्तर्मुहूर्त। इसके पश्चात् वह सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्व प्राप्त करता है।⁹

नन्दी की मलयवृत्ति में कहा जिनमें मतिदौर्बल्य के कारण एक

ही वस्तु अथवा उसके पर्याय में एकांत रूप से सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान का अभाव है, न एकांततः सम्यक् श्रद्धा है और न एकान्ततः विप्रतिपत्ति है, वे सम्यग् मिथ्यादृष्टि है।¹⁰

4. अविरतिसम्यग्दृष्टि

अविरतिसम्यग्दृष्टि गुणस्थान के अधिकारी नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव—चारों गति के जीव हो सकते हैं। इस चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव महाव्रत या अणुव्रत को स्वीकार नहीं कर सकते। वे क्षायोपशमिक या क्षायिक सम्यक्त्व वाले होते हैं।¹¹

5. विरताविरत गुणस्थान

विरताविरत गुणस्थान के अधिकारी मनुष्य और तिर्यच पंचेन्द्रिय हैं। ये आंशिक रूप में मूलगुण और उत्तरगुण सम्बन्धी प्रत्याख्यान करते हैं। ये नियमतः संज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्त ही होते हैं।¹²

6. प्रमत्तसंयत गुणस्थान

प्रमत्त दो प्रकार के हैं—कषायप्रमत्त और योगप्रमत्त। जो क्रोध, मान, माया और लोभ के वशीभूत हैं, वे कषायप्रमत्त हैं। जिसके मन, वाणी और काया के प्रणिधान दूषित हैं, वह योगप्रमत्त है। वह शब्द, रूप आदि इन्द्रियविषयों में आसक्त होता है, ईर्या आदि पांच समितियों से असमित होता है। वह उद्गम—उत्पाद—एषणा से शुद्ध आहार, उपधि और स्थान के ग्रहण में जागरूक नहीं होता।¹³

7. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान

अप्रमत्त दो प्रकार के हैं—कषाय अप्रमत्त और योग अप्रमत्त। जिसका कषाय क्षीण है, वह कषाय अप्रमत्त है। क्रोध के उदय का निरोध अथवा उदयप्राप्त क्रोध का विफलीकरण—यही उसकी अप्रमत्तता है। मन, वचन और काया—जो इन तीन योगों से गुप्त है, वह योग अप्रमत्त है। जो अकुशल मन, वचन, काययोग का निरोध तथा कुशल मन, वचन, काययोग की उदीरणा करता है वह योग अप्रमत्त है। जो मन को एकाग्र करता है, वचन और काया को स्थिर करता है, वह योग अप्रमत्त है एवं जो इन्द्रियविषयों की सावद्य प्रवृत्ति से निवर्तन तथा प्राप्त विषयों में राग-द्वेष का निग्रह करता है, वह योग अप्रमत्त है।¹⁴ जो सतत उपयोगशील, जागरूक रहते हैं, वे अप्रमत्त हैं। अप्रमत्तसंयत, जिनकल्पिक, परिहारविशुद्धिक, यथालंदक और प्रतिमाप्रतिपन्न अनगार अप्रमत्त होते हैं।¹⁵

8. निवृत्तिबादर गुणस्थान

जब जीव मोहनीय कर्म का क्षय अथवा उपशम करता है तब अप्रमत्तसंयत प्रशस्ततर अध्यवसाय स्थानों में वर्तमान होकर मोहनीय कर्म का क्षय करता है अथवा उपशमन करता है और जब तक हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा के उदय का उच्छेद नहीं होता तब तक वह अनगार अन्तर्मुहूर्त्त काल तक निवृत्तिबादर गुणस्थान में होता है।¹⁶

9. अनिवृत्तिबादर गुणस्थान

जब जीव बादर कषायों से निवृत्त होकर आगे प्रशस्ततर अध्यवसायस्थानों में उपयुक्त होता है और हास्यषट्क का उदय व्युच्छिन्न हो जाने पर जब तक माया के उदय का व्यवच्छेद नहीं होता, तब तक उसमें वर्तमान अनगार अन्तर्मुहूर्त्त काल तक अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में होता है।

10. सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान

सूक्ष्मसांपरायिक कर्मबंध जिसमें होता है, वह सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान है। सूक्ष्म का अर्थ है—अल्प। वह अल्प इसलिए कि आयुष्य और मोहनीय को छोड़कर शेष छह प्रकृतियों का बंध शिथिल, अल्पकालस्थिति वाला, मंद अनुभाग वाला तथा अल्प प्रदेशाग्र वाला होता है। इस प्रकार उसमें अल्प सांपरायिक कर्मबंध होता है¹⁷ अथवा इसका अर्थ है जिसमें सूक्ष्म राग की विद्यमानता होती है, वह सूक्ष्मसंपराय है। वह असंख्येय समय वाले अन्तर्मुहूर्त्त की स्थितिवाला, विशुद्धयमान परिणामवाला अथवा प्रतिपाति परिणाम वाला होता है।

11. उपशान्तमोह गुणस्थान

उपशान्तमोह गुणस्थान में जीव मोहकर्म की अट्टावीस प्रकृतियों का सर्वथा उपशम करता है, किंचित् मात्र भी वेदन नहीं करता। उपशमश्रेणी में आरोहण करने वाले जीव का निश्चित ही देश प्रतिपात अथवा सर्वप्रतिपात होता है।¹⁸

12. क्षीणमोह गुणस्थान

क्षीणमोह गुणस्थान में जीव सम्पूर्ण मोहकर्म को नष्ट कर देता है। वह अपने विशुद्धयमान परिणाम से नियमतः अन्तर्मुहूर्त्त के बाद केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।¹⁹

13. सयोगी केवली गुणस्थान

सयोगी केवली के तीनों योग होते हैं। धर्मकथा करने, शिष्यों

पर अनुशासन करने तथा प्रश्न आदि का व्याकरण करने के लिए वाक् योग होता है। खड़े होने, बैठने, सोने, उठने, पार्श्वपरिवर्तन करने तथा विहार आदि करने के निमित्त काययोग होता है। मनोयोग की उनमें भजना होती है। जब अनुत्तरोपपातिक देव या अन्य देव या मनुष्य अपने मन से उन केवलियों को प्रश्न पूछते हैं तब वे केवली उनके संशय को मिटाने के लिए मनः प्रायोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उनको मन रूप में परिणत करते हैं और मन से ही उत्तर देते हैं। अनुत्तरोपपातिक आदि देव केवली के मन को जान लेते हैं, तब उनका संशय व्युच्छिन्न हो जाता है। यही केवली के मन का प्रयोजन होता है अन्यथा उनका मन से क्या प्रयोजन? इसलिए मनोयोग का निषेध सकारण किया गया है।

14. अयोगीकेवली गुणस्थान

मन, वचन और काया—इन तीनों योगों का निरोध होते ही अयोगी—शैलेशी अवस्था प्राप्त हो जाती है, उसे अयोगी केवली गुणस्थान कहा जाता है। पांच ह्रस्व अक्षरों—अ, इ, उ, ऋ, लृ का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय तक अयोगी केवली रहता है। उसके बाद अयोगी केवली सब कर्मों से मुक्त हो सिद्ध हो जाता है।²⁰

गुणस्थान और कर्मबंध

पहले, दूसरे, चौथे, पांचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में आयुबन्ध काल में आठ कर्मों का बंध होता है। आयुबन्धकाल से व्यतिरिक्त काल में आयुर्वर्जित सात कर्मों का बंध होता है। तीसरे, आठवें, नौवें गुणस्थान में भी इन सात कर्मों का बंध होता है। दसवें गुणस्थान में छह कर्मों (आयु और मोहवर्जित) का बंध होता है। ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में केवल सात वेदनीय का बंध होता है। चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवों और सिद्धों के कर्मबंध नहीं होता क्योंकि वहां कषाय और योग नहीं है।²¹

हमने आध्यात्मिक विकास क्रम के चौदह सोपान देखें। इस विकास क्रम की पृष्ठभूमि में रहते हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र या यों कहें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र। हम रत्नत्रयी का वर्णन करेंगे।

सम्यग्दर्शन

दुरभिनिवेश रहित पदार्थों का श्रद्धान अथवा स्वात्म प्रत्यक्षपूर्वक स्व-पर भेद का या कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक सम्यग्दर्शन कहा जाता

है। किन्हीं को यह स्वभाव से ही होता है और किन्हीं को उपदेशपूर्वक। आज्ञा आदि की अपेक्षा से यह दस प्रकार का तथा कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम की अपेक्षा तीन प्रकार का होता है। सम्यक्त्व को कुछ लोग ज्ञान में ही गिन लेते हैं पर ज्ञान व सम्यग्दर्शन में बहुत अन्तर है जो सूक्ष्म विचार के बिना पकड़ में आना सम्भव नहीं है। जितनी भी विकल्पात्मक, उपलब्धियां, श्रद्धा, अनुभव आदि हैं वे सब ज्ञानरूप हैं, सम्यग्दर्शन तो निर्विकल्प होने के कारण अन्तर में अभिप्राय या लब्धरूप अवस्थित मात्र रहा करता है। मोक्षमार्ग में इसका सर्वोच्च स्थान है क्योंकि इसके बिना आगम ज्ञान, चारित्र, तप, व्रत आदि सब वृथा हैं। सम्यग्दर्शन के लक्षणों में भी स्वात्म संवेदन सर्वप्रधान है क्योंकि इसके बिना तत्त्वों की श्रद्धा आदि अकिंचित्कर है। यह सम्यग्दर्शन स्वतः या किसी के उपदेश से या जातिस्मरण आदि के निमित्त से काल पाकर भव्यजीवों को उत्पन्न होता है। इसको प्राप्त करने की योग्यता केवल संज्ञी पर्याप्त जीवों में चारों ही गतियों में होती है।

सम्यग्दर्शन दो शब्द सम्यग् और दर्शन से मिलकर बना है। सर्वार्थसिद्धि में सम्यग् शब्द के विषय में कहा गया—सम्यक् शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् रौढिक और व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरण सिद्ध है। जब यह व्याकरण से सिद्ध किया जाता है तब 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'अंज्' धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर सम्यक् शब्द बनता है। संस्कृत में इसकी व्युत्पत्ति समंचति इति सम्यक् इस प्रकार होती है। प्रकृत में इसका अर्थ प्रशंसा है। सूत्र में आये हुए इस शब्द को दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनमें से प्रत्येक शब्द के साथ जोड़ लेना चाहिए। जैसे—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। पदार्थों के यथार्थ ज्ञान मूल के श्रद्धान का संग्रह करने के लिए दर्शन के पहले सम्यक् विशेषण दिया है।²²

दर्शन शब्द का अर्थ

जिज्ञासा होती है कि दर्शन शब्द दृशि धातु से बना है जिसका अर्थ आलोक है, अतः इससे श्रद्धान रूप अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता? समाधान मिला—धातुओं से अनेक अर्थ होते हैं, अतः दृशि धातु का श्रद्धानरूप अर्थ करने में कोई दोष नहीं है। अतः श्रद्धा अर्थ इष्ट है।²³

नियमसार में भी कहा गया कि शुद्ध जीवास्तिकाय से उत्पन्न होने वाला जो परम श्रद्धान है, वही दर्शन है। कारणदृष्टि परमपारिणामिक भावरूप जिसका श्रद्धान है, ऐसे कारणसमयसार स्वरूप आत्मा के

यथार्थ स्वरूपश्रद्धानमात्र है।²⁴

सम्यक्त्व शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया जीवादिवस्तु—बोधं प्रति समिति सम्यग् अवैपरीत्येन, अंचति प्रवर्तते इति सम्यक्, तस्य भावः सम्यक्त्वम् यानि तत्त्वबोध के प्रति जो सम्यक् रूप से प्रवृत्त होता है, वह सम्यक्त्व है।²⁵

सम्यक् इति प्रशंसार्थः दर्शनं दृष्टिः सम्यगविपरीता दृष्टिः सम्यग्दृष्टिः ‘अर्थानां’ इति गम्यते। अर्थात् सम्यक् शब्द प्रशंसार्थक अव्यय है। पदार्थ के प्रति अविपरीत दृष्टि सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व है।²⁶ सम्यक्त्व का अर्थ श्रद्धान आचारांग में दृष्टिगत नहीं होता। उसके चतुर्थ अध्ययन सम्यक्त्व में सम्यक्त्व और मुनिजीवन का एकीकरण किया गया है। वहां पर सम्यक्त्व को मुनिजीवन के रूप में पारिभाषित किया गया है, श्रद्धान रूप में स्पष्टता से प्रतिपादित नहीं हुआ है। किन्तु इसको इस प्रकार मान सकते हैं कि श्रद्धा के बिना मुनि जीवन स्थिर नहीं हो सकता। अतः चारित्र से पूर्व ज्ञान और ज्ञान से पूर्व दर्शन अर्थात् श्रद्धा का होना अनिवार्य है। वहां पर स्पष्ट कहा गया—जं सम्मंति पासहा तं मोणंति पासहा, जं मोणंति पासहा तं सम्मंति पासहा।²⁷ आचारांग चूर्णि में जिनदास गणि ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा—संयम मुनिभाव है। निश्चयनय की दृष्टि से चारित्रवान् सम्यग्दृष्टि होता ही है। सम्यक्त्व है वहां नियम से सम्यग्ज्ञान है, जहां सम्यग्ज्ञान है, वहां सम्यक्त्व है ही। विरति ज्ञानपूर्वक एवं ज्ञान सम्यक्त्वपूर्वक होता है।²⁸ जिनदासगणि एवं शीलाकाचार्य ने आचारांग वृत्ति में कहा है कि सम्मं शब्द का रूपान्तर सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्व किया। किन्तु उसका रूपान्तर ‘साम्य’ लिया जाए तो अधिक संगत हो जाएगा। क्योंकि आचारांग में ही कहा गया है—सभी प्राणियों को आयु प्रिय है। सभी सुखार्थी हैं, दुःख सभी को प्रतिकूल है। सभी को मृत्यु अप्रिय है, जीना सभी को प्रिय है। प्रत्येक प्राणी जीवन की अभिलाषा रखता है।²⁹ इसलिए सूत्रकार ने ‘सम्यक्त्व’ नामक चतुर्थ अध्ययन के प्रारंभ में इसी दृष्टिकोण को रखकर अहिंसा धर्म को प्रधानता देते हुए कहा है कि सभी प्राणी, भूत, जीव, सत्त्व को नहीं मारना, उन पर हुकूमत नहीं करना, दास नहीं बनाना, उन्हें संताप नहीं देना, प्राण रहित नहीं करना। यही धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है।³⁰ सूत्रकृतांग, दशवैकालिक आदि में स्थान-स्थान पर अहिंसा पालन एवं श्रद्धा की व्याख्या की गई है। वही श्रद्धा-स्वर आचारांग ऋषि के

कंठ से मुखरित हुआ है—शंका को छोड़कर परीषहों को सहन करके सम्यग्दर्शन को धारण कर³¹ जिस श्रद्धा के साथ निष्क्रमण किया है, उसी भाव से उसका जीवन पर्यन्त पालन करना चाहिए आदि।³² चित्त की चंचलता को सम्यग्दर्शन प्राप्त करके ही त्यागा जा सकता है। परीषहों को भी सम्यग्दर्शन पाकर ही सहन किया जा सकता है अन्यथा विवेक न हो तो परीषह सहन ही नहीं होते।

सूत्रकृतांग में कहा गया कि हरिण जिस प्रकार शंकास्पद स्थानों में निःशंक और निःशंक स्थानों में शंका करने से फंस जाते हैं, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि इस प्रकार करने से भवभ्रमण करते रहते हैं।³³

इस प्रकार हम यह जान सकते हैं कि सम्यग्दर्शन और मुनि भाव की अभेदता दृष्टिगोचर होती है। सूत्रकार पुनः कहते हैं—तत्त्ववेत्ता मुनि कल्याणकारी मोक्षमार्ग को जानकर सम्यग्दृष्टि होता हुआ पाप नहीं करता।³⁴ यही उल्लेख दूसरे शब्दों में दशवैकालिक सूत्र में किया गया है।³⁵ सम्यग्दर्शन से रहित होकर मुनित्व का पालन नहीं हो सकता—धैर्यहीन, ममता से आर्द्र, विषयासक्त, मायावी, प्रमादी, घर में रहने वालों से सम्यक्त्व या मुनित्व नहीं पाला जा सकता है। जो वीर सम्यग्दर्शी मुनि है, वही संसार को तिरता है।³⁶

स्पष्ट है कि मुनिजीवन सम्यक्त्वपूर्वक होता है। पुनः कहा है—अक्षय वैभव के लिए कोई निमन्त्रित करे तो स्वीकार न करे और देवता की माया में मुनि श्रद्धा न करे। सब प्रकार से दूर रहकर सत्य वस्तु को समझे।³⁷ उत्तराध्ययन में यही उल्लेख है।³⁸

सम्यग्दृष्टि मुनि के कर्तव्यों का उल्लेख भी किया गया है—रागद्वेषरहित, सम्यग्दृष्टि, शास्त्रों का ज्ञाता मुनि प्राणियों पर दया करके पूर्व पश्चिम.दक्षिण और उत्तर दिशा में रहते हुए जीवों को धर्मोपदेश दे। धर्म का विभाग बताये। धर्म का कीर्तन करे।³⁹.....

इस प्रकार आचारांग में स्थान-स्थान पर सम्यक्त्व का निरूपण किया गया है। सूत्रकृतांग में कहा गया—श्री अरिहन्त देव के द्वारा भाषित युक्ति संगत शुद्ध अर्थ और पद वाले धर्म को सुनकर जो जीव इसमें श्रद्धान करते हैं वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं अथवा स्वर्ग में इन्द्र की तरह देवताओं के अधिपति होते हैं।⁴⁰

सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध में, भगवती सूत्र में कई श्रमणोपासकों के उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने मिथ्यात्व का त्याग कर

सम्यक्त्व को ग्रहण किया है।

सम्यक्त्व का स्वरूप

उत्तराध्ययन में कहा गया कि नौ तत्त्वों के सद्भाव के निरूपण में जो अन्तःकरण से श्रद्धा करता है, उसके सम्यक्त्व होता है। इसी की वृत्ति में ऐसे अर्थ किया कि जिसमें तत्त्व सही रूप से दृष्टिगत होते हैं, वह सम्यग्दर्शन है। इसकी उत्पत्ति का कारण है—दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम। इसका लक्षण है—अर्हतों द्वारा निरूपित जीव, अजीव आदि तत्त्वों में रुचि।⁴¹ विशेषावश्यक भाष्य में हाथी के दृष्टांत द्वारा बहुत अच्छी तरह समझाया गया है कि हाथी के एक-एक अवयव को सम्पूर्ण हाथी समझने वाले चक्षुहीन व्यक्तियों की भांति जो अनन्तधर्मात्मक वस्तु के केवल एक धर्म में समस्त वस्तु की प्रतिपत्ति मानता है, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है। हाथी के समस्त अवयवों के समुदायों को हाथी समझने वाले चक्षुष्मान की तरह वस्तु के समस्त पर्यायों के समुदाय को पूर्ण वस्तु मानने वाला सम्यग्दृष्टि होता है।⁴² उसी में बताया गया कि एक वस्तु को जानने वाला सब वस्तुओं को जानता है और सब वस्तुओं को जानने वाला एक वस्तु को जानता है, क्योंकि सब वस्तुएं सर्वमय होती हैं। यद्यपि सम्यग्दृष्टि व्यक्ति सब नहीं जानता, पर वह इस पर श्रद्धा करता है कि 'सर्व सर्वमय' है।⁴³ सम्यक्त्व होने पर भी सबको उसकी सम्यक् प्रतिपत्ति हो, यह आवश्यक नहीं है। इसके विषय में स्पष्ट कहा गया—सम्यक्त्व निश्चित ही आत्मा का एक ऐसा परिणाम है जिससे जीव आदि के स्वरूप का अवबोध होने पर भी किसी-किसी को ही उसकी सम्यक् प्रतिपत्ति होती है, सबको नहीं।⁴⁴

सम्यक्त्व के पर्यायवाची

सम्यक्त्व के सात पर्यायवाची हैं—

1. सम्यग्दृष्टि — अविपरीत प्रशस्त दृष्टि।
2. अमोह — अवितथ आग्रह।
3. शोधि — मिथ्यात्व का अपनयन।
4. सद्भावदर्शन — जिनप्रवचन की उपलब्धि।
5. बोधि — परमार्थ का बोध।
6. अविपर्यय — तत्त्व का निश्चय।
7. सुदृष्टि — प्रशस्त दृष्टि।

बोधि, सुदृष्टि या सम्यग्दर्शन का अविर्भाव तभी होता है, जब

प्रशम, संवेग आदि गुणों की साधना की जाती है वे ये हैं⁴⁵—

1. प्रशम

क्रोध आदि कषायों की शांति। कषाय का उपशमन हर क्षेत्र में परमावश्यक है। जब तक क्रोध भीतर विद्यमान है तब तक कर्तव्याकर्तव्य का विवेक होना अत्यन्त कठिन है। कषाय आंखों पर परदा डाल देता है जिससे कुछ भी सही प्रतीत नहीं होता। कषायों से अन्धा व्यक्ति सारे जगत् को उसी दृष्टि से देखता है। अतः प्रशम की साधना से सम्यग्दृष्टि का आविर्भाव होता है।

2. संवेग

मोक्ष की अभिलाषा। मोक्ष अर्थात् अनन्त आनन्द, अनन्त शांति को पाने की जब उत्कट इच्छा होगी तभी तटस्थ दृष्टि से पदार्थ को देखने की बात होगी अन्यथा शरीर को ही आत्मा मानकर जीते रहने से दृष्टि सम्यक् नहीं होगी।

3. निर्वेद

संसार से विरक्ति—किसी भी शुभ लक्ष्य को पाने हेतु संसार से विरक्त होना आवश्यक है। जब तक आंखों पर सांसारिक मोह का चश्मा है, तब तक तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा होना दुर्लभ है। सांसारिक मोह में तो सारा संसार वैसा ही दिखाई देता है। इसलिए भी मोहनीय कर्म का लक्ष्य, उपशम, क्षयोपशम सम्यक्त्वप्राप्ति के लिए आवश्यक है।

उत्तराध्ययन में भी कहा गया कि संवेग से जीव अनुत्तर धर्म श्रद्धा को प्राप्त होता है। अनुत्तर धर्मश्रद्धा से तीव्र संवेग को प्राप्त होता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता है। नये कर्मों का संग्रह नहीं करता। कषाय की क्षीणता होने से प्रकट होने वाली मिथ्यात्व विशुद्धि कर दर्शन की आराधना करता है। दर्शनविशोधि के विशुद्ध होने पर भी कई जीव उसी जन्म में सिद्ध हो जाते हैं और कुछ उसके विशुद्ध होने पर तीसरे जन्म का अतिक्रमण नहीं करते।⁴⁶

निर्वेद से जीव देव, मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धी कामभोगों में तीव्र ग्लानि को प्राप्त होता है। सब विषयों से विरक्त हो जाता है। सब विषयों से विरक्त होता हुआ वह आरम्भ और परिग्रह का परित्याग करता है। आरम्भ का त्याग करके संसारमार्ग का विच्छेद करता है और सिद्धिमार्ग को प्राप्त करता है।⁴⁷

4. अनुकम्पा

प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव—सभी प्राणियों को आत्मसम समझना सम्यग्दृष्टि की आधारशिला है। अनुकम्पा के परिणामों से ही पक्षपात का भाव छूटता है। किसी एक प्राणी के प्रति ही राग या द्वेष न होकर प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव होना चाहिए। सारे संसार से मैत्री हो। प्रकृति के कण-कण के प्रति मंगलभाव हो।

5. आस्तिक्य

आत्मा, कर्म आदि में विश्वास—आस्तिक्य है सम्यग्दर्शन की नींव। जब तक आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं होगा तब तक एक कदम भी मंजिल की तरफ बढ़ नहीं सकता। आत्मा स्वयं सुख-दुःख की कर्ता है, पुनर्जन्म है और ये सब कर्मानुसार होते हैं। व्यक्ति अपने ही कृत कर्मों का फल भोगता है, आदि इन सिद्धान्तों में विश्वास होना सम्यग्दर्शन की पहली शर्त है।

सम्यक्त्व की साधना करते समय साधनाकाल में वे साधन बनते हैं और फिर बाद में ये ही सम्यक्त्व के लक्षण बन जाते हैं। सम्यक्त्व की पहचान के चिह्न बन जाते हैं।

सम्यग्दर्शन को आगे बढ़ाने के लिए उसके आचार का पालन करना चाहिए।

सम्यक्त्व के आचार

सम्यक्त्व के आठ आचार हैं⁴⁸—

1. निःशंकित

शंका का अर्थ है—संदेह। जिनभाषित तत्त्व के प्रति अंशतः या सर्वतः संदेह न होना निःशंकित है। संदेह दृष्टि को त्यागकर ही किसी क्षेत्र में गति की जा सकती है। ‘संशयात्मा विनश्यति’ की उक्ति के अनुसार संदेह करने वाला विनाश को प्राप्त होता है। अतः सबसे प्रथम शर्त है संदेह त्याग।

2. निष्कांक्षित

बौद्ध, वैशेषिक आदि दर्शन भी युक्ति युक्त हैं, अहिंसा के व्याख्याता हैं, इसलिए ये भी सुन्दर हैं—इस प्रकार अन्यान्य दर्शनों के अभिमत को ग्रहण करने की इच्छा कांक्षा हैं और उसका अभाव निष्कांक्षा है, अपने मार्ग पर ही दृढ़ होना। दो नावों में सवारी नहीं करना। राजपथ

को छोड़कर पगडंडियों पर नहीं चलना। अन्यथा परिणाम क्या होता है यह विदित ही है कि सब छूट जाते हैं। कोई भी मार्ग हाथ में नहीं आता।

3. निर्विचिकित्सा

विचिकित्सा के दो अर्थ हैं—1. धर्म के फल में संदेह, जैसे—इस कष्टमयी साधना का फल होगा या नहीं। 2. जुगुप्सा—इन मुनियों के शरीर पर मैल क्यों हैं? प्रासुक जलस्नान में क्या दोष है? इस प्रकार धर्मफल में संदेह न करना और मैल आदि से घृणा न करना निर्विचिकित्सा है। साधना प्रारंभ करके यदि साधना के फल में संदेह किया तो साधना का क्या अर्थ रह जाता है? अतः संदेह तो त्याज्य ही है चाहे वह मार्ग में हो या साधना के फल में हो। संदेह का विचार आते ही साधना का फल नष्ट हो जाता है। यदि संदेह त्यागकर किसी भी मार्ग पर चरणन्यास कर दिया जाए तो वही मार्ग मंजिल की ओर ले जाता है एवं पुष्पों की पगडंडी बन जाता है।

दूसरा किसी से घृणा न करना। घृणा के भाव आते ही मन की विशुद्धि कम या समाप्त हो जाती है और सम्यक्त्व से व्यक्ति च्युत हो जाता है।

4. अमूढदृष्टि

ऋद्धिसम्पन्न कुतीर्थियों को देखकर भी जिसकी बुद्धि मूढ/विपर्यस्त नहीं होती, वह अमूढदृष्टि है। जब अपने पथ पर चरण बढ़ा दिये तो ऋद्धि-सिद्धि की रोशनी में आंखें क्यों चुंधियाएं? किसी के पास कितनी भी ऋद्धि हो, कोई कितना भी वैभवशाली क्यों न हो, उसके वैभव में दृष्टि न उलझे अपितु एकाग्रता से अपने चुने हुए मार्ग पर ही निश्चयपूर्वक बढ़ते रहना चाहिए।

5. उपवृंहण

जो दर्शन आदि गुणों से सम्पन्न हैं, उन व्यक्तियों के गुणों का उपवृंहण—संवर्धन या संकीर्तन करते हुए कहना—आपका जन्म सुलब्ध है, आप जैसे व्यक्तियों के लिए यह उचित है, यह उपवृंहण है। जो सम्यग्दृष्टि हैं उनकी गुणोत्कीर्तना से दृष्टि का विस्तार होता है एवं अशुभ कर्मों का निर्जरण होता है। उनके गुणों के कीर्तन से स्वयं में भी उन गुणों का आगमन होता है।

6. स्थिरीकरण

धर्ममार्ग से विचलित हो रहे व्यक्तियों को पुनः स्थिर करना स्थिरीकरण है। कोई व्यक्ति किसी कारणवश विचलित हो भी गया, यदि उसे प्रेरणा देकर उसके मार्ग पर उसका स्थिरीकरण कर दिया जाए तो उसका बहुत उपकार होता है और वह सम्यग्दृष्टि बन जाता है। इस प्रकार स्थिरीकरण सम्यक्त्व का आचार है।

7. वात्सल्य

साधर्मिक व्यक्तियों को यथायोग्य आहार, वस्त्र, पानी आदि देना, गुरु, ग्लान तथा शैक्ष साधुओं की विशेष सेवा करना वात्सल्य है। अपने साथ में रहने वाले व्यक्तियों को अपेक्षा होती है परिस्थिति के अनुसार वस्तुओं की, सेवा की। यदि समय पर उचित आहार-पानी व सेवा कर दी जाए तो वह व्यक्ति अपनी साधना में स्थिर होता है व प्रगति करता है। कभी स्वयं को भी आवश्यकता होती है तो खुद को भी सहयोग मिलता है।

8. प्रभावना

तीर्थ की उन्नति में हेतुभूत चेष्टा करना प्रभावना है। अपने तीर्थ की उन्नति करना। स्वयं को जब विवेकदृष्टि प्राप्त हो जाती है तो दूसरों को भी सत्य का अवबोध करवाना अपने जिनशासन की प्रभावना करना है।

इस प्रकार ये बिन्दु सम्यग्दृष्टि की स्थिरता की प्रक्रिया के अन्तर्गत आते हैं। इन सभी बातों पर ध्यान रखने से ही सम्यक्त्व स्थिरता को प्राप्त हो सकता है। अतः ये सम्यक्त्व के आचार कहे जा सकते हैं। दूसरी एक बात और भी है कि सम्यग्दर्शन की स्थिरता के लिए उसके अतिचारों का वर्जन करना होगा जो उसमें दोष लगाते हैं। वे इस प्रकार हैं—

1. शंका — लक्ष्य के प्रति संदेह।
2. कांक्षा — लक्ष्य के विपरीत दृष्टिकोण के प्रति अनुरक्ति।
3. विचिकित्सा — लक्ष्यपूर्ति के साधनों के प्रति संशयशीलता।
4. परपाषण्डप्रशंसा — लक्ष्य के प्रतिकूल चलने वालों की प्रशंसा।
5. परपाषण्डसंस्तव — लक्ष्य के प्रतिकूल चलने वालों का परिचय।

सम्यक्त्व महत्त्वपूर्ण सोपान है जीवन का। सम्यग्दर्शन की स्व-परगम्यता को स्पष्ट करते हुए श्लोकवार्तिक में कहा गया है—

1. सराग व वीतराग दोनों में ही सम्यग्दर्शन सम्भव है। वहां सराग में प्रशमादि लक्षणों के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है और वीतराग में वह केवल चित्तविशुद्धि द्वारा लक्षित होता है।⁴⁹ 2. प्रशमादि गुण एक-एक करके या समुदित रूप से अपनी आत्मा में तो स्वसंवेदनगम्य हैं और दूसरों में काय व वचन व्यवहाररूप विशेष ज्ञापक लिंगों द्वारा अनुमानगम्य हैं। इन प्रशमादि गुणों से सम्यग्दर्शन जान लिया जाता है।⁵⁰ 3. सम्यग्दर्शन के अभाव में वे प्रशमादि गुण मिथ्यादृष्टि जीवों में सम्भव नहीं हैं यदि वहां इनका होना माना जाएगा तो वहां मिथ्यादृष्टिपना सम्भव न हो सकेगा।⁵¹ जिज्ञासा होती है कि किन्हीं मिथ्यादृष्टियों में भी क्रोधादि का तीव्र उदय नहीं पाया जाता है, इसलिए सम्यग्दर्शन की सिद्धि में दिया गया उपरोक्त प्रशमादि गुणों का हेतु व्यभिचारी है? उत्तर मिलता—नहीं हैं, क्योंकि उनके स्वमान्य एकान्त मतों में अनन्तानुबन्धीजन्य तीव्र भाव पाया जाता है। आत्मस्वरूप व अनेकान्तमत में उनमें द्वेष का होना अवश्यभावी है तथा पृथ्वीकायिक आदि की हिंसा करना भी उनमें पाया जाता है।

यह जिज्ञासा हो सकती है कि सम्यग्दर्शन को देखा कैसे जाए? सम्यग्दर्शन प्रत्यक्ष है या प्रशमादि गुण? श्लोकवार्तिक में इसी प्रकार की जिज्ञासा की—यदि प्रशमादि गुण अपनी आत्मा में स्वसंवेदनगम्य है तो तत्त्वार्थश्रद्धान का सम्यग्दर्शन स्वसंवेदनगम्य क्यों न हो जाए। क्यों उसे प्रशमादि के द्वारा अनुमान करने की आवश्यकता पड़े। क्योंकि आत्मा के रूप से दोनों में कोई भेद नहीं है। पहले स्वसंवेदन से प्रशमादि को जानें और फिर उन पर से सम्यग्दर्शन का अनुमान करें, ऐसा व्यर्थ का परस्परश्रय क्यों कराया जाए? समाधान मिला—यह कहना सार रहित है। क्योंकि दर्शनमोह के उपशमादि सारविशिष्ट आत्मस्वरूप तत्त्वार्थश्रद्धान का स्वसंवेदन से निश्चय नहीं हो सकता। परन्तु प्रशम संवेग आदि गुणों की भांति आस्तिक्य गुण स्वसंवेद्य होता हुआ उसका अभिव्यंजक हो जाता है। श्रद्धान के फलरूप होने के कारण ये चारों प्रशमादि गुण उस श्रद्धान से कथंचित् भिन्न हैं। फल और फलवान् की अभेद विवक्षा करने पर आस्तिक्यगुण ही तत्त्वार्थ श्रद्धान है।

इस प्रकार उस आस्तिक्य की भांति उस तत्त्वार्थ श्रद्धान की स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सिद्धि हो जाती है।

सम्यग्दर्शन का आविर्भाव होना अत्यन्त अपेक्षित है। उसके परिणाम को बताते हुए कहा गया—दर्शन सम्पन्नता से जीव संसार-पर्यटन के हेतुभूत मिथ्यात्व का उच्छेद करता है, क्षायिक सम्यक् दर्शन को प्राप्त करता है। उसके आगे उसकी प्रकाश शिखा बुझती नहीं। वह अनुत्तर ज्ञान और दर्शन से अपने आपको संयोजित करता हुआ, उन्हें सम्यक् प्रकार से आत्मसात् करता हुआ विहरण करता है।⁵² मिथ्यात्व से प्रतिक्षण सघन कर्मबंध होता है, जिसका परिणाम है—जन्म, जरा और मृत्यु वाले संसार में परिभ्रमण। मिथ्यात्व से प्रतिक्रमण कर सम्यक्त्व में स्थित होने का परिणाम है—देवत्व, मनुष्यत्व की प्राप्ति और अंत में मोक्ष।⁵³

इस प्रकार सम्यक् दर्शन यानि विवेकदृष्टि को प्राप्त करके ही मोक्षमार्ग पर कदम बढ़ाया जा सकता है एवं शाश्वत सुख एवं आनन्द को प्राप्त किया जा सकता है।

सम्यग्ज्ञान

दर्शन का विकास अस्तित्व और उपयोगिता के आधार पर होता है। अस्तित्व के केन्द्र में होने से तत्त्वविद्या का प्रणयन होता है। उपयोगिता शिवतत्त्वाभिमुखी चिन्तनधारा का केन्द्र बनती है। अस्तित्व की उपयोगिता का अंकन चेतना ही कर सकती है। चेतना के लिए हेय और उपादेय के निर्णय का आधार बनता है—ज्ञान। ज्ञान के बिना उपाय और उपादेय का निर्णय नहीं हो सकता। अतः आचार से पूर्व ज्ञान की भूमिका है। अज्ञानी व्यक्ति हेय और उपादेय का विवेक नहीं कर पाता तो वह किस प्रकार हेय का प्रत्याख्यान करेगा। अतः आचार का आधार है ज्ञान। ‘ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः’—इस बारे में प्रायः सभी दार्शनिकों का ऐकमत्य ज्ञान की उपयुज्यता का द्योतक है। ज्ञान के निर्णय के अभाव में ज्ञेय की प्रतिष्ठा संभव नहीं है। ज्ञेय की प्रतिष्ठा के अभाव में आचारमीमांसा असंभव है। अतः ज्ञान को मेरुदंड कहा जा सकता है। ज्ञान की वास्तविकता के विषय में कोई वैमत्य नहीं है। ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है—जैन दर्शन में। आगम युग में रचित वाङ्मय हो या दर्शन युग में रचित ग्रंथ हों, दर्शन की प्रत्येक शाखा पर ज्ञान का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। अनेक आगमग्रन्थों का प्रारंभ ज्ञानसूत्र से

होता है।⁵⁴ उत्तराध्ययनसूत्र में मोक्षमार्ग की प्ररूपणा में ज्ञेय से पूर्व ज्ञान का निर्देश उपलब्ध होता है।⁵⁵ विभिन्न निर्युक्तियों एवं भाष्यों में उपोद्घात के रूप में ज्ञान की महत्ता का निरूपण है। कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने भी ज्ञेय से पूर्व ज्ञान की स्थापना की है।

ज्ञानविचार दार्शनिक विचारों का मेरुदंड है। सत्य क्या है? उसका स्वरूप क्या है?.....आदि सब प्रश्नों के उत्तर का समाधान ज्ञान में है। ज्ञान प्रकाश करता है। उस प्रकाश में तीन तत्त्व प्रकाशित होते हैं—हेय, ज्ञेय और उपादेय। इसके पश्चात् आचार प्रारंभ होता है। सत्य के आचरण से पूर्व सत्य का ज्ञान अपेक्षित है इसीलिए श्रमण महावीर ने आचार की अपेक्षा ज्ञान पर अधिक बल दिया। ज्ञान के बिना चारित्रिक गुणों का विकास नहीं होता।⁵⁶

ज्ञान चेतना से उपजा संबोध है। लोक में बहुत पदार्थ बिना ज्ञान के होते हैं। उनमें जानने, समझने या अनुभव करने का सामर्थ्य नहीं होता, जैनदर्शन उन्हें 'अजीव' संज्ञा देता है। अजीव में ज्ञान नहीं होता पर कोई भी जीव सर्वथा ज्ञानशून्य नहीं होता। आकाश मेघाच्छन्न हो जाए, पर दिन-रात का विभाग करने वाले सूर्य और चन्द्रमा की प्रभा अनावृत रहती है। इसी प्रकार सघनतम कर्मस्कन्धों के द्वारा आवृत चेतना वाले न्यूनतम विकसित प्राणियों में भी ज्ञान का अल्पतम अंश—अनन्तवां भाग नित्य उद्घाटित रहता है।⁵⁷

जैनदर्शन में ज्ञान का विचार आत्मा को केन्द्र में रखकर हुआ है। अतः ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। ज्ञाता है आत्मा। इन्द्रियां, मन आदि ज्ञाता नहीं, ज्ञान के करण हैं। घर में बैठा हुआ व्यक्ति दीवार आदि के व्यवधान के कारण बाह्य वस्तुओं को देख नहीं पाता। उन्हें देखने के लिए वह खिड़की, झरोखे आदि को माध्यम बनाता है, पर इतना होने से खिड़की आदि को ज्ञाता नहीं माना जा सकता। ठीक इसी प्रकार सघन कर्मों के व्यवधान के कारण आत्मा जब प्रमेय का साक्षात् ज्ञान नहीं कर पाता तब उसे कर्मवलय में बने हुए विवर सदृश इन्द्रिय, मन आदि करण, सामग्री का आलम्बन लेना पड़ता है। ये करण ज्ञान प्रयोग में उपकारक है, ज्ञान के स्वामी नहीं। जैनमतानुसार इन्द्रियां पौद्गलिक हैं, अचेतन हैं अतः ज्ञाता नहीं हो सकतीं। अतः हमें ज्ञान को इसी परिप्रेक्ष्य में देखना होगा, जिससे सारी बात स्पष्ट हो जाएगी। ज्ञान को परिभाषित करते हुए कहा गया⁵⁸—

जेण तच्चं विबुज्जेज्ज जेण चित्तं गिरुज्जदि ।
 जेण अत्ता विसुज्जेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥
 जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि ।
 जेण मेत्ती पभावेज्ज तं नाणं जिणसासणे ॥

अर्थात् जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाए, जिससे मन का व्यापार रुक जाए, जिससे आत्मा विशुद्ध हो, जिनशासन में उसे ही ज्ञान कहा गया है। जिससे राग से विरक्त हो, जिससे श्रेयस् मार्ग में अनुरक्त हो, जिससे सर्व प्राणियों में मैत्री प्रवर्तित वही जिनमत में ज्ञान कहा गया है। ज्ञान की उक्त परिभाषा सम्यग्ज्ञान का स्वरूप दर्शाती है। प्रस्तुत परिभाषा के केन्द्रबिन्दु में आत्मा परिलक्षित होता है। आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) से ही वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जा सकता है। आत्मा में पहुंचकर ही मन का व्यापार रुक जाता है, आत्मा को जानकर ही राग से विरक्त और श्रेयस् यानि मोक्षमार्ग में रक्त हुआ जा सकता है। आत्मतुला को पहचानकर ही सभी प्राणियों में मैत्रीभाव हो सकता है। अतः आत्मज्ञान ही अपेक्षित है। उसके बिना सर्व आगमज्ञान अकिंचित्कर है। मोक्षपाहुड में कहा गया—

जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदी बहुविहे य चारित्ते ।
 तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीयं ।⁵⁹

आत्मस्वभाव से विपरीत बहुत प्रकार के शास्त्रों का पढ़ना और बहुत प्रकार के चारित्र का पालन भी बाल श्रुत, बालाचरण है।

आत्मज्ञान की शर्त है वैराग्य। धीर और वैराग्यपरायण व्यक्ति तो अल्पमात्र शास्त्र पढ़ा हो तो भी मुक्त हो जाता है, परन्तु वैराग्यविहीन सर्व शास्त्र भी पढ़ले तो भी मुक्त नहीं होता—

धीरो बइरागयरो थोवं हि य सिक्खिदूण सिज्जदि हु ।
 ण हि सिज्जहि वेरग्गविहीनो पढिदूण सव्वसत्था ।⁶⁰

सर्वशास्त्र आत्मसंगान करते हैं। उनकी दौड़ आत्मा तक है। वहां पहुंचकर सब मौन हो जाते हैं। विद्वान् पुरुषों ने आत्मध्यान में प्रेम होना विद्वत्ता का उत्कृष्ट स्थल बताया है और आत्मध्यान में प्रेम न होकर केवल अनेक शास्त्रों को पढ़ लेना संसार कहा है।

आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलम् ।
 अशेषशास्त्रशास्तृत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः ॥⁶¹

आत्मज्ञान कहें या भेदज्ञान अथवा विवेकबुद्धिः, सारी बातें एक

सी हैं। शरीर से ऊपर उठकर ही आत्मा के बारे में सोचा जा सकता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में यही पुष्टि की गई है—

जो णवि जाणदि अप्पं णाणसरुवं सररीरदो भिण्णं।

सो णवि जाणदि सत्थं आगमपाढं कुणंतो वि।⁶²

जो ज्ञानस्वरूप आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानता, वह आगम का पठन.पाठन करते हुए भी शास्त्र को नहीं जानता।

शास्त्र पढ़कर भी आत्मा के बारे में जाना जा सकता है। पर जब तक अनुभूति नहीं होती तब तक कोरा शास्त्रज्ञान भी बहुत उपयोगी नहीं बनता। ‘आत्मा व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गल का परिणाम नहीं करता है’ यह बात निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर जो जानता है, वह ज्ञानी होता है। परिज्ञान मात्र से नहीं।

पुद्गलपरिणाम.....व्याप्यव्यापकभावेन.....न करोति.....
.... इति यो जानाति.....निर्विकल्पसमाधौ स्थितः सन् स ज्ञानी भवति। न च परिज्ञान मात्रेणैव।⁶³

आगमज्ञान दीपक होता है जिसके प्रकाश में व्यक्ति अपनी राह खोजता है और उस पर चलता है। पर जब तक हेयोपादेय का ज्ञान सम्यक् रूप से नहीं होता तब तक आगम भी उसके लिए कुछ नहीं कर सकता। समयसार में बहुत अच्छा लिखा है—

जीवस्यापि परमागमधारेण सकलपदार्थज्ञेयाकार-करालम्बित-विशदैकज्ञानरूपं स्वात्मानं जानतोऽपि ममात्मैवोपादेय इति निश्चयरूपं यदि श्रद्धानं नास्ति तदास्य प्रदीपस्थानीय आगमः किं करोति न किमपि।⁶⁴

परमागम के आधार से, सकल पदार्थों के ज्ञेयाकार से अवलम्बित विशद एक ज्ञानरूप निज आत्मा को जानकर भी यदि ‘मेरी यह आत्मा ही उपादेय है’ ऐसा निश्चयरूप श्रद्धान न हुआ तो उस जीव को प्रदीपस्थानीय यह आगम भी क्या करे।

द्रव्यों और तत्त्वों की जानकारी भी सम्यग्ज्ञान है। ये आवश्यक हैं। पर इनको जानने की पृष्ठभूमि में भी आत्मा ही है। इसी बात का स्पष्टीकरण नयचक्र में बहुत सुन्दर रूप से किया गया है—

णियदव्वजाणणहं इयरं कहियं जिणेहिं छहव्वं।

तम्हा परछहव्वे जाणगभावो ण होइ सण्णाणं।⁶⁵

जिनेन्द्र भगवान् ने निजद्रव्य को जानने के लिए ही अन्य छह द्रव्यों का कथन किया है, अतः मात्र उन पररूप छः द्रव्यों का जानना

सम्यग्ज्ञान नहीं है। प्रश्न होता है कि जब वह सम्यग्ज्ञान नहीं है तो शास्त्रों में उनका वर्णन क्यों? शास्त्रों का प्रयोजन क्या हो सकता है? प्रश्न का समाधान मिलता है—

प्रयोजनं तु व्यवहारेण षड्द्रव्यादिपरिज्ञानम्, निश्चयेन निजनिरंजन—शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नं. परमानन्दैकलक्षणसुखामृतर—सास्वादनरूपं स्वसंवेदनज्ञानम्।⁶⁶ अर्थात् इस शास्त्र का प्रयोजन व्यवहार से तो षट्द्रव्य आदि का परिज्ञान है और निश्चय से निजनिरंजन—शुद्धात्मसंवित्ति से उत्पन्न परमानन्द रूप एक लक्षण वाले सुखामृत के रसास्वादनरूप स्वसंवेदन ज्ञान है।

सारा विचार करने पर यह बात सामने आती है कि आत्मज्ञान के सिवाय दूसरे ज्ञान की क्या अपेक्षा है? जो संसारी व्यक्ति कर रहा है, वह ज्ञान क्यों करे? जो अब तक किया, वह सारा व्यर्थ गया? फिर से सारी अपेक्षाएं क्यों? इत्यादि अनेक प्रश्न व दुविधाएं जन्म लेती हैं। इनका क्या हो समाधान? समयसार टीका में जिज्ञासु की जिज्ञासा व समाधान दोनों ही प्रस्तुत हैं—

हे भगवन्! धर्मास्तिकायोऽयं जीवोऽयमित्यादिज्ञेयतत्त्वविचारकाले क्रियमाणे यदि कर्मबन्धो भवतीति तर्हि ज्ञेयतत्त्वविचारो वृथेति न कर्तव्यः।

नैवं वक्तव्यं। त्रिगुप्तिपरिणतनिर्विकल्पसमाधिकाले यद्यपि न कर्तव्यस्तथापि तस्य त्रिगुप्तिध्यानस्याभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा आगमभाषया पुनः मोक्षमुपादेयं कृत्वा सरागसम्यक्त्वकाले विषयकषायवंचनार्थं कर्तव्यः।⁶⁷

प्रश्न—हे भगवन्! ‘यह धर्मास्तिकाय है, यह जीव है’ इत्यादि ज्ञेयतत्त्व के विचारकाल में किये गये विकल्पों से यदि कर्मबन्ध होता है तो ज्ञेयतत्त्व का विचार करना वृथा है, इसलिए वह नहीं करना चाहिए?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना चाहिए। यद्यपि त्रिगुप्तिगुप्त—निर्विकल्पसमाधि के समय वह नहीं करना चाहिए तथापि उस त्रिगुप्तिरूप ध्यान का अभाव हो जाने पर शुद्धात्म को उपादेय समझते हुए या आगमभाषा में एकमात्र मोक्ष को उपादेय करके सरागसम्यक्त्वकाल में विषय.कषाय से बचने के लिए अवश्य करना चाहिए। इससे जिज्ञासा समाहित हो जाती है। अधिक समय व्यक्ति निर्विकल्प नहीं रह कसता। ज्यादा अवस्था सविकल्प की होती है। अतः इनका चिन्तन अनिवार्य है

एवं विषय-कषाय से ऊपर उठता है। इसलिए सारी दुविधाओं का अन्त हो जाता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि निश्चय में तो आत्मज्ञान ही ज्ञान है। व्यावहारिक ज्ञान की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता। वह ही नैश्चयिक ज्ञान का साधन बनता है। अतः निश्चय और व्यवहार—दोनों ही सत्य हैं।

सम्यक्चारित्र

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान के पश्चात् जो करणीय है, उसका वर्णन किया जा रहा है। कोई भी बात जानी, उस पर श्रद्धा की, पर यदि उसका प्रयोग नहीं किया तो जाना हुआ व्यर्थ हो सकता है। श्रद्धा किया हुआ व जाने हुए को अपने प्रयोग में लेना चारित्र कहलाता है। ज्ञान, दर्शन के साथ चारित्र को जोड़ देने से त्रिपदी, रत्नत्रयी बनती है। अतः चारित्र का वर्णन किया जा रहा है।

पंचाध्यायी में लिखा है—

चरणं क्रिया। चरणं वाक्कायचेतोभिव्यापारः शुभकर्मसु।⁶⁸ तत्त्वार्थ की प्रतीति के अनुसार क्रिया करना चरण कहलाता है अर्थात् मन, वचन, काय से शुभ कर्मों में प्रवृत्ति करना चारित्र है। चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्⁶⁹—जो आचरण करता है अथवा जिसके द्वारा आचरण किया जाता है अथवा आचरण करना मात्र चारित्र है।

चरति याति तेन हितप्राप्तिं अहितनिवारणं चेति चारित्रम्। चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्रं सामायिकादिकम्⁷⁰—जिससे हित को प्राप्त करते हैं और अहित का निवारण करते हैं उसको चारित्र कहते हैं। अथवा सज्जन जिसका आचरण करते हैं, उसको चारित्र कहते हैं, जिसके सामायिकादि भेद हैं।

प्रस्तुत कुछेक परिभाषाएं यही स्पष्ट करती हैं कि हितपरक आचरण करना चारित्र है। हित आत्मा के द्वारा आत्मा का होता है अतः आत्मा में रमना ही चारित्र है। प्रवचनसार टीका में कहा गया—

स्वरूपे चरणं चारित्रम्। स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः।⁷¹

स्वरूप में रमना चारित्र है। स्वसमय में अर्थात् स्वभाव में प्रवृत्ति करना इसका अर्थ है। यह आत्मा का स्वभाव होने से धर्म है। चारित्र आत्मा का स्वरूप है क्योंकि समस्त पापयुक्त मन, वचन, काय के योगों

के त्याग से सम्पूर्ण कषायों से रहित अतएव, निर्मल परपदार्थों से विरक्ततारूप चारित्र होता है।

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।

सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्।।⁷²

चूंकि चारित्र आत्मा का स्वरूप है, अतः अपने में ही निरन्तर चरते रहना होगा—

स्वस्मिन्नेव खलु ज्ञानस्वभावे निरन्तरचरणाच्चारित्रं भवति।⁷³

अपने में ही अर्थात् ज्ञानस्वभाव में निरन्तर चरने से चारित्र होता है। इसी बात को पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में पुष्ट किया गया है—

जीवस्वभावनियतचारित्रं भवति। तदपि कस्मात्। स्वरूपे चरणं चारित्रमिति वचनात्।⁷⁴

जीवस्वभाव में अवस्थित रहना ही चारित्र है। क्योंकि स्वरूप में चरण करने को चारित्र कहा है। आत्मरमण कहें या साम्यभाव में रमण कहें, एक ही है। समता में रहना भी चारित्र है—

चरितं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्धिद्वो।

मोहक्खोहविहीनो परिणामो अप्पणो हु समो।।⁷⁵

चारित्र वास्तव में धर्म है। जो धर्म है वह साम्य है, ऐसा कहा है। साम्य मोह क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम है। नयचक्र में चारित्र के और भी पर्याय प्राप्त होते हैं

समदा तह मज्झत्थं सुद्धो भावो य वीयरायत्तं।

तह चारित्तं धम्मो सहाव आराहणा भणिया।।⁷⁶

समता, माध्यस्थ्य, शुद्धोपयोग, वीतरागता, चारित्र, धर्म, स्वभाव की आराधना—ये सब एकार्थवाची हैं।

वीतरागता, समता, शुद्धोपयोग—इनकी प्राप्ति एक दिन में ही नहीं हो जाती। इन सबकी प्राप्ति के लिए सघन पुरुषार्थ अपेक्षित है। उसके लिए क्रमशः चलना होगा। उस अपेक्षा से चारित्र के पांच प्रकार भी मिलते हैं—

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपरायथाख्यातमिति चारित्रम्।⁷⁷ सामायिक, छेदो— पस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात। इनके अलावा राजवार्तिक में चारित्र के एक से लेकर चार तक भेद भी किये गये हैं—

चारित्रनिर्देशः.....सामान्यादेकम्, द्विधा बाह्याभ्यन्तरनिवृत्तिभेदात्,

त्रिधा औपशमिकक्षायिक. क्षायोपशमिकविकल्पात्, चतुर्धा चतुर्यमभेदात् पंचधा सामायिकादिविकल्पात्। इत्येवं संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पं च भवति परिणामभेदात्।⁷⁸

इसी ग्रन्थ में आगे कहा गया है—

यदवोचाम चारित्रम्, तच्चारित्रमोहोपशमक्षयक्षयोपशमलक्षणात्म-
विशुद्धिलब्धिसामान्यापेक्षया एकम्। प्राणिपीडापरिहारेन्द्रियदर्पनिग्रह-
शक्तिभेदाद् द्विविधम्। उत्कृष्टमध्यमजघन्यविशुद्धिप्रकर्षापकर्षयोगा-
त्तृतीयमवस्थानमनुभवति—विकलज्ञानविषयसरागवीतराग—सकलाव-
बोधगोचरसयोगायोगविकल्पाच्चातुर्विध्य.मप्यश्नुते।⁷⁹

सामान्य रूप से एक प्रकार का चारित्र है अर्थात् चारित्रमोह के उपशम, क्षय क्षयोपशम से होने वाली आत्मविशुद्धि की दृष्टि से चारित्र एक है। बाह्य व आभ्यन्तर निवृत्ति अथवा व्यवहार व निश्चय की अपेक्षा दो प्रकार का है। औपशमिक, क्षायिक और क्षयोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है अथवा उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य विशुद्धि के भेद से तीन प्रकार का है। चार प्रकार से यति की दृष्टि से या चतुर्यम की अपेक्षा से चार प्रकार का है अथवा छद्मस्थों का सराग और वीतराग तथा सर्वज्ञों का सयोग और अयोग इस तरह चार प्रकार है। सामायिक आदि के भेद से पांच प्रकार का है। इसी तरह विविध निवृत्ति रूप परिणामों की दृष्टि से संख्यात, असंख्यात और अनन्त विकल्प रूप होता है। हम पांच प्रकार के चारित्र का वर्णन करेंगे। अनुयोगद्वार में भी पांच चारित्र का वर्णन मिलता है⁸⁰—

1. सामायिक चारित्र

विशेषावश्यक भाष्य में सामायिक को पारिभाषित करते हुए कहा—सावज्जजोगविरइ त्ति.....।⁸¹ अर्थात् सर्वथा सावद्य योग की विरति सामायिक है। इसी में आगे आत्मा को सामायिक कह दिया गया—

सामाइयभावपरिणइभावाओ जीव एव सामाइयं।⁸²

इसी बात को आवश्यक निर्युक्ति में इस प्रकार कहा—

आया खलु सामाइयं, पच्चक्खायंतओ हवइ आया।⁸³

शान्त्याचार्य ने उत्तराध्ययन वृत्ति में राग.द्वेष से मुक्ति होने पर ही सामायिक की बात कही है। वे कहते हैं कि अपने और पराये का भेद किये बिना प्रवृत्ति करना सामायिक है। सर्व सावद्य योग का परिहार करने पर ही सामायिक हो सकती है। राग.द्वेष से रहित चित्त का

परिणाम सम है, उसमें रहना सामायिक है।⁸⁴

समता सामायिक है। विशेषाशयक भाष्य में दो प्रकार सामायिक चारित्र के निर्दिष्ट हैं—

.....सामाङ्ग्यं दुहा तं च।

इत्तरमावकहं ति य पढमं पढमंतिमजिणाणं।⁸⁵

तित्थेसुमणारोवियवस्स सेहस्स थोवकालियं।

सेसाणमावहियं तित्थेसु, विदेहयाणं च।⁸⁶

सामायिक चारित्र के दो भेद हैं—इत्वरिक—स्वल्पकालीन और यावत्कथिक—आजीवन। इत्वरिक सामायिक चारित्र भरत और ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अन्तिम तीर्थकर के समय के उन शैक्ष साधुओं के तब तक होता है जब तक महाव्रतों का विस्तार से आरोपण नहीं किया जाता। महाविदेह क्षेत्र में सब साधुओं तथा शेष बावीस तीर्थकरों के शासन में यावत्कथिक सामायिक चारित्र होता है।

2. छेदोपस्थापनीय चारित्र

छेद और उपस्थापन से छेदोपस्थापनीय शब्द बना है। इसको पारिभाषित इस प्रकार किया गया—

परियायस्य य छेओ जत्थोवद्वावणं परसुं च।

छेओवद्वावणमिह.....।⁸⁷

जिसमें सामायिक चारित्र की पर्याय का छेद और महाव्रतों का पुनः उपस्थापन किया जाता है, वह छेदोपस्थापनीय चारित्र है। इसके प्रकारों का अनुयोगद्वार में नामोल्लेख किया गया है—

छेओवद्वावणियचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते तं जहा—साइयारे निरइयारे य।⁸⁸

उन्हीं दो प्रकारों का थोड़ा वर्णन विशेषावश्यक भाष्य में किया गया—

सेहस्स निरइयारं तित्थंतरसंकमे च तं होज्जा।

मूलगुणघाइणो साइयारमुभयं च ठियकप्पे।⁸⁹

छेदोपस्थापनीय चारित्र के दो प्रकार हैं—

1. निरतिचार—यह दो अवस्थाओं में होता है

* शिष्यों को विस्तार से महाव्रतों की उपस्थापना दी जाने पर।

* एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाने पर।

2. सातिचार—मूल गुण का घात हो जाने पर पुनः महाव्रतों का आरोपण करना सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है।

3. परिहारविशुद्धि चारित्र

परिहारेण विसुद्धं सुद्धो वा तओ जहिं विसेसेण।

तं परिहारविसुद्धं परिहारविसुद्धियं नाम।^{१०}

परिहार नामक तपविशेष के द्वारा शुद्धि प्राप्त करना परिहारविशुद्धि चारित्र है। परिहारविशुद्धि चारित्र के दो प्रकार हैं—परिहारविसुद्धियं—चरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—निव्विसमाणे य निव्विड्ढकाइए य।^{११}

विशेषावश्यक भाष्य में इसकी विधि भी निर्दिष्ट की गई है—

तं दुविगप्पं निव्विसमाणं—निव्विड्ढकाइयवसेणं।

परिहारयाणुपरिहारियस्स कप्पड्डियस्स व य।^{१२}

इसी की वृत्ति में प्राप्त होता है—

नवको गणं इदं प्रतिपद्यते, तद्यथा—चत्वारः परिहारिकाः, चत्वारश्चानुपरिहारिकाः, एकस्तु कल्पस्थितः। तत्र परिहारिकाणां तदासेवकत्वादिदं निर्विशमानकमुच्यते, अनुपरिहारिकाणां कल्पस्थितस्य च विहितवक्ष्यमाणतपसां निर्विष्टकायिकमभिधीयते।^{१३}

नौ साधु इस तप को प्रारंभ करते हैं। उनमें एक कल्पस्थित, चार पारिहारिक और चार अनुपारिहारिक होते हैं। वर्तमान में जो पारिहारिक मुनि परिहार तप करते हैं, वे निर्विशमान कहलाते हैं। जो परिहार तप कर चुकते हैं और वर्तमान में सेवा में नियुक्त होते हैं, वे निर्विष्टकायिक कहलाते हैं।

परिहार तप का अपना क्रम होता है। वह इस प्रकार है—

गिम्ह-सिसिर-वासासुं चउत्थयाईणि बारसंताइं।

अड्ढापक्कंतीए जहण्णमज्झिमउक्कोसयतवाणं।^{१४}

	ग्रीष्म	शिशिर	वर्षा
जघन्य	उपवास		बेला
	तेला		(चतुर्थ भक्त)
			(षष्ठभक्त)
			(अष्टमभक्त)
मध्यम	बेला	तेला	चोला
उत्कृष्ट	तेला	चोला	पंचोला

परिहार तप की आहार.विधि इस प्रकार है—

सेसा उ निययभत्ता पायं भत्तं च ताणमायामं ।

होइ नवण्हं वि नियमा न कप्पए सेसयं सव्वं ।।⁹⁵

अनुपारिहारिकः—कल्पस्थिताः पंचापि प्रायो नियतभक्ता नित्यभोजिनो भवन्ति । प्रायो ग्रहणाद् निजेच्छया कदाचिदुपवासमपि कुर्वन्ति । भक्तं च तेषां सर्वदैवाऽनुपारिहारिककल्पस्थितानां पारणके परिहारिकाणां च सर्वेषामाचाम्लमेव भवति । शेषं तु विकृतिलेपकृदादिकं वस्तु सर्वं नवानामपि नियमाद् न कल्पते ।⁹⁶

अनुपारिहारिक और कल्पस्थित प्रायः नित्यभोजी होते हैं । वे स्वेच्छा से कभी-कभी उपवास कर लेते हैं । वे प्रतिदिन तथा पारिहारिक पारणे के दिन आयम्बिल करते हैं । उनमें से कोई भी साधु विकृति या लेपकृत वस्तु का प्रयोग नहीं करते हैं ।

पारिहारिकविशुद्धि का कालमान अठारह महीने है । पारिहारिक, अनुपारिहारिक और कल्पस्थित—तीनों में से प्रत्येक के छह-छह महीने का तप होता है ।⁹⁷

परिहार तप का कालमान समाप्त होने पर कुछेक मुनि पुनः तप को स्वीकार करते हैं । कुछेक जिनकल्प को स्वीकार करते हैं । कुछेक संघ में प्रवेश कर लेते हैं । इसलिए पारिहारिक तप स्थितकल्प की अवस्था में होता है । वह प्रथम और अन्तिम तीर्थकर के समय में ही होता है ।

4. सूक्ष्मसंपराय चारित्र

सूक्ष्मसंपराय चारित्र को पारिभाषित करते हुए कहा गया—

कोवाइ संपराओ तेण जओ संपरीइ संसारं ।

तं सुहुमसंपरायं, सुहुमो जत्थावसेसो सो ।।⁹⁸

क्रोध आदि कषाय संपराय है क्योंकि जीव उनसे संसार में भ्रमण करता है । जहां सूक्ष्म कषाय (लोभ) अवशेष रहता है, वह सूक्ष्मसंपराय चारित्र है ।

दूसरी और आवश्यक चूर्णि में राग शेष रहने की अवस्था को सूक्ष्मसंपराय चारित्र माना गया है—

सुहुमो अस्य रागः सुहुमसंपरायः ।⁹⁹

आवश्यकनिर्युक्ति में इसे इस रूप में पारिभाषित किया गया—

लोभाणुं वेअंतो जो खलु उवसामओ व खवगो वा ।

सो सुहुमसंपराओ अहक्खाया ऊणओ किंची ।।¹⁰⁰

उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी में आरूढ़ साधक सूक्ष्म लोभाणुओं का वेदन करता है, उस समय की चारित्रिक स्थिति को सूक्ष्मसंपराय चारित्र कहा जाता है। यह यथाख्यात चारित्र से कुछ न्यून होता है।

विशेषावश्यकभाष्य में भी श्रेणी सम्बन्धी परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

दंसणमोहाईओ भण्णइ अनियट्टिवायरो परओ ।

.....जाव उ सेसो संजलणलोभ संखेज्जभागो त्ति ।।

तदसंखेज्जभागं समए समए समेइ एक्केक्कं ।

अंतोमुहुत्तमेत्तं तस्सासंखेज्जभागं पि ।।¹⁰¹

दर्शनमोह के अतीत हो जाने पर जब तक संज्वलन लोभ का संख्याततम भाग शेष रहता है, तब तक अनिवृत्तिबादर गुणस्थान रहता है। श्रेणिआरूढ़ मुनि संज्वलन के संख्याततम भाग के असंख्य भाग करता है। उन असंख्य भागों को एक.एक समय में उपशान्त या क्षीण करता है, तब अन्तर्मुहूर्त्त वाला सूक्ष्मसंपराय चारित्र प्राप्त होता है।

सूक्ष्मसंपराय चारित्र के दो भेद कहे गये हैं संक्लिश्यमान और विशुद्धयमान। इन भेदों का कारण है विशुद्ध और संक्लिष्ट परिणाम। यह चारित्र श्रेणी आरोहण के समय विशुद्धयमान होता है। उपशांतमोह गुणस्थान से गिरते समय वह संक्लिश्यमान होता है।¹⁰²

5. यथाख्यात चारित्र

यथाख्यात चारित्र को पारिभाषित करते हुए कहा गया

अह सदो जाहत्थे अङ्गोऽभिविहीए कहियमक्खायं ।

चरणकसायमुदितं तमहक्खायं जहक्खायं ।।¹⁰³

अर्हत् द्वारा प्रस्तुत चारित्र का जो स्वरूप प्रतिपादित है, उसका अतिक्रमण न करना यथाख्यात है।

दूसरी ओर कहा गया—

अविद्यमानकषायं क्षपितोपशमितकषायावस्थाभावि । इह चोपशमितकषायावस्थायामकषायत्वं कषायकार्याभावात्, यथाख्यातम् अर्हत्कथितस्वरूपानतिक्रमवत् ।¹⁰⁴ जब क्रोध, मान, माया और लोभ सर्वथा उपशांत या क्षीण हो जाते हैं, उस समय की चारित्र स्थिति को यथाख्यात चारित्र कहा जाता है। यथाख्यात चारित्र के दो प्रकार

है—प्रतिपाती और अप्रतिपाती।¹⁰⁵ गुणस्थान के आधार पर यथाख्यात चारित्र के अधिकारी दो वर्गों में विभक्त हैं—

1. छद्मस्थ — उपशांतमोह और क्षीणमोहगुणस्थानवर्ती ।
2. केवली — सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थानवर्ती ।
अकसायं अहकषायं, छउमत्थस्स जिणस्स वा।¹⁰⁶

छद्मस्थस्य उपशान्तक्षीणमोहाख्यगुणस्थानद्वयवर्तिनः ।

केवलिनः सयोग्ययोगिगुणस्थानद्वयस्थायिनः ।।¹⁰⁷

कषाय चारित्र.प्राप्ति में बाधा है। चारित्रप्राप्ति के लिए कषाय का विलय आवश्यक है

खयओ वा समओ वा खओवसमओ व तिण्णि लब्भन्ति ।

सुहुमाहकषायाइं खयओ समओ व नण्णत्तो ।।¹⁰⁸

सामायिकच्छेदोपस्थापनीय.परिहारविशुद्धिकलक्षणान्याद्यानि त्रीणि चारित्राणि श्रेणिद्वयादन्यत्र कषायक्षयोपशमात् पूर्वप्रतिपन्नानि प्रतिपद्यमानानि च लभ्यन्ते, अनिवृत्तिबादरस्य पुनरुपशमश्रेणी तदुपशमात् पूर्वप्रतिपन्नानां तेषां लाभः। क्षपकश्रेणौ तु क्षयादिति। सूक्ष्मसंपराययथाख्यातचारित्रे तूपशमश्रेणौ कषायोपशमात्, क्षपकश्रेणौ तु तत्क्षयाल्लभ्येते।¹⁰⁹

सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि—ये तीनों चारित्र श्रेणी आरोहण से पूर्व कषाय के क्षयोपशम से प्राप्त होते हैं। अनिवृत्ति गुणस्थान में उपशमश्रेणी की अपेक्षा कषाय के उपशम से और क्षायिकश्रेणी की अपेक्षा कषाय के क्षय से प्राप्त होते हैं। सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र उपशमश्रेणी की अपेक्षा कषाय के उपशम से तथा क्षायिकश्रेणी की अपेक्षा कषाय के क्षय से प्राप्त होते हैं। आवश्यक चूर्ण में भी यही बात समर्थित की गई है।

उदय प्राप्त कषाय का क्षय तथा अनुदित कषाय का उपशम होने पर क्षयोपशम चारित्र प्राप्त होता है। इसमें संज्वलनचतुष्क के देशघाती स्पर्धकों का उदय व नोकषायन का यथासंभव उदय रहता है।

व्यक्ति छद्मस्थ होता है। छद्मस्थावस्था में वह असुरक्षित रहता है। उस समय कभी भी कषाय आक्रमण कर सकता है। कषाय का आक्रमण होते ही चारित्र से विचलन की संभावना हो सकती है। ऐसे समय में कुछेक सूत्रों का अवलम्बन हो तो फिसलन से बचा जा सकता है। अतः चारित्रिक स्थिरता के कुछ आलम्बन सूत्र दशवैकालिक में (चूलिका) में प्राप्त होते हैं। वहां कहा गया—

निर्ग्रन्थ प्रवचन में जो प्रव्रजित है किन्तु उसे मोहवश दुःख उत्पन्न हो गया, संयम में उसका चित्त अरतियुक्त हो गया, वह संयम को छोड़ गृहस्थाश्रम में जाना चाहता है, उसे संयम छोड़ने से पूर्व अठारह स्थानों का भली-भांति आलोचन करना चाहिए। अस्थितात्मा के लिए इनका वही स्थान है, जो अश्व के लिए लगाम, हाथी के लिए अंकुश और पोत के लिए पताका का है। वे अठारह स्थान इस प्रकार हैं¹¹⁰—

1. ओह! इस दुःषमा में लोग बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते हैं।
2. गृहस्थों के कामभोग स्वल्प सार सहित (तुच्छ) और अल्पकालिक हैं।
3. मनुष्य प्रायः मायाबहुल होते हैं।
4. यह मेरा परीषहजनित दुःख चिरकालस्थायी नहीं होगा।
5. गृहवासी को नीच जनों का पुरस्कार करना होता है—सत्कार करना होता है।
6. संयम को छोड़ गृहवास में जाने का अर्थ है—नारकीय जीवन का अंगीकार।
7. संयम को छोड़ गृहवास में जाने का अर्थ है—वमन को वापस पीना।
8. ओह! गृहवास में रहते हुए गृहियों के लिए धर्म का स्पर्श निश्चय ही दुर्लभ है।
9. वहां आतंक वध के लिए होता है।
10. वहां संकल्प वध के लिए होता है।
11. गृहवास क्लेश सहित है और मुनिपर्याय क्लेश रहित।
12. गृहवास बन्धन है और मुनिपर्याय मोक्ष।
13. गृहवास सावद्य है और मुनिपर्याय अनवद्य।
14. गृहस्थों के कामभोग बहुजनसामान्य हैं—सर्वसुलभ हैं।
15. पुण्य और पाप अपना-अपना होता है।
16. ओह! मनुष्यों का जीवन अनित्य है, कुश के अग्रभाग पर स्थित जलबिन्दु के समान चंचल है।
17. ओह! मैंने इससे पूर्व बहुत ही पापकर्म किए हैं।
18. ओह! दुश्चरित्र और दुष्टपराक्रम के द्वारा पूर्वकाल में अर्जित किये हुए पापकर्मों को भोग लेने पर अथवा तप के द्वारा उनका

क्षय कर देने पर ही मोक्ष होता है। उन्हें भोगे बिना मोक्ष नहीं होता उनसे छुटकारा नहीं होता। अतः प्रस्तुत सूत्रों का बार.बार यदि चिंतन किया जाए तो चारित्र में स्थिर रहा जा सकता है। प्रश्न होता है कि चारित्र, आचरण का क्या लाभ? हमने ज्ञान कर लिया, जान लिया, बस काफी है। बहुत अच्छा है संसार में। कोई किसी को अच्छा कहता है, कोई किसी को। कितनों का आचरण किया जाए? आवश्यक निर्युक्ति में चारित्र का मूल्य बहुत स्पष्ट किया गया है¹¹—

सुबहुंपि सुयमहीयं किं काही चरणविप्पहीणस्स?

अधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडीवि ।।

अप्पंपि सुय महीयं पयासयं होइ चरणजुत्तस्स ।

एक्कोऽवि जह पईवो, सचक्खुअस्सा पयासेइ ।।

जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।

एवं खु णाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सोगईए ।।

पढ़ा हुआ बहुत ज्ञान भी आचारहीन को क्या लाभ देगा? अंधे व्यक्ति के सामने करोड़ों दीपक जलाने का क्या अर्थ है? पढ़ा हुआ अल्पज्ञान भी आचारवान को प्रकाश से भर देता है। चक्षुष्मान को प्रकाश देने के लिए एक दीपक भी काफी है।

चंदन का भार ढोने वाला गधा केवल भार का भागी होता है, चंदन का नहीं। उसी प्रकार चारित्रहीन ज्ञानी केवल जान लेता है, सद्गति को प्राप्त नहीं कर सकता।

आगे कुछ व्यक्तियों का उदाहरण देकर बात स्पष्ट की गई है—

दसारसीहस्स य सेणियस्सा, पेढालपुत्तस्स य सच्चइस्स ।

अणुत्तरा दंसणसंपया तया, विणा चरित्तेणऽहरं गइं गया ।।¹²

दशारसिंह, श्रेणिक, पेढालपुत्र और सत्यकीं अनुत्तर दर्शनसम्पन्न होने पर भी चारित्र के अभाव में अधोगति को प्राप्त हुए।

अतः यह स्पष्ट ही है कि जो जाना, उसे जीवन में लाने पर, आचरण में उतरने पर ही वह सार्थक हो सकता है। जिज्ञासा होती है कि हम कठोर आचरण क्यों करें? Eat, drink & be marry वाली बात क्यों नहीं अपनाएं? क्या परिणाम होगा चारित्रसम्पन्नता का?

चारित्रसम्पन्नता का परिणाम उत्तराध्ययन में वर्णित है—
चरित्तसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ। सेलेसी पडिवन्ने य
अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ
परिनिव्वाएइ सब्बदुक्खाणमंतं करेइ।¹¹³

भंते! चारित्रसंपन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है?

चारित्रसंपन्नता से वह शैलेशी भाव को प्राप्त होता है। शैलेशी
दशा को प्राप्त करने वाला अनगार चार केवलीसत्क कर्मों को क्षीण
करता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त परिनिर्वृत होता है और
सब दुःखों का अन्त करता है। अतः चारित्रसम्पन्ता ही मोक्ष का कारण
बनती है।

दशवैकालिकनिर्युक्ति में शील के अठारह हजार अंग प्राप्त होते हैं¹¹⁴—

जोगे करणे सण्णा इंदिय भोमादि समणधम्मे य।

सीलंगसहस्साणं अट्टारसगस्स उप्पत्ती।।

जे णो करंति मणसा, निज्जियआहारसण्णा सोइंदिये।

पुढविकायारंभं, खंतिजुत्ते ते मुणी वंदे।।

जे णो जे णो जे णो

करंति कारयंति समणुजाणंति

6000 6000 6000

मणसा वयसा कायसा

2000 2000 2000

णिज्जिय णिज्जिय णिज्जिय णिज्जिय

आहारसण्णा भयसण्णा मेहुणसण्णा परिग्गहसण्णा

500 500 500 500

श्रोत्रेन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय रसनेन्द्रिय
स्पर्शनेन्द्रिय

100 100 100 100

100

पृथिवी अप् तेजस् वायु वनस्पति द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय

10 10 10 10 10 10 10

चतुरिन्द्रिय पंचन्द्रिय अजीव

10 10 10

क्षान्ति	मुक्ति	आर्जव	मार्दव	लाघव	सत्य	संयम	तप
1	2	3	4	5	6	7	8
त्याग	अकिंचन						
9	10						

यह एक गाथा है। दूसरी गाथा में 'खंति' के स्थान पर 'मुक्ति' आएगा। शेष ज्यों का त्यों रहेगा। तीसरे में 'अज्जव' आएगा। इस प्रकार दस गाथाओं में दस धर्मों के नाम क्रमशः आएंगे। फिर ग्यारहवीं गाथा में 'पुढवि' में स्थान पर 'आउ' शब्द आएगा। पुढवि के साथ दस धर्मों का परिवर्तन हुआ है। उसी प्रकार 'आउ' के साथ भी होगा। फिर 'आउ' के स्थान पर क्रमशः 'तेउ', 'वाउ', 'वणस्सइ', 'बेइंदिय', 'तेइंदिय', 'चतुरिन्दिय', 'पंचेन्द्रिय' और 'अजीव'—ये दस शब्द आएंगे। प्रत्येक के साथ दस धर्मों का परिवर्तन होने से (10X10) 100 गाथाएं हो जाएंगी। 101 गाथा में 'सोइंदिय' के स्थान पर 'चक्खुरिंदिय' शब्द आएगा। इस प्रकार पांच इन्द्रियों की (100X5) 500 गाथाएं होंगी। फिर 501 में 'आहारसन्ना' के स्थान पर 'भयसन्ना' फिर 'मेहुणसन्ना' और 'परिग्गहसन्ना' शब्द आएंगे। एक संज्ञा के 500 होने से 4 संज्ञा के (500X4) 2000 होंगे। फिर मणसा शब्द का परिवर्तन होगा। 'मणसा' के स्थान 'वयसा' फिर 'कायसा' आएगा। एक-एक का 2000 होने से तीनों योगों के (2000X3) 6000 होंगे। फिर 'करंति' शब्द में परिवर्तन होगा। 'करंति' के स्थान पर 'कारयंति' और 'समणुजाणंति' शब्द आएंगे। एक-एक के 6000 होने से तीन करणों के (6000X3) 18000 शील के अंग हो जाएंगे।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में दर्शन, ज्ञान और चारित्र यानि रत्नत्रयी एवं जीवस्थान की अभिव्यक्ति दी गई। चाहे कोई भी हो, सभी के केन्द्र में आत्मतत्त्व की मौजूदगी ही है, बाकी सारे तत्त्व परिधि में ही परिक्रमा करते हैं। अतः सारा प्रयत्न उसी आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए होता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. पंचसंग्रह, संस्कृत अधिकार, 1. 12
2. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, मूल, 3. 22
3. राजवार्तिक, 9. 1. 10. 588. 6
4. धवला, 1. 1, 17. 158. 8

5. समवाओ, 14. 15
6. आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति 2, पृ. 107
7. आवश्यक चूर्णि 2, पृ. 79
8. वही, पृ. 133
9. वही, पृ. 133, 134
10. नन्दी मलयगिरी वृत्ति, पत्र 105, 106
11. आवश्यक चूर्णि 2, पृ. 134
12. वही
13. वही
14. वही, पृ. 134, 135
15. नन्दी चूर्णि, पृ. 22
16. आवश्यक चूर्णि 2, पृ. 135
17. वही
18. वही
19. वही
20. वही, पृ. 136
21. नन्दी मलयगिरि वृत्ति, पत्र 42
22. सर्वार्थसिद्धि, 1. 1. 5. 3; राजवार्तिक, 1. 1. 35. 10. 6
23. वही 1. 2. 9. 3; 1. 2. 2-4. 19. 20
24. नियमसार, तात्त्विक वृत्ति, 3. 13
25. विशेषावश्यक भाष्य, मलधारीया वृत्ति 1, पृ. 243
26. वही, पृ. 175
27. आयारो, 5. 3. 57
28. आचारांग चूर्णि, 5. 3, पृ. 179
29. आयारो, 2. 3. 63
30. वही, 4. 1. 1
31. वही, 6. 2. 46
32. वही, 1. 3
33. सूत्रकृतांग, 3. 3. 15
34. आयारो, 3. 2. 28
35. दशवैकालिक, 10. 7; 4. 9
36. आयारो, 5. 3. 58
37. वही, 5. 5. 24
38. उत्तराध्ययन, 6. 14
39. आयारो, 6. 5. 100-103
40. सूत्रकृतांग, 6. 29
41. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य वृत्ति, पत्र 556

42. विशेषावश्यक भाष्य, गा. 2269, 2270
43. वही, 320
44. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य वृत्ति, पत्र 563
45. आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति 2, पृ. 68
46. उत्तराध्ययन, 29. 2
47. वही, 29. 3
48. वही, 28. 31
49. श्लोकवार्तिक , 2. 1. 2. 12. 29
50. वही, 2. 1. 2. 12. 34. 17
51. वही, 2. 1. 2. 12. 37. 18
52. उत्तराध्ययन, 29. 61
53. आवश्यकचूर्णि 2, पृ. 375
54. (क) अणुओगदाराङ्गं 1
(ख) नवसुत्ताणि नन्दीसूत्र 2
55. उत्तरज्झयणाणि, 28. 4—14
56. वही, 28. 30
57. नवसुत्ताणि, नन्दीसूत्र 71—57
58. मू. आ., 267—268
59. मोक्षपाहुड, मूल, पृ. 100
60. मू. आ., 894
61. योगसार, अमितगति अधिकार, संख्या 7, श्लोक 43
62. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूल, गा. 466
63. समयसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, पृ. 101
64. वही, पृ. 237
65. नयचक्र, पृ. 141
66. द्रव्यसंग्रह, टीका, गा. 1, पृ. 7
67. समयसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, गा. 96, पृ. 154, पंक्ति संख्या 8
68. पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गा. 413—414
69. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 1, सूत्र 1, पृ. 6
70. भगवती आराधना टीका, गा. 8, पृ. 41
71. प्रवचनसार त. प्र. 7
72. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक 39
73. समयसार, आत्मख्याति, कलश 386
74. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति 154, 224, 14; द्रव्यसंग्रह, टीका, गा. 35,
पृ. 147
75. प्रवचनसार, मूल, गा. 7
76. नयचक्र, गा. पृ. 357

77. तत्त्वार्थ सूत्र, 9. 18
78. राजवार्तिक, 1. 7. 14. 41. 8
79. वही, 9. 17. 7. 616. 18
80. अनुयोगद्वार, गा. 553
81. विशेषावश्यक भाष्य, गा. 1263
82. वही, गा. 2636
83. आवश्यक निर्युक्ति, गा. 790
84. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य वृत्ति, पत्र 567
85. विशेषावश्यक भाष्य, गा. 1263
86. वही, गा. 1264
87. वही, गा. 1268
88. अनुयोगद्वार, गा. 553
89. विशेषावश्यक भाष्य, गा. 1269
90. वही, गा. 1270
91. अनुयोगद्वार, गा. 553
92. विशेषावश्यक भाष्य, गा. 1271
93. वही, मलधारीया वृत्ति, पृ. 478
94. विशेषावश्यक भाष्य, गा. 1273
95. वही, गा. 1274
96. वही, मलधारीया वृत्ति, पृ. 479
97. वही, गा. 1275
98. विशेषावश्यक भाष्य, गा. 1277
99. आवश्यकचूर्णि 1, पृ. 103
100. आवश्यकनिर्युक्ति, 117
101. विशेषावश्यक भाष्य, गा. 1300, 1301
102. अनुयोगद्वार, 553, विशेषावश्यक भाष्य, गा. 1278
103. विशेषावश्यक भाष्य, गा. 1279
104. उत्तराध्ययन, शान्त्याचार्य वृत्ति, पत्र 568
105. उत्तराध्ययन, 28. 33
106. अनुयोगद्वार, 553
107. उत्तराध्ययन, 28. 33
108. उत्तराध्ययन, शान्त्याचार्य वृत्ति, पत्र 569
109. विशेषावश्यक भाष्य, मलधारीया वृत्ति, पृ. 474
110. दशवैकालिक, चूला 1, सूत्र 1-18
111. आवश्यकनिर्युक्ति, 98-100
112. वही, 1160
113. उत्तराध्ययन, 29. 62
114. दशवैकालिकनिर्युक्ति, 82

सप्तम अध्याय

आगमगत आत्मचिंतन का विकास : आचार्यों का योगदान

आगम साहित्य आत्मसंगान करता है। आगमों में आत्मा की प्राप्ति या आत्मसाक्षात्कार की प्रविधियां सूत्ररूप में हैं। युग बदला, परिस्थितियां बदली, मस्तिष्क बदले, आस्था बदली और धारणाएं बदली। आमूलचूल परिवर्तन हुआ। प्रकृति ने करवट ली। कालचक्र ने अपना प्रभाव दिखाया। इस बदलाव में व्यक्ति मूल को भूल गया। उसे आत्मविस्मृति हो गई। ऐसे में समय-समय पर जैनाचार्यों ने जो जागृति उत्पन्न की, उसी के फलस्वरूप आत्मचिंतन की धारा प्रवाहित रही। ऐसे ही कुछेक आत्मवादी आचार्यों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत अध्याय में है।

आचार्य कुन्दकुन्द का योगदान

आचार्य कुन्दकुन्द श्रमण संस्कृति के जगमगाते नक्षत्र हैं। भगवान महावीर एवं गौतम गणधर के पश्चात् उनका मंगल स्तवन इस बात का द्योतक है कि जितना सम्मान एवं श्रद्धा आचार्य परम्परा में कुन्दकुन्द के प्रति व्यक्त की जाती है उतनी अन्य किसी आचार्य को उपलब्ध नहीं हो सकती है।

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमप्रभुः।

मंगलं कुन्दकुन्दाद्या, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

आचार्य कुन्दकुन्द को जिनवाणी की प्रतिमूर्ति माना जाता है। विगत दो हजार वर्षों से नामस्मरण किये जाने वाले आचार्यों में आचार्य कुन्दकुन्द का नाम सर्वोपरि है। वीरनिर्वाण संवत् 683 तक आगम की अविच्छिन्न धारा बहती रही। इसी बीच आचार्य परम्परा संघों में विभाजित हो गई और वह मूल संघ, यापनीय संघ, द्राविड़ संघ एवं काष्ठा संघ के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुई। आचार्य कुन्दकुन्द मूलसंघ के प्रमुख एवं

आदि आचार्य हुए जिनका व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व दोनों ही अनुपमेय हैं।

कुन्दकुन्द की गणना उन शीर्षस्थ जैनाचार्यों में की जाती है जिन्होंने आत्मा को केन्द्र बिन्दु मानकर अपनी समस्त कृतियों की रचना की। आत्मा की परिधि में ही उनका सारा ध्यान है। कुन्दकुन्दाचार्य ने विभिन्न दृष्टिकोणों से आत्मा के स्वरूप पर विचार किया एवं विभिन्न प्रकार से स्वरूप का निरूपण किया। उनकी रचनाओं में संसारी एवं शुद्ध दोनों प्रकार की अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। उन्होंने अनादिकाल से कर्मयुक्त आत्मा को संसारी आत्मा की संज्ञा दी और मोक्ष का मार्ग बताया, जिसके द्वारा संसारी आत्मा समस्त कर्मों से रहित होकर शुद्धात्मा की निर्मल स्थिति को प्राप्त कर सकता है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने संसारी आत्माओं को दो भागों में वर्गीकृत किया है—भव्य एवं अभव्य।¹ भव्य आत्माओं में मोक्ष प्राप्ति की क्षमता होती है² एवं अभव्य आत्माएं किसी भी देशकाल में सिद्धावस्था को प्राप्त नहीं कर सकतीं। अभव्य जीव के ज्ञान का आधार सम्यग्दर्शन नहीं होता। अतः वह मोक्ष पर श्रद्धा नहीं कर सकता। वह शुभोपयोग रूप ऐसे धर्म का ही श्रद्धान कर सकता है जो कि सांसारिक भोगों का कारण है, वह कर्मक्षय के कारणभूत शुद्धोपयोग रूप धर्म का श्रद्धान नहीं करता। अतः वह आवागमन के चक्र में फंसा रहता है।³ वह अर्हदभाषित धर्म का श्रवण करके भी मिथ्यात्व प्रधान अपने स्वभाव को नहीं त्यागता है और उसका व्यवहार ठीक वैसा ही है जैसा कि गुड़मिश्रित दूध का सेवन करने वाले सर्प का विष रहित नहीं होना है।⁴

भव्य आत्मा जिस भावना से युक्त होकर चार घातिकर्म को नष्ट करता है जिनके फलस्वरूप अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य प्रकट होता है और वह लोकालोक को प्रकाशित करता है। केवलज्ञान से युक्त होने के कारण आत्मा ज्ञानी कहलाता है, शुद्धात्मा का स्वरूप कल्याणरूप है अतः उसे शिव कहते हैं। शुद्धात्मा परमपद को प्राप्त होने के कारण परमेष्ठी कहलाता है, समस्त पदार्थों का ज्ञाता है अतः उसे सर्वज्ञ कहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने ग्रन्थों में शुद्धात्मा के स्वरूप को ही एकमात्र जानने योग्य बताया है तथा जब आत्मा अपने द्वारा, अपने लिए अपने को जानता है उस अवस्था में वह पर से पूर्णतया पृथक् अपने चतुष्टय में परिणमन करता है व मुक्त आत्मा बन जाता है।

आत्मा में पुद्गलादि परपदार्थों का ज्ञायकत्व तो व्यवहार अथवा

पर्याय दृष्टि से निरूपित किया गया है, वास्तव में निश्चय दृष्टि से आत्मा स्व का ही ज्ञायक है।^६ कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि निश्चय नय की अपेक्षा से शुद्धात्मा बंधविहीन, निरपेक्ष, स्वाश्रित, अचल, निसंग एवं ज्ञापक ज्योतिमात्र है।^७ समयसार में कहा है कि निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा न अप्रमत्त है, न प्रमत्त है और न ज्ञान, दर्शन, चारित्र स्वरूप है, वह तो एकमात्र ज्ञायक है। आत्मा अनन्य शुद्ध (निष्कलंक) एवं उपयोग स्वरूप है। रस, रूप और गन्धरहित, अव्यक्त, चैतन्यगुण युक्त, शब्द रहित, चक्षुरादि इन्द्रियों से अगोचर, अलिंग और पुद्गलाकार रहित है।^८ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यवसाय, अनुभाग, योग, बंध, उदय, मार्गणा, स्थितिबंध, संक्लेश, स्थान, संयमलब्धि, जीवसमास आदि आत्मा के गुण नहीं हैं। आत्मा इन सबसे भिन्न है।^९ नियमसार में शुद्धोपयोग में कहा है कि निश्चय नय से आत्मा जन्म, जरा, मरण एवं उत्कृष्ट कर्मों से रहित, शुद्ध ज्ञान, अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, नित्य, अविचल रूप है।^९

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द के सभी ग्रन्थों का अध्ययन करने से निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने निश्चय नय का महत्त्वपूर्ण अवदान दिया है। आगमगत आत्मचिंतन के विकास में शुद्धात्मा के स्वरूप का जैसा हृदयग्राही वर्णन उन्होंने किया है, अन्यत्र दुर्लभ है। जो स्वयं महाविदेह क्षेत्र में जाकर साक्षात् तीर्थकर की देशना श्रवण कर आये, फिर उस दिव्यवाणी को लिपिबद्ध किया, इससे बढ़कर सत्य नहीं हो सकता। अतः हम कह सकते हैं कि आगमगत आत्मचिंतन के विकास में आचार्य कुन्दकुन्द का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं विलक्षण है। अनन्त ज्ञान के माध्यम से वह समस्त लोकालोक में व्याप्त है इसलिए उसे विष्णु की संज्ञा दी जाती है। चारों ओर स्थित समस्त पदार्थों का द्रष्टा होने के कारण वह चतुर्मुख कहलाता है तथा लोकालोक स्थित पदार्थों का ज्ञाता होने के कारण बुद्ध कहलाता है।^{१०}

कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में जीव तथा आत्मा पदों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। विभिन्न स्थलों पर जीव तथा आत्मा के लक्षण, स्वरूप एवं भेदों पर प्रकाश डाला गया है—इस विवेचन के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि जीव तथा आत्मा पर्यायवाची हैं और इनके द्वारा एक ही द्रव्य की अभिव्यंजना की गई है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा को लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया है तथा मुमुक्षु जीव की समस्त शुभ एवं शुद्ध चेष्टाएं इस लक्ष्य की प्राप्ति में साधनभूत हैं। जीव को बार-बार सम्बोध दिया जाता है कि अपना उपयोग आत्मा में केन्द्रित करो, परसमय का त्यागकर स्वसमय का चिन्तन करो। निश्चयनय से आत्मा और जीव में कोई अन्तर नहीं है किन्तु व्यवहार में ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा उस सर्वोच्च स्थिति का परिचायक है, जिस तक पहुंचना ही जीव को अभीष्ट है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रकारान्तर से आत्मा को अहं प्रतीति द्वारा ग्राह्य कहा है—जो चैतन्य आत्मा है, निश्चय से वह 'अहं' मैं हूं इस प्रकार प्रज्ञा द्वारा ग्रहण करने योग्य है और अवशेष समस्त भाव मुझसे परे हैं ऐसा जानना चाहिए।¹¹ जीव चेतनामय उपयोगमय है।¹² आत्मा का चेतना रूप परिणमन तीन प्रकार का है—1. ज्ञान चेतना 2. कर्म चेतना 3. कर्मफल चेतना।¹³

पदार्थ का स्वपर भेद लिए हुए जीवाजीवादि पदार्थों का तत्तदाकार से जानना ज्ञान है और आत्मा का ज्ञान भाव रूप परिणमन है वह ज्ञान चेतना है। जीव के द्वारा समारब्ध भावकर्म कहलाते हैं और जीव पुद्गल कर्म के निमित्त से प्रत्येक समय जो शुभ-अशुभ आदि अनेक भेदों वाले भावकर्म रूप परिणमन करता है, उसे कर्मचेतना कहते हैं। सुख अथवा दुःख कर्म का फल है, इस प्रकार अपने कर्मबन्ध के अनुरूप जो सुख-दुःखादि व्रतों का अनुभव है उसे कर्मफल चेतना कहते हैं। अपनी शुद्धावस्था में आत्मा द्रव्य कर्मों और भाव कर्मों से पूर्णतः रहित है और केवलज्ञान रूप से परिणमन करने के कारण ही उसे परमात्मा कहा जाता है। इस दृष्टि से ज्ञानचेतना रूप से परिणमन करने वाले जीव को परमात्मा कहा जा सकता है।¹⁴

निश्चयनय की दृष्टि से किया गया प्रतिपादन आचार्य कुन्दकुन्द की मौलिक दृष्टि को प्रकट करता है। निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा विशुद्ध जीवद्रव्य है। वह समस्त परद्रव्यों के बन्धनों से पूर्णतः मुक्त, स्वचतुष्टय में स्थित स्वतन्त्र सत्ता है। अपनी शुद्धावस्था में आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है, समस्त प्रकार की कामनाओं से रहित होने के कारण वह किसी भी कर्मफल का भोक्ता नहीं रह जाता। अपनी इस स्थिति में आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि गुणों को निर्बाध रूप से पूर्णतः रहित तथा स्वभाव परिणमन में रत रहता है। निश्चय दृष्टि

संसारी आत्मा तथा मुक्तात्मा में कोई भेद स्वीकार नहीं करती, दोनों का वैभव तथा महत्ता समान मानती है। अन्तर केवल इतना है कि मुक्तात्मा में ये गुण पूर्णतः व्यक्त हैं जबकि संसारी आत्मा में आवरण के कारण सीमित रूप में व्यक्त हैं।

व्यवहारदृष्टि संसारी आत्मा तथा मुक्त आत्मा में विकास की दृष्टि से अन्तर स्वीकार करती है। संसारी आत्मा को रत्नत्रय के मार्ग संवर तथा निर्जरा के माध्यम से मोक्ष प्राप्त होता है। विकास क्रम में संसारी जीव अशुभ से शुभ तथा शुभ से शुद्ध की ओर गमन करता है। संसारी जीव के समस्त कर्म क्षय हो जाने पर वह मुक्तात्मा बन जाता है। आत्मा अनन्त गुणों से युक्त हैं। अतः उसका स्वरूप अनिवर्चनीय है। शुद्धात्मा के स्वरूप को निरूपित करने के लिए दो दृष्टिकोण हो सकते हैं—

1. शुद्धात्मा के अनन्त गुणों का वर्णन किया जाए, यह सम्भव नहीं क्योंकि सिद्धात्मा के अनन्तानन्त गुणों के वास्तविक स्वरूप को जानने वाला आत्मा स्वयं भी सिद्धात्मा होना चाहिए।

2. दूसरा विकल्प यह है कि शुद्धात्मा का निरूपण इस प्रकार किया जाए जिससे यह बोध हो कि वह किन-किन दोषों से रहित है। छिद्रान्वेषी संसारी जीव के द्वितीय विकल्प ही ठीक है। इसी दृष्टि से कुन्दकुन्द ने आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते समय अपनी समस्त कृतियों में आत्मा को निर्दण्डः, निर्द्वन्द्वः आदि नेति नेति रूपेण प्रस्तुत किया है।

कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाओं में किया गया प्रत्येक वर्णन आत्मा के वास्तविक स्वरूप की ओर उन्मुख करवाने वाला है। उनकी समस्त रचनाओं का एकमात्र उद्देश्य आत्मलाभ है। इस प्रकार उनकी कृतियों को आत्मनिरूपण प्रधान कहा जा सकता है। उनका आत्मनिरूपण निम्न बिन्दुओं में प्रकट किया जा रहा है—

1. षट्द्रव्यों में जीव व पुद्गल प्रमुख, इनका स्वचतुष्टय में परिणमन जीव को निजस्वभाव में परिणमन द्वारा आत्मलाभ करने की प्रेरणा देता है।
2. जीवादि 'पंचास्तिकाय' के वर्णन में भेद दृष्टि द्वारा आत्मलाभ।
3. 'सप्ततत्त्वों' में प्रमुख जीव और अजीव का आस्रव के

कारण बन्ध होता है। संवर द्वारा कर्मास्रव रोककर, निर्जरा के माध्यम से मोक्ष-प्राप्ति रूपी आत्मलाभ।

4. नवपदार्थों में पुण्य और पाप क्रमशः सोने और लोहे की बेड़ीवत्, कर्मबन्धन के कारण। दोनों को हेय मानकर वीतरागभावपूर्वक कर्मक्षय द्वारा निजानन्द स्वरूप आत्मलाभ।
5. कर्मसिद्धान्त के ज्ञान द्वारा कर्मों की आवरणीय प्रकृति, क्षयोपशमादि जीव के भावों, प्रकृतिबन्धादि कर्मबन्ध के भेदों का सम्यक् ज्ञान होता है। कर्म निर्जरा द्वारा शुद्धात्मलाभ।
6. आत्मत्रय—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा में प्रथम हेय, द्वितीय की सहायता से परमात्मा की प्राप्ति।
7. उपयोगत्रय—अशुभोपयोग, शुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग में प्रथम दो हेय और अन्तिम में आत्मलाभ।
8. पंच महाव्रत, पंच समिति, त्रिगुप्ति, षडावश्यक आदि निश्चयोन्मुखी व्यवहारचारित्र्य द्वारा आत्मलाभ।
9. रत्नत्रय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्य से आत्मलाभ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार और निश्चय दोनों का अवलम्बन लिया है। किन्तु उनके कृतित्व की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि उनके व्यवहारनय के अन्तर्गत आने वाली समस्त विरोधी धाराएं अन्ततः निश्चय की धारा में मिल जाती हैं। उनका व्यवहारनय वह सोपान है जो क्रमिक रूप से निश्चय की ओर उन्मुख कराता है। जब तक निश्चय का श्रद्धान नहीं हो जाता, व्यवहार उपादेय है किन्तु निश्चय का श्रद्धान होते ही व्यवहार स्वतः ही पृष्ठभूमि में रह जाता है। वस्तुतः कुन्दकुन्द का व्यवहारनय उनकी आत्म-तत्त्व निरूपण शैली है जिसके द्वारा वे संसारी जीवों को भी आत्मा जैसे गूढ विषय बोधगम्य करा सके।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि निश्चयनय की दृष्टि से आत्मवर्णन में कुन्दकुन्दाचार्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है जो मुमुक्षु के अन्तश्चक्षु उद्घाटित कर उन्हें मोक्ष की ओर गतिशील करते हैं।

आचार्य उमास्वाति का योगदान

प्रभावक आचार्यों की परम्परा में उमास्वाति वाचक को अतिशय विशिष्ट स्थान प्राप्त है। आगम ग्रन्थों का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था। आचार्य उमास्वाति की एकमात्र रचना तत्त्वार्थसूत्र है। उसी गागर में मानों सागर समाविष्ट हो गया हो।

भगवान् महावीर ने अपनी मीमांसा में ज्ञेयतत्त्व और चारित्र को समान स्थान दिया है। इस कारण उनकी तत्त्वमीमांसा एक ओर जीव-अजीव के निरूपण द्वारा जगत् के स्वरूप का वर्णन करती है और दूसरी ओर आस्रव, संवर आदि तत्त्वों का वर्णन करके चारित्र का स्वरूप दर्शाती है। इसलिए जैन दर्शन में नौ तत्त्वों जैसा महत्त्व अन्य किसी विषय का नहीं है। इस वस्तुस्थिति के कारण ही वाचक उमास्वाति ने अपने प्रस्तुत शास्त्र के विषय के रूप में इन नौ तत्त्वों को उपयुक्त समझा और इन्हीं का वर्णन सूत्रों में सात संख्या द्वारा करके उन सूत्रों के विषयानुरूप तत्त्वार्थाधिगम नाम दिया। उमास्वाति ने नौ तत्त्वों की मीमांसा में ज्ञेयप्रधान और चारित्रप्रधान दोनों दर्शनों का समन्वय देखा तो भी उन्होंने उसमें अपने समय के विशेष चर्चा प्राप्त प्रमाण-मीमांसा के निरूपण की उपयोगिता को अनुभव किया। समुच्चय रूप में कहें तो उमास्वाति ने अपने सूत्र के विषय के रूप में ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीनों मीमांसाओं को जैन दृष्टि के अनुसार अपनाया है।

तत्त्वार्थ सूत्र का पहला सूत्र ही है आत्मप्राप्ति या मोक्षप्राप्ति के साधन के रूप में। इसमें आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने का मार्ग निर्दिष्ट किया गया है और क्रमशः मार्ग बताया है कि सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं। उसके बाद सम्यग्दर्शन की व्याख्या क्रमशः की गई है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति, स्थिरता एवं पहचान कैसे हो सकती है। सम्यक्त्व के बाद ज्ञान का क्रम दिया गया है। पांचों ज्ञान का विस्तार से वर्णन ज्ञान में प्रवेश करा देता है। मति, श्रुत को परोक्ष के अन्तर्गत एवं अवधि, मनःपर्याय एवं केवल को प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकार किया है। उनका स्वरूप मुमुक्षु को ज्ञान ही प्रदान करता है।

दूसरा खण्ड जीव से सम्बन्धित है। इसमें सर्वप्रथम भाव का वर्णन किया गया है। भावों को जीव का स्वरूप बताया गया है। इसके अन्तर्गत आने वाले सूत्रों का उद्देश्य जैन दर्शन का अन्य दर्शनों से भेद दिखाना है। सांख्य और वेदान्त दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं

तथा उसमें कोई परिणाम नहीं मानते। वैशेषिक और नैयायिक ज्ञान आदि को आत्मा का गुण मानते हैं, फिर भी उसे एकान्तनित्य मानते हैं। बौद्ध दर्शन आत्मा को एकान्तक्षणिक मानता है। जैनदर्शन उसे परिणामिनित्य मानता है। अतएव आत्मा के पर्याय होते हैं। सभी पर्याय एक ही अवस्था के नहीं होते। पर्यायों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को ही भाव कहा गया है। इस प्रकार पांचों भावों का स्वरूप बताया गया है। तत्पश्चात् जीव का लक्षण उपयोग बताया गया जो ज्ञान, दर्शन रूप है तथा विस्तार से उसके के भेद बतलाए गये हैं।

आत्मा को आवृत करने वाले कारणभूत कर्म की विस्तार से व्याख्या सचेत करती है साधक को। बन्ध के हेतुओं का निर्देश उनसे बचने की प्रेरणा देता है। विभिन्न कर्मों के बन्ध के अलग-अलग कारणों का निर्देश दिया गया है।

आत्ममार्ग में उपादेय तत्त्व 'व्रत' की व्याख्या की गई है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने के हेतु—संवर और निर्जरा की विस्तृत व्याख्या आंखें खोल देने वाली है। समिति, गुप्ति, दस धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र, तप, विनय, प्रायश्चित्त, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग का संभेद वर्णन आचरणपक्ष को बताने वाला है। समस्त कर्मों से मुक्ति के पश्चात् जो सिद्धात्मा है उसका स्वरूप, स्थान एवं गति का वर्णन ज्ञान को वृद्धिगत करता है।

तत्त्वार्थसूत्र का अध्ययन करने के पश्चात् लगता है वाचक उमास्वाति का योगदान आत्मा के संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने आत्मा सम्बन्धी हेय, ज्ञेय और उपादेय सभी तत्त्वों का निरूपण करके ज्ञानमार्ग को पुष्ट किया है। उन्होंने आगमगत आत्मचिंतन को दर्शन युग में प्रवेश कराया। इससे कई आचार्यों को चिन्तन करने का अवकाश मिला व तत्त्वार्थसूत्र पर अनेक टीका व भाष्य लिखे गए। अतः कहा जा सकता है कि उमास्वाति का योगदान सचमुच महत्त्वपूर्ण है जिससे तार्किक बुद्धि वाले भी आत्मा की ओर उन्मुख हुए।

आचार्य भिक्षु

काव्य-रचना, व्याकरण, न्यायशास्त्र, सिद्धान्त, बीज-शास्त्र, ज्योतिष विद्या में निपुण अनेक आचार्य होते हैं, किन्तु चारित्र में निपुण हों, वैसे आचार्य विरले ही होते हैं।¹⁵

आचार्य भिक्षु उन विरले आचार्यों में से ही थे। उन्होंने चारित्र

शुद्धि को उतना महत्त्व दिया जितना देना चाहिए। ज्ञान, दर्शन और चारित्र—तीनों की आराधना मुक्ति का मार्ग है। परन्तु परिस्थितिवश किसी एक को गौण करने का प्रसंग आ सकता है। आचार्य भिक्षु ने ऐसा नहीं किया। वे जीवन भर ज्ञान की आराधना में निरत रहे और उनका चारित्रशुद्धि का घोष ज्ञान—शून्य नहीं था।

आचार्य भिक्षु तेरापंथ के संस्थापक थे। श्वेताम्बर परम्परा में तेरापंथ की स्थापना वि. सं. 1817 (आषाढी पूर्णिमा) में हुई। इसके प्रवर्तक आचार्य भिक्षु 1808 में स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए और 1816 में उससे सम्बन्ध विच्छेद कर पृथक् हुए। उनकी दृष्टि में वह सम्प्रदाय चारित्रिक शिथिलता से आक्रान्त हो गया था। आचार्य भिक्षु ने आगमों का अध्ययन किया, तब उन्हें लगा कि हमारा आचरण सर्वथा आगमानुमोदित नहीं है और सिद्धांत पक्ष भी विपरीत दिशा में जा रहा है।¹⁶ ऐसी साधुता के लिए उन्होंने घर नहीं छोड़ा था। वे प्राणपण से साधुपन को पालना चाहते थे। उनकी इच्छा कोई संघ चलाने की या शिष्य संपदा बढ़ाने की नहीं थी। वे कहते थे—हमने तो आत्मा के लिए घर छोड़ा है।¹⁷ वे केवल चारित्र शुद्धि के लिए छटपटा रहे थे। यही उनका ध्येय था और इसी की पूर्ति के लिए वे आचार्य से सखेद पृथक् हुए। इस प्रकार हमें यह पता चलता है कि आचार्य भिक्षु की आत्मा में दृढ़ आस्था थी जिसकी वजह से उन्होंने न जानें कितने तूफानों का सामना किया।

आचार्य भिक्षु का तो सारा संघर्ष ही आत्मप्राप्ति के लिए था। उसके लिए शुद्धाचार—पालन की अपेक्षा होती है। उन्होंने उसी पर बल दिया एवं शिथिलाचार पर तीखे प्रहार किये। लेकिन अपने मन से नहीं, ठोस आधार पर। उनका दिशासूचक यंत्र आगम थे। उन्हीं के सहारे उन्होंने शुद्धाचार—अनाचार का निर्णय किया। उनका कहना था आगम और जिन आज्ञा ही मेरे लिए प्रमाण हैं। वे ही मेरे आधार हैं।

तेरापंथ का नामकरण भी आचार के आधार पर हुआ है। जोधपुर की दुकान में तेरह श्रावक बैठे थे। कवि वहां से गुजरा तो जाना कि साधुओं की संख्या भी तेरह है तो दोहा बनाया और तेरापंथ नाम प्रचलित हो गया।¹⁸ पर आचार्य भिक्षु ने उसमें भी आचार दृष्टि को खोजा और कहा कि जो पांच महाव्रत, पांच समिति व तीन गुप्ति का पालन करता है, वह तेरापंथी साधु होगा। संख्या तेरह है पर राजस्थानी

में उसे 'तेरा' कहा जाता है। इस प्रकार तेरापंथ की नींव ही आचार-शुद्धता पर रखी गई है जो आत्मा का पथ है।

आचार्य भिक्षु ने बढ़ते विरोध को देखकर चिन्तन किया—मेरे गण में कौन साधु होगा और कौन श्रावक—श्राविका? मुझे आत्मा का कल्याण करना है। दूसरे लोग मुझे न सुनना चाहें तो मैं अपने कल्याण में लगूँ।¹⁹ ऐसा चिन्तन एक आत्मज्ञ का ही हो सकता है जिसे आत्मा को जानने की गहरी तड़प हो। उन्होंने तपस्या प्रारंभ की, दो मुनियों की प्रार्थना पर प्रचार—प्रसार का काम शुरू किया तो सफलता मिली। अब तेरापंथ—वटवृक्ष विस्तार पाने लगा। आचार्य भिक्षु ने स्थिति परिवर्तन देखकर ग्रंथ—निर्माण का कार्य शुरू किया।²⁰ संघ व्यवस्था को सुचारु रूप देने के बाद सिद्धान्तों का प्रचार शुरू किया।

साधन शुद्धि पर बल

आचार्य भिक्षु ने साधन शुद्धि को बहुत महत्त्व दिया। साधन बीज है और साध्य वृक्ष, इसलिए जो संबंध बीज और वृक्ष में है, वही संबंध साधना और साध्य में है।²¹ महात्मा गांधी के इस विचार का उद्गम बहुत प्राचीन हो सकता है किन्तु उसके विशाल प्रवाह आचार्य भिक्षु हैं।

आचार्य भिक्षु अलौकिक एवं रहस्यमय पुरुष हैं। उन्होंने यह सूत्र दिया—“अहिंसा के साधन उसके अनुकूल हों तभी उसकी आराधना की जा सकती है, अन्यथा वह हिंसा में परिणत हो जाती है।”²² इस सूत्र ने लोगों को कुछ चौंकाया। किन्तु इसकी व्याख्या ने तो जनमानस को आंदोलित कर दिया। आचार्य भिक्षु ने कहा—

1. कई लोग कहते हैं—‘जीवों को मारे बिना धर्म नहीं होता। यदि मन के परिणाम अच्छे हों तो जीवों को मारने का पाप नहीं लगता। पर जान—बूझकर जीवों को मारने वाले के मन का परिणाम अच्छा कैसे हो सकता है।’²³
2. जहां दया है वहां ‘जीव—वध किये बिना धर्म नहीं होता’ यह सिद्धांत मान्य नहीं हो सकता।
3. जीव—वध होता है वह जीव की दुर्बलता है, किन्तु उसे धर्म का रूप देना कि ‘हिंसा किये बिना धर्म नहीं होता’ नितांत दोषपूर्ण है।

4. एक जीव को मारकर दूसरे जीव की रक्षा करना धर्म नहीं है। धर्म यह है कि अधर्मी को समझा-बुझाकर धर्मी बनाया जाए।²⁴
5. जीवों को मारकर जीवों का पोषण करना लौकिक मार्ग है। उसमें जो धर्म बताते हैं, वे पूरे मूढ़ और अज्ञानी हैं।²⁵
6. कई लोग कहते हैं—दया लाकर जीवों को मारने में धर्म और पाप दोनों होते हैं।²⁶ किन्तु पाप करने से धर्म नहीं होता और धर्म करने से पाप नहीं होता। एक करणी में दोनों नहीं हो सकते।²⁷
7. पाप और धर्म की करणी भिन्न-भिन्न है।²⁸
8. अव्रत का सेवन करना, कराना और अव्रत-सेवन का अनुमोदन करना पाप है।²⁹
9. व्रत का सेवन करना, कराना और व्रत-सेवन का अनुमोदन करना धर्म है।
10. सम्यग्दृष्टि लौकिक और लोकोत्तर मार्ग को भिन्न-भिन्न मानता है।³⁰
11. धर्म त्याग में हैं, भोग में नहीं।
12. धर्म हृदय परिवर्तन में हैं, बलप्रयोग में नहीं।
13. असंयति के जीने की इच्छा करना राग है।
14. उसके मरने की इच्छा करना द्वेष है।
15. उसके संयति होने की इच्छा करना धर्म है।

आचार्य भिक्षु ने कहा कि मैंने भगवान् महावीर की वाणी को जनता के सम्मुख यथार्थरूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य भिक्षु ने जिस व्यवस्थित रूप से इसे सैद्धान्तिक रूप दिया है, उस रूप में अन्य आचार्यों ने सैद्धान्तिक रूप नहीं दिया। आचार्य भिक्षु अध्यात्म की भूमिका पर बोलते थे। उनका चिंतन मोक्ष की मान्यता के साथ-साथ चलता था।

आचार्य भिक्षु के अध्यात्म की अभिव्यक्ति का इतिहास ज्वलंत साधना और कठोर तपस्या का इतिहास है। आचार्य भिक्षु अभिव्यक्ति देने नहीं, किन्तु सत्य की उपलब्धि के लिए चले थे। ईसा को फांसी और सुकरात को विष की प्याली ही नहीं मिली, कुछ और भी मिला था। आचार्य भिक्षु को रोटी, यातना ही नहीं मिली, सत्य भी मिला था। उनका

लक्ष्य था संयम की साधना। वे उस मार्ग पर चलने के लिए मृत्यु का वरण करने में भी नहीं हिचकते थे।³¹ इसलिए ही उन्होंने अपने सारे विचार आत्मा को केन्द्र में रखकर ही व्यक्त किये।

आचार्य भिक्षु की मौलिकता

आचार्य भिक्षु ने यद्यपि महावीर वाणी को ही प्रस्तुत किया। पर उनकी अपनी मौलिकता यह रही कि उन्होंने इसे जनभाषा में लोगों के सम्मुख रखा। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे आत्मतत्त्व और उससे सम्बन्धित गहन तत्त्व किसी भी व्यक्ति को बहुत सरलता के साथ समझा देते थे। यह उनकी श्रेष्ठ प्रतिभा का ही चमत्कार कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए एक दृष्टान्त—एक व्यक्ति ने पूछा—जीव को नरक में कौन ले जाता है? आपने उत्तर दिया पत्थर को नीचे कौन ले जाता है? वह अपने ही भार से नीचे चला जाता है। प्रश्न आगे बढ़ा—जीव को स्वर्ग में कौन ले जाता है? उत्तर मिला—काठ के टुकड़े को जल में कौन तिराता है? वह अपनी लघुता से स्वयं तैरता है। पैसे को पानी में डालो, वह डूब जाएगा। उसी को तपा, पीटकर कटोरी बना लो, वह पानी पर तैरने लगेगी।³² ऐसे एक नहीं, सैकड़ों दृष्टान्तों से 'भिक्षु दृष्टान्त' भरा है।

साध्य और साधन की एकता के विचार को आचार्य भिक्षु ने जो सैद्धान्तिक रूप दिया, वह उनसे पहले नहीं मिलता। शुद्ध साध्य के लिए साधन भी शुद्ध होने चाहिए—इस विचार की उनकी भाषा में जो अभिव्यक्ति मिली, वह उनसे पहले नहीं मिली—यह उनके साहित्य को अध्ययन करने के पश्चात् स्पष्ट हो जाता है। आचार्य भिक्षु ने दो शताब्दी पूर्व कहा था—शुद्ध साध्य का साधन अशुद्ध नहीं हो सकता और शुद्ध साधन का साध्य अशुद्ध नहीं हो सकता। मोक्ष साध्य है और उसका साधन है संयम। वह संयम के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।³³ जिसके मन में दया का भाव उठा उसके लिए दया का साधन है उपदेश और जिसके मन में दया का भाव उत्पन्न करना है उसके लिए दया का साधन है हृदय-परिवर्तन। आत्मवादी का साध्य है मोक्ष—आत्मा का पूर्ण विकास। उसके साधन है सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र।³⁴

आचार्य भिक्षु ने सरल राजस्थानी भाषा में आत्मा या द्रव्यजीवन के स्वरूप को प्रस्तुत किया है—

द्रव्य तो सासतो छे ताहि, ते तो तीनोइ काल रे माहि,
 ते तो विले कदे नहीं होय, द्रव्य तो ज्यूं रो ज्यूं रहसी सोय ॥
 ते तो छेद्यो कदे न छेदावे, भेद्यो पिण कदे नहीं भेदावे,
 जाल्यो पिण जले नाहिं, बाल्यो पिण न बले अगन माहिं ॥
 काट्यो पिण कटे नहीं कोइ, गाले तो पिण गले नाहिं ।
 बांट्यो पिण नहीं बंटाय, घसे तो पिण नहीं घसाय ॥
 द्रव्य असंख्यात प्रदेसी जीव, नित रो नित रहसी सदीव ।
 ते मार्यो पिण मरे नाहि, वले घटे बधे नहीं कांइ ॥
 द्रव्य तो असंख्यात प्रदेसी, ते तो सदा ज्यूं रा ज्यूं रहसी ।
 एक प्रदेश पिण घटे नाहिं, तीनूंइ काल रे माहिं ॥
 खंडायो पिण न खंडे लिगार, नित सदा रहे एक धार ।
 रहवो छै द्रव्य जीव अखंड, अखी थको रहे तूण मंड ॥
 द्रव्य रा भाव अनेक छै ताय, ते तो लखन गुण पर जाय ।
 भाव लखण गुण पर जाय, ए च्यारूं भाव जीव छै ताय ॥
 ए च्यारूं भला नै भूंडा होय, एक धारा न रहे कोय ।
 केइ खायक भाव रहसी एक धार, नीपना पछे न घटे लिगार ॥
 दखे जीव सासतो जाणो, तिण ने संका मूल म आणो ।
 भगोती सातमां सतक रे मांय, दूजे उदेसे कह्यो जिनराय ॥^{३६}

इस प्रकार सरल भाषा में आत्मतत्त्व का वर्णन आचार्य भिक्षु का मौलिक योगदान है। जैसे कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा है—

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विना हु गाहेदुं—जिस प्रकार अनार्य भाषा के बिना अनार्य जन को कुछ भी समझाना संभव नहीं है^{३६} वैसे ही हम कह सकते हैं कि ग्रामीण लोगों को उनकी जनभाषा के बिना समझाना संभव नहीं है। आचार्य भिक्षु ने उसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को समझा व लोगों के समक्ष सरल राजस्थानी भाषा में आत्मतत्त्व जैसा गहन विषय प्रस्तुत किया। इस प्रकार आगमगत आत्मचिंतन का विकास उन्होंने लोक में किया एवं लोकभाषा में प्रस्तुत करके उसे जनसाधारण के लिए सुलभ बना दिया।

जयाचार्य

श्रीमज्जयाचार्य तेरापंथ धर्मसंघ के आचार्य भिक्षु की परम्परा के चतुर्थ आचार्य थे। जो आज भी अज्ञात हैं, साहित्यिक, वैचारिक, बौद्धिक, दार्शनिक और संगठन के जगत् में जो सुविज्ञात नहीं है, उस महान्

व्यक्तित्व की जीवन कथा साम्ययोग की आत्मकथा है। यह आकाश मंडल अज्ञात विभूतियों के वैभव से भरा पड़ा है। अज्ञात अनंत है, ज्ञात बहुत थोड़ा।

जिसकी प्रज्ञा का प्रकाश साहित्य, विचार, चिंतन, दर्शन और संगठनसूत्रों के कण-कण में प्रदीप्त हो रहा है, वह है प्रज्ञापुरुष जयाचार्य। जयाचार्य की जीवन कथा आचार्य भिक्षु की जीवन कथा है। छोटा कद, छरहरा बदन, छोटे-छोटे हाथ-पांव, श्याम वर्ण, दीप्त ललाट, ओजस्वी चेहरा—यह था जयाचार्य का बाहरी व्यक्तित्व। अप्रकम्प संकल्प, सुदृढ़ निश्चय, मनस्वी प्रज्ञा के आलोक से आलोकित अन्तःकरण, कृतज्ञता की प्रतिमूर्ति, अपने गुरु के प्रति सर्वात्मना समर्पित, स्वयं अनुशासित, अनुशासन के जागरूक प्रहरी, संघ-व्यवस्था में समता के प्रवर्तक और प्रयोगकार, महान् भाष्यकार और साहित्यकार, ध्यान के सूक्ष्म रहस्यों के रमज्ञ—यह था जयाचार्य का आंतरिक व्यक्तित्व।

छोटा शरीर बड़े दायित्व के निर्वाह में और बड़ा दायित्व छोटे शरीर की क्षमता में कभी असफल नहीं बना। यह सामंजस्य की कहानी उनकी जीवन कहानी है। आचार्य भिक्षु ने क्रांति की ज्योति जलाई, उसे संभाला आचार्य भारमल्ल और ऋषिराय ने। अखंड ज्योति बनाने का दायित्व अपने पर ओढ़ा जयाचार्य ने। यदि जयाचार्य नहीं होते तो आचार्य भिक्षु की क्रांति को स्थायी आधार नहीं मिलता। यदि जयाचार्य नहीं होते तो आचार्य भिक्षु की श्रुतवाणी को सशक्त भाष्यकार नहीं मिलता। यदि जयाचार्य नहीं होते तो आचार्य भिक्षु के स्वप्न को आकार नहीं मिलता।

जयाचार्य को आचार्य भिक्षु का अवतार कहा जाता है, इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। स्टालिन को मार्क्स की आत्मा का पुनर्जन्म कहा जाता था। स्टालिन का शरीर अपना था, मस्तिष्क मार्क्स का। ऐसे ही यह कहा जा सकता है कि जयाचार्य का शरीर अपना था, दिमाग आचार्य भिक्षु का था। नौ वर्षों की अल्पायु में दीक्षित होकर वे क्षण-क्षण जागरूक हो गए, उन्होंने त्रिगुप्ति की साधना प्रारंभ की। मुनि जीतमल में विनय, विवेक और विचार—तीनों प्रतिस्पर्धी की भांति गतिशील हो रहे थे। उनके आदर्श विचार थे। उनके भीतर हार्दिक भक्ति और बहुमान था, जो जीवन का सर्वोपरि मूल्य होता है, जिसे यह उपलब्ध होता है उसके लिए जीवन की हर प्रवृत्ति अमूल्य बन जाती है। जीवन

मूल्यों को बहुमूल्य बनाने वाली सच्चाई से हम अपरिचित नहीं हैं, फिर भी हर आदमी इसका उपयोग इसलिए नहीं कर पाता कि समर्पण के आदान-प्रदान की अर्हता किसी विरल व्यक्ति की भाग्यलिपि में अंकित होती है।

मुनि जीतमल आत्मज्ञ थे और आगमों का अध्ययन वही करता है जो आध्यात्मिकता में सराबोर हो जाना चाहता है। उन्होंने आगमों का अध्ययन ही नहीं किया अपितु आगमगत आत्मचिंतन का विकास भी किया। आचार्य भिक्षु ने जो साहित्य सूत्ररूप में लिखा, उसे जयाचार्य ने भाष्य रूप में विस्तृत किया। आगमों, टीकाओं, चूर्णियों का अध्ययन तो उन्हें था ही, इसके साथ-साथ उनकी प्रतिभा का भी निदर्शन उनके साहित्य में दृष्टिगोचर होता है।

अनुशासन एवं संघीय व्यवस्था आत्मचिंतन से भिन्न नहीं होती। जयाचार्य ने पदासीन होते ही सर्वप्रथम संघ की आंतरिक व्यवस्था की तरफ दृष्टिपात किया। संघ में अनुशासन को सुदृढ़ बनाया। आत्मानुशासन आये, इसके लिए महनीय प्रयत्न किये। अनुशासन भंग करने पर वे संघ-विच्छेद करने में भी तनिक देरी नहीं करते थे। आत्मानुशासन मर्यादा की मर्यादा है। मनुष्य को अमर्यादा से मर्यादा में जाना होता है और फिर मर्यादा में मर्यादा एक मध्य विराम है। मर्यादा की मर्यादा है—चेतना की जागरूकता। मर्यादा की मर्यादा है—प्रज्ञा, तपस्या और साधना। मर्यादा की मर्यादा है—सौहार्द, शान्ति, सच्चाई और सन्तुलन। मर्यादा की मर्यादा है—अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, सापेक्षता। मर्यादा की मर्यादा है—बाहर की आवाज भीतर तक पहुंचे। भीतर की आवाज बाहर आए, व्यवहार और आचरण को प्रभावित करे। मर्यादा की मर्यादा है—अनुशास्ता तपस्वी हैं, अनुशासित भी तपस्वी हैं। आत्मचिंतन के विकास के दायरे में आत्मानुशासन भी सम्मिलित है। आत्मानुशासन एवं अनुशासन में समन्वय वही कर सकता है जो देश-काल का ज्ञाता हो। आगमों का गहन अध्ययन करने वाला देश काल को सम्यक् रूपेण जान सकता है। इसका सूत्र है—अनुशास्ता अपनी क्षमता, समता और ममता को जगाए। इसी अनुशासन की भूमि दृढ़ करने के लिए जयाचार्य ने मर्यादा-महोत्सव का शुभारम्भ किया।

जयाचार्य आगमों के दोहनकार और भाष्यकार थे। उनकी सफलता का रहस्य था श्रवण, मनन और निदिध्यासन। जयाचार्य की

सफलता का यही रहस्य है कि उनकी श्रुतयात्रा में अर्धविराम मिलते हैं, पूर्णविराम कहीं भी नहीं मिलते। इसीलिए उन्होंने आगमगत चिन्तन का विकास अनेक रूपों में किया।

भगवती जोड़

भगवती सूत्र उपलब्ध जैन आगमों में सबसे बड़ा सूत्र है। उसका ग्रंथमान सोलह हजार श्लोक प्रमाण है। अभयदेवसूरि ने उसकी टीका लिखी। उसका ग्रंथमान अठारह हजार श्लोक प्रमाण है। जयाचार्य ने उसका पद्यानुवाद किया। उसका ग्रंथमान इकसठ हजार श्लोक प्रमाण है। यह राजस्थानी साहित्य का विशालतम ग्रंथ है। इसमें पांच सौ गीतिकाएं हैं। इसका पद्यानुवाद मात्र पांच वर्ष में सम्पन्न हो गया। सारे संघीय कार्यों को करते हुए भी मात्र पांच वर्षों में इतने महनीय कार्य का सम्पादन प्रज्ञा-जागरण के बिना संभव नहीं है। इसे विभिन्न लोकगीतों और रागिनियों में गाया जाता है। तत्त्वविद्या की गहन गुत्थियों को सुलझाने वाला यह ग्रंथ संगीत स्वरों में गुंफित है, यह कितना विचित्र योग है।

भगवती की जोड़ भगवती सूत्र का मात्र पद्यानुवाद ही नहीं है। इसकी रचना शैली के आधार पर इसे भगवती का भाष्य कहा जा सकता है। जयाचार्य ने सूत्रकार, वृत्तिकार तथा सम्बन्धित प्रसंगों पर आचार्यों के अभिमत का अनुवाद तो पूरी दक्षता के साथ किया ही है, उसके साथ-साथ प्रत्येक विवादास्पद विषय पर अपनी ओर से स्वतंत्र समीक्षाएं भी लिखी हैं। समीक्षाएं पद्य और गद्य दोनों शैलियों में लिखी गई हैं। प्रत्येक समीक्षा मननपूर्वक पठनीय है।

भगवती सूत्र में कुछ स्थल ऐसे हैं, जहां तथ्यों का संकेत मात्र है अथवा संक्षेप में वर्णन किया गया है। वहां पाठक के सामने कठिनाई उपस्थित हो सकती है। पर जयाचार्य ने अनेक स्थानों पर यौक्तिक ढंग से उन तथ्यों को विश्लेषित कर दिया है। पांचवें शतक की 97 वीं ढाल की कुछ गाथाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

मूल पाठ के आधार पर वहां एक गाथा है—

सेलेसी मुनि मोटका, चउदसमें गुणठाणे।

अल्पवेदनावंत ते, महानिर्जरा माणे।।

इस गाथा में अस्पष्ट तथ्य को स्पष्ट करते हुए जयाचार्य लिखते हैं—

चउदशमें गुणठाण, अल्पवेदना तसु कही।
 बहुलपणै करि जाण, एहवूं न्याय जणाय छै॥
 मुनि गजसुकमालादि, दीसै तसुं बहुवेदना।
 ते कारण ए साधि, भजना इहां जणाय छै॥
 अथवा दूजो न्याय, कर्मनिर्जरा अति घणी।
 ते देखंतां ताय, अल्पवेदना संभवै॥^{३७}

जयाचार्य को जहां कहीं वृत्तिकार का अभिमत ठीक नहीं लगा, उन्होंने विस्तार के साथ उसकी समीक्षा कर दी। ऐसे अनेकों प्रसंग हैं। अतः यह कहा जा सकता है जयाचार्य ने सात खंडों में प्रकाशित इस बृहद् ग्रंथ में अपनी प्रज्ञा से नये तथ्यों को उद्घाटित किया है।

प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध

इस कृति का दूसरा नाम 'हित शिक्षावली' भी है। इस अपूर्व कृति में जयाचार्य ने गागर में सागर भरने वाली लोकोक्ति को चरितार्थ किया है। यह पद्यबद्ध रचना है। इसमें गीतिकाएं नहीं हैं। केवल दोहे, चौपाइ, सोरठे और कुछ छंदों का प्रयोग हुआ है। इस कृति का निर्माण एक मूर्तिपूजक श्रावक की प्रश्न पत्रिका के आधार पर हुआ। 73 वर्ष की आयु में भी जयाचार्य ने दायित्व समझकर इसकी रचना की। आगमगत चिंतन को लगभग 27 अधिकारों में स्पष्ट किया है। विशेष तौर पर इसमें मूर्तिपूजा की स्पष्टता की गई है। जैसे कि प्रश्न किया गया^{३८}—

कोई कहै पूजा कियां, इह भव विघ्न मिटेह।

तो पूण्य बंध किम नवि कहो? हिव तसुं उत्तर लेह॥

अर्थात् कोई कहता है पूजा करने से इस भव का विघ्न मिटता है तो पुण्य बंध क्यों नहीं कहा? जयाचार्य ने उत्तर देते हुए कहा दृष्टान्त की भाषा में—

चढयो सूर संग्राम में, कर बहु जन संहार।

आव्युं जीत फतै करी, सुजश करै नर-नार॥

यानि कोई शूरवीर संग्राम में बहुत लोगों का संहार करके जीतकर आता है तो लोग उसका यशगान करते हैं तो यह प्रश्न होता है कि वह सावद्य युद्ध करके अशुभ कर्मों का बंधन करता है तो अशुभ कर्म से उसका सुयश क्यों हुआ? यह कहा जा सकता है कि पिछले भव में शुभ योग द्वारा बांधी गई नामकर्म की प्रकृति के कारण ही यश कीर्ति मिली। युद्ध के समय उसके उदय के कारण नर-नारी उसका यशोगान

करते हैं तो लोग समझते हैं कि युद्ध के कारण यह हो रहा है पर वे यह नहीं जानते कि ऐसा पूर्वभव के किये हुए शुभ योग का यह परिणाम है। आगे भी जयाचार्य ने अनेक उदाहरणों द्वारा इस बात को स्पष्ट किया है।

इस प्रकार पूरे ग्रंथ में उनकी शेमुषी प्रतिभा का निदर्शन है। इतने जटिल और गहन विषय को सरल लोकभाषा में समझाना जयाचार्य की अपनी विशेषता है।

झीणी चरचा

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें झीणी यानि सूक्ष्म चर्चा है। इसमें भी तात्त्विक चर्चा है। इसमें जैन सिद्धान्त के अनेक सूक्ष्म और गंभीर तत्त्वों का विश्लेषण है। प्रस्तुत ग्रंथ में जयाचार्य ने छह में कौन? नौ में कौन? इस प्रकार अनेक प्रश्न उपस्थित कर नौ पदार्थों और छह द्रव्यों की पहचान कराई है। झीणी चरचा में मुख्य रूप से आत्मा, भाव, योग, लेश्या, गुणस्थान, अठारह पाप, कर्म, छह द्रव्य और नौ तत्त्व आदि का सापेक्ष किन्तु सम्पूर्ण विवेचन है।

आगमों में जो बात सूत्र रूप में मिलती है, उसी का जयाचार्य ने प्रान्तीय भाषा में विस्तार रूप से, सरलतापूर्वक प्रस्तुतिकरण किया है जिसे सभी प्रकार के लोग समझ सकते हैं। इसके अलावा आत्मा की उज्ज्वलता के लिए अकरणीय, करणीय अथवा हेय—उपादेय का बोध देने वाला यह ग्रन्थ अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है। जैसे—जिन भावों से आत्मा की उज्ज्वलता होती है, वह करणीय है। इसलिए औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशिक भाव करणीय हैं तथा उदय भाव अकरणीय है। आठ आत्मा में उपयोग, ज्ञान और चारित्र उपादेय है, कषाय आत्मा हेय है। इसी प्रकार कर्मों के बन्ध, उदय, सत्ता निष्पन्न आदि पर विस्तार से चर्चा है। तीसरी एवं चौथी गीतिका में यह चर्चा है। नौवीं गीतिका में आत्मा के सम्बन्ध में बहुत सूक्ष्म और व्यावहारिक चर्चा है। जैसे—कौन सी आत्मा वंदनीय है? कौन सी निंदनीय है? किस आत्मा के गुणगान करने चाहिए? किसके नहीं करने चाहिए? भोजन, खेती, व्यापार आदि करने वाली कौन सी आत्मा है। कौन सी आत्मा एकेन्द्रिय है और कौन सी आत्मा पंचेन्द्रिय है? किस आत्मा में किस आत्मा की नियमा और भजना है? इत्यादि। इसमें जयाचार्य ने आगमगत चिंतन का विकास व्यावहारिक चर्चा के द्वारा किया है। उपर्युक्त सभी प्रश्नों के उत्तर में

कहा गया कि योग आत्मा सभी कार्यों को करने वाली है।³⁹ इसके अलावा आत्मा एक, रूप अनेक के अन्तर्गत आत्मा के अनेक कार्यों की चर्चा है।

बीसवीं और इक्कीसवीं ढाल (गीत) चारित्रिक स्थिरता के लिए बहुत उपयोगी है। बहुत बार थोड़ी सी गलती होने पर कोई साधु अधीर हो जाता है अथवा श्रावक भी उसे असाधु मानने लगता है। किन्तु जयाचार्य ने साधुता और असाधुता की स्थिति को इतनी स्पष्टता और विस्तार से विश्लेषित किया है कि मन के सारे संदेह धुल जाते हैं। इसी प्रकार आराधक और विराधक कौन होता है। इस सम्बन्ध में इतना हृदयगामी विवेचन किया है जो साधु-साधवियों को संयम में स्थिर करता है और उन्हें साधुत्व की सीमाओं के प्रति सतर्क करता है। यह विवेचन आगमगत आत्मचिंतन का साधुत्व के क्षेत्र में विकसित रूप है जो जयाचार्य की मौलिक प्रतिभा का निदर्शन है।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण कृति ही आगमिक आधार पर रची गई है और जयाचार्य की ऋतम्भरा प्रज्ञा का संदर्शन है।

आराधना

आराधना नामक कृति में निम्न पांच कृतियां समाविष्ट हैं—1. चौबीसी 2. आराधना 3. ध्यान 4. अध्यात्म पदावली 5. बड़ी चौबीसी।

1. चौबीसी

यह रचना यद्यपि स्तुत्यात्मक है तथापि इसमें आगमिक चिंतन भी समाविष्ट हैं। जयाचार्य ने अपने अनुभव के आधार पर ध्यान के मूलभूत तत्त्वों को प्रस्तुत किया है। आत्मचिंतन का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है ध्यान। श्रीमज्जयाचार्य ने आगमगत ध्यान के तथ्यों को खोजा, उसके प्रयोग अपने ऊपर किये एवं फिर उसे तीर्थकरों की स्तुति के माध्यम से प्रस्तुत किया।

स्तुति के बारे में गौतम ने जिज्ञासा की—भगवन्! स्तवस्तुति मंगल से क्या लाभ होता है।⁴⁰ भगवान ने समाधान दिया—स्तवस्तुति मंगल से मनुष्य को ज्ञान-बोधि, दर्शन-बोधि और चारित्र-बोधि का लाभ होता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें चौबीस तीर्थकरों की स्तुति की गई है। उदाहरणतः—एक पुद्गल दृष्टि थाप नै, कीधो है मन मेर समान कै।⁴¹ पुद्गलों की असाता, कामभोग का परिणाम, स्त्री-संग वर्जन विषयक वर्णन तो लगभग प्रत्येक गीत में मिलता है।

इस कृति में अनुराग से विराग के सिद्धान्त का अनेक बार प्रयोग हुआ है। परम से प्रीति किये बिना काम से प्रीति नहीं छूटती। भगवान् अरिष्टनेमी की शिवरमणी से प्रीति जुड़ गई। राजीमती को उन्होंने छोड़ दिया।⁴⁵ अप्रीति में राजीमती छोड़ी जाती तो वह उनके स्मृति पटल पर बनी रहती। परमप्रीति होने पर उसे छोड़ा। उसे छोड़ने का अर्थ था उसमें अपने जैसे अनंत चैतन्य का अनुभव। अनुभव की धारा से अभिसिक्त इस कृति का अपना मूल्य है।

बड़ी चौबीसी

इसमें भी तीर्थकरों की स्तुति ही है। लगभग छोटी चौबीसी जैसा ही वर्णन है, उसके अतिरिक्त तीर्थकरों के मध्य का कालमान आदि अतिरिक्त वर्णन है।

आराधना

बत्तीस प्रकार का योग संग्रह होता है। वह साधना की दृष्टि से बहुत मूल्यवान् है। मरणान्त समय आराधना करना यह बत्तीसवां योग संग्रह है।⁴² जयाचार्य ने भी इसे मरणान्त आराधना बतलाया है। स्थानांग सूत्र में तीन प्रकार की आराधना का उल्लेख मिलता है—ज्ञान—आराधना, दर्शन—आराधना और चारित्र—आराधना।⁴³ इसका संबंध वर्तमान और आगामी—दोनों जन्मों के साथ जुड़ा हुआ है। जो मनुष्य वर्तमान जीवन में ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सम्यक् आराधना करता है, वह आराधक होकर मरता है और अगले जन्म में पूर्व जीवन से अधिक विकास करता है।

आगमगत चिंतन के आराधक के रूप में प्रस्तुति जयाचार्य की मौलिक सोच का परिणाम है। जीवन की लम्बी अवधि में प्रमाद भी हो जाता है। इस स्थिति में आराधना के क्रम में स्खलना होना भी संभव है। इस संभावना को ध्यान में रखकर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। जहां कहीं प्रमाद, मूर्च्छा आदि के द्वारा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विराधना हो वहां उसका प्रायश्चित्त किया जाए। मृत्यु के आसन्नकाल में इस विषय पर और अधिक जागरूकता से ध्यान दिया जाए। यह आराधना का दर्शन है। दस द्वारों के माध्यम से आत्मचिंतन को बढ़ाया है—1. आलोचना द्वार 2. व्रत उच्चारण द्वार 3. क्षमापन द्वार 4. पापव्युत्सर्ग द्वार 5. चतुःशरण प्रतिपत्ति द्वार 6. दुष्कृत निन्दा द्वार 7. सुकृत अनुमोदना द्वार 8. भावना द्वार 9. अनशन द्वार 10. पंचपरमेष्ठिनमस्कार द्वार।

प्रत्येक द्वार की एक ढाल है और इसमें प्रतिपाद्य विषय अनुभव की वाणियों में प्रस्फुटित हुआ है। आराधना आध्यात्मिक चिकित्सा की पद्धति है। मानसिक चिकित्सा के लिए उपयोगी ये दस द्वार चिकित्सा पद्धति के मूल सूत्र हैं। नामानुसार दसों द्वार आगमगत आत्मचिंतन का ही फल है।

ध्यान प्रकरण

ध्यान आत्मप्राप्ति का मुख्य साधन है। वे ध्यान के सिद्धान्त पक्ष और क्रिया पक्ष—दोनों से परिचित थे। आगमों में यत्र—तत्र उपलब्ध एवं परोक्ष ध्यान सूत्रों को जयाचार्य ने एकत्र करके प्रत्यक्ष प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए मन को एकाग्र करने के लिए 'सोऽहं' पर श्वास प्रवेश एवं निर्गमन के समय चित्त को केन्द्रित करने का निर्देश दिया है। उन्होंने लिखा है—

ध्यान निर्मल चढै जरै गुण घणा प्रगट थाय,
अनै घणा गुण गान करै तिवारै ध्यान निरमल चढै।
तिवारै जेहवो रंग चिंतवै तेहवोई दीसण लाग जावै,
नै इम जाणै श्री भगवंत इज इण ठिकाणे विराज्या है।⁴⁴
भगवान् को देखना अपनी आत्मा को ही देखना है।

अध्यात्म पदावली

इस परिच्छेद में 25 गीतिकाएं, कुछ दोहे और कुछ सोरटे हैं। नाम से ही स्पष्ट है कि अध्यात्म पदावली में आत्मा की ही बात कही गई है। आगमों के पद्यों को अनुवादित करना जैसे—

उवलेवो होइ भोगेसु — अध उपलेप हुवै भोगी रे,
अभोगी नोवलिप्पई — अभोगी तो न लिपायो रे।
भोगी भमइ संसारे — भोगी संसार में भ्रमण करै,
अभोगी विप्पमुच्चई — भोग तज्यां थी मुकायो रे।।

इस जनसाधारणभोग्य अनुवाद में जयाचार्य की मौलिक विशेषता है।

आत्म संबोध

आत्म शिक्षा को मुख्य स्थान देते हुए आत्म संबोध का निर्माण किया गया है। इसमें स्वयं को संबोधित करते हुए सोरटे लिखे गये हैं। रूस के पीटर महान् ने अनुताप के स्वर में कहा था कि मैं प्रजा को सुधारना चाहता हूं, किन्तु स्वयं नहीं सुधर रहा हूं। जयाचार्य ने लिखा—

जीता जनम सुधार, तप जप कर तन पाइयै।
 खिण में हवै तन छार, दिन थोड़ा में देखजै।।
 भू सम जय! गंभीर, निःप्रकम्प मन्दर गिरी।
 हेरै निज गुण हीर, ध्यान सुधारस ध्यान नैं।।
 इस प्रकार यह आत्म संबोध अनूठी कृति है।

ध्यानप्रकरण

ध्यानप्रकरण में मानसिक दुःख की चिकित्सा के अनेक महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं। इसमें इस दुःख की औषधि सीधे-सादे शब्दों में प्रस्तुत की है। कवि ने लिखा है 'आत्मन्! तुझे प्रिय वस्तुएं प्राप्त हैं। यदि उन पर तेरे मन में राग की तरंगे न उठें तो तू सरदार है। यदि तु स्तुति सुनकर फूलता नहीं है और निंदा सुनकर विचलित नहीं होता है तो तेरी बलिहारी है।'⁴⁶

सतत जागरूकता का रहस्य सूत्र प्रस्तुत है—सोते, उठते, बैठते, बोलते और कार्य करते समय तू निरंतर हृदय में समता की स्मृति रख, प्रतिक्षण इसका अभ्यास कर। अभ्यास के प्रभाव से नट रस्सी पर नाट्य करता है। तू नित्य पूरी एकाग्रता से समता का अभ्यास कर, मन अपने आप वश में हो जाएगा।⁴⁷

यह आगमगत आत्मचिंतन का विकास है। आगम में समता का स्वर तो सुनाई देता है पर जयाचार्य ने इसे जागरूकता के सूत्र के रूप में प्रस्तुत कर एक नया चिन्तन दिया है।

उपदेशपद की रचनाओं में रूपक और उपमा के माध्यम से बहुत सुन्दर सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं—सुमतिरूपी देवरानी अपनी कुमतिरूपी जेठानी से अलग होने का संकल्प करती है। चेतनरूप पति के लिए वह शुक्लध्यान का चरखा चलाती है। अपने चेतनरूप पति की पगड़ी के लिए सूत कातती है।⁴⁸ इस जगत् में अनेक क्रीड़ा स्थलियां हैं। नाना प्रकार के खेल और अनेक खिलाड़ी। मोह की क्रीड़ास्थली सबसे बड़ी है। उससे बड़ा है उसका खेल और जादूगर है उसका खिलाड़ी। कवि ने उसका सजीव चित्रण किया है।

उपदेश दिशा दिखाने वाला होता है। शब्दों में शक्ति और उसके पीछे भक्ति का योग होता है। तब अनायास जनमानस आंदोलित हो उठता है।⁴⁹

इस प्रकार उनकी संस्मरणों की भी अनेक कृतियां हैं जिसमें

उन्होंने अपने पूज्य साधुओं के जीवन की घटनाओं को बखूबी प्रस्तुत किया है।

इसके अलावा उन्होंने उत्तराध्ययन की जोड़, आचारांग की जोड़, ज्ञाता की जोड़, अनुयोगद्वार की जोड़, पन्नवणा की जोड़, निशीथ की हुंडी, बृहत्कल्प की हुंडी, व्यवहार की हुंडी, भगवती की हुंडी आदि ग्रंथों की भी रचना की पर संपादित नहीं होने से इस विषय में लिखना संभव नहीं है।

गुरुदेव श्री तुलसी

तेरापंथ की गौरवशाली आचार्य परम्परा में नौवें पट्ट पर विराजे आचार्य श्री तुलसी। अद्भुत शक्ति संपन्न, संकल्प सम्पन्न विचार। एक ऐसा व्यक्तित्व जिसके बारे में लिखना, कहना, सुनना हर किसी के वश की बात नहीं है। आचार्य श्री का व्यक्तित्व उन अणुओं से बना है, जिनमें प्रतिबिम्बित होने की क्षमता है। वे स्फटिक में भी प्रतिबिम्बित हुए हैं और उनमें भी प्रतिबिम्बित हुए हैं जो स्फटिक नहीं है। वे प्रकाश में भी दृश्य हैं और वहां भी दृश्य हैं जहां प्रकाश नहीं है।

आचार्य श्री के व्यक्तित्व की मूल प्रवृत्ति आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक व्यक्ति निश्चित ही अन्तर्मुखी होता है। इस अन्तर्मुखी दृष्टिकोण के कारण आचार्य श्री परिस्थिति के दलदल में कभी नहीं फंसे। परिस्थितियां आयी, अपना प्रभाव भी जताया और अनामंत्रित अतिथि की भांति अपने आप चली गयी। संघर्ष जीवन की नियति है। इस विचार के साथ उनका जीवन चला। अन्तर्मुखी चेतना से प्रभावित मनःस्थिति परिस्थिति को कभी भी प्रभावी नहीं बनने देती।

नीतिशास्त्री W.C. Lusmor ने व्यक्तित्व को तीन भागों में बांटा है—विवेक, पराक्रम और साहचर्य। नीतिशास्त्री ग्रीन ने नैतिक प्रगति के दो लक्षण बतलाए हैं—सामंजस्य और व्यापकता। इसके विकास से मनुष्य अधिकाधिक महान् बनता है। व्यक्तित्व—विकास के लिए अपने आपको स्वार्थ की सीमा से हटाकर, दूसरों से जोड़ देने वाला सचमुच महानता का वरण करता है।

आचार्य श्री का वर्तमान के आलोक में चमकता व्यक्तित्व इसलिए महान् था कि उसे आत्मीयता के महानिलय में परकीयता को विलीन करने का वरदान सहज प्राप्त था। दुनिया स्वार्थी है। वह उसी का व्यक्तित्व स्वीकार करती है जिसके जीवन का उसके लिए उपयोग

हो। जिसमें उच्च प्रतिभा, चरित्रबल और आकर्षण नहीं होता, वह अपने जीवन पुष्प को उपयोग के धागे से नहीं गूँथ सकता। इसलिए व्यक्तित्व का फलित अर्थ किया जा सकता है—प्रतिभा, चरित्र और आकर्षण की असाधारणता।

आचार्य श्री तुलसी संत थे, आचार्य थे, आध्यात्मिक क्रांति के वाहक, नेता और अहिंसक समाज के अग्रणी थे। हमें उनका व्यक्तित्व स्वीकार करने से पहले मुड़कर देखना होगा कि क्या इस भौतिक युग में आपके जीवन का उपयोग है? क्या विद्युत यंत्रों की चकाचौंध में अध्यात्म की किरणें कुछ कर सकेंगी? आचार्य श्री ने जनता के जीवन शोधन के लिए चरित्र का आश्रय नहीं लिया है। आपके सहज जीवन शोधन से ही जनता को उसकी प्रेरणा मिलती है। इसीलिए यह परमार्थ की भूमिका में रहकर भी जन-जीवन को जगाने वाला महायंत्र है। चरित्रबल के बिना अन्न, वस्त्र, मकान आदि से सिर्फ जीवन चल सकता है शान्ति नहीं मिल सकती। मानव का ध्येय पशु की तरह जीवन चलाना ही नहीं होता, उसके लिए शांति और विकास के द्वार खुले रहते हैं। इस तत्त्व को समझने से आचार्य श्री के जीवन का उपयोग समझना बाकी नहीं रहता।

अब्राहम मास्लोव ने मनुष्य समाज को दो भागों में विभक्त किया है—1. निर्वाह आश्रित चेतना वाले (need dependent) 2. आदर्शवादी (self actualization)।

जो सुविधा के साधनों को जुटाने में संलग्न रहते हैं, जिन्हें शारीरिक पीड़ा, धन-हानि या अपमान से उत्पन्न व्यथाएं सताती रहती हैं, वे निर्वाह-चेतना स्तर के होते हैं। जिनकी आकांक्षाएं और प्रवृत्तियां महान् उद्देश्यों के साथ जुड़ी हुई होती हैं, वे आदर्शवादी होते हैं। वे पूर्वाग्रहों से मुक्त रहकर सत्य की खोज में रहते हैं। वे आशावादी होते हैं और कठिन परिस्थिति में भी अपना संतुलन नहीं खोते।

आचार्य श्री में आत्म संकल्प का बल और अहिंसा की आस्था थी। आपमें इस स्थिति का निर्माण आदर्शवादिता के कारण हुआ था। आप स्वयं सुविधावादी नहीं थे और न सुविधावाद को प्रश्रय देते थे। इसीलिए आप अपने आपमें निर्भीक और अपराजेय थे।

आचार्य श्री की अपनी कल्पना में वे पूर्ण नहीं हैं। वे अपने को पूर्णता के पथ का पथिक मानते थे। जैन भाषा में क्रियमाण को कृत कहा

जा सकता है। पूर्णता के पथ पर जिनके चरण बढ़ते हैं, उसे पूर्ण कहा जा सकता है। उनकी अभिनन्दना में आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा—

महापुरुष! विश्वास तुम्हारे जीवन का अन्तर्दर्शन है,
घोर परिश्रम और तुम्हारे जीवन का पहला स्पर्शन है।

आचार्य तुलसी ने आगमगत चिंतन का अत्यधिक विकास किया। उन्होंने हिन्दी, राजस्थानी दोनों ही भाषाओं में प्रतिबोध दिया। सरलता से गाये जाने वाले गीतों के माध्यम से गहन तत्त्व को समझा दिया। इसके अतिरिक्त उनके विचारों में क्रांति का स्वर सुनाई देता है। उन्होंने समाज—क्रांति की, धर्मक्रांति की। समाज में क्रांति पैदा करने का उनका दृढ़ संकल्प समय—समय पर मुखरित होता रहा है—“समाज के जिस हिस्से में शोषण है, झूठ है, अधिकारों का दमन है, उसे मैं बदलना चाहता हूँ और उसके स्थान पर नैतिकता एवं पवित्रता से अनुप्राणित समाज को देखना चाहता हूँ। इसलिए मैं जीवन—भर शोषण और अमानवीय व्यवहार के विरोध में आवाज उठाना चाहता हूँ।”

धर्मक्रांति का स्वरूप शब्दों में इस प्रकार है—“धर्मक्रांति का स्वरूप है—जो न धर्मग्रन्थों में उलझे, न धर्मस्थानों में। जो न स्वर्ग के प्रलोभन से हो, न नरक के भय से। जिसका उद्देश्य हो जीवन की सरलता और मानवीय आचार—संहिता का ध्रुवीकरण। धर्मक्रांति द्वारा उन्होंने धर्म को मंदिर—मस्जिद के कटघरे से निकालकर आचरण के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया है। उन्होंने धर्मक्रांति के पांच सूत्र दिये—

1. धर्म को अन्धविश्वास की कारा से मुक्त कर प्रबुद्ध लोक—चेतना के साथ जोड़ना।
2. रूढ़ उपासना से जुड़े हुए धर्म को प्रायोगिक रूप देना।
3. परलोक सुधारने के प्रलोभन से ऊपर उठकर धर्म को वर्तमान जीवन की शुद्धि में सहायक बनाना।
4. युगीन समस्याओं के संदर्भ में धर्म को समाधान के रूप में प्रस्तुत करना।
5. धर्म के नाम पर होने वाली लड़ाइयों को आपसी वार्तालाप के द्वारा निपटाकर सब धर्मों के प्रति सद्भावना का वातावरण निर्मित करना।⁵⁰

तथाकथित धार्मिकों के जीवन पर व्यंग्य करती उनकी ये

पंक्तियां कितनी क्रांतिकारी हैं—पानी को भी छानकर पीने वाले, चींटियों की हिंसा से भी कांपने वाले, प्रतिदिन धर्मस्थान में जाकर पूजा-पाठ करने वाले, प्रत्येक प्राणी में समान आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने वाले धार्मिकों को जब तुच्छ स्वार्थ में फंसकर मानवता के साथ खिलवाड़ करते देखता हूं तो मेरा अन्तःकरण बेचैन हो जाता है।⁵¹

यह क्रांतवाणी उनके क्रांत व्यक्तित्व की द्योतक ही नहीं, वरन् धार्मिक, सामाजिक विकृतियों एवं अन्धरूढ़ियों पर तीव्र कटाक्ष एवं परिवर्तन की प्रेरणा भी है। ऐसा तभी हो सकता है जब उनके समक्ष धर्म का आगमिक चिंतन रहा हो। उन्हीं के आधार पर उनका यह दृष्टिकोण दृष्टिगोचर होता है।

सत्यं, शिवं सुन्दरं की स्थापना के लिए साहित्य की आवश्यकता रहती है। साहित्य मानसिक खाद्य होता है अतः वह सोदेश्य होना चाहिए। अनेक प्रसिद्ध साहित्यकारों ने साहित्य के उद्देश्य पर स्वविचारों का प्रकटीकरण किया है। आचार्य तुलसी के साहित्य में सभी उद्देश्यों की पूर्ति एक साथ होती है। क्योंकि उन्होंने कलम एवं वाणी की शक्ति का उपयोग सही दिशा में किया है। उनका लेखन एवं वक्तव्य लोकहित के साथ आत्महित से भी जुड़ा हुआ है। उन्होंने अनेक बार कहा—आत्मभाव का तिरस्कार कर यदि साहित्य का सृजन या प्रकाशन होता है तो वह मुझे प्रिय नहीं होगा।⁵²

आचार्य तुलसी के चिंतन का विकास उन्हीं के शब्दों में परिलक्षित हो रहा है—“तीर्थकरों ने कितना ही कुछ खोज लिया हो, आपकी खोज बाकी है। आपके सामने तो अभी भी सघन तिमिर है। आप प्रयत्न करें, किसी के खोजे हुए सत्य पर रुकें नहीं क्योंकि वह आपके काम नहीं आएगा।⁵³ वे एक संगोष्ठी में लोगों की विचार-चेतना को जागृत करते हुए कहते हैं—महावीर ने जो कुछ कहा वही अन्तिम है, उसके आगे कुछ है ही नहीं—इस अवधारणा ने एक रेखा खींच दी है। अब इस रेखा को छोटा करने या मिटाने का साहस कौन करे?⁵⁴

उनके साहित्य को पढ़ते समय ऐसा महसूस होता है कि प्राचीन संस्कारों एवं परम्पराओं से बंधे रहने पर भी युग को देखते हुए उसमें परिवर्तन लाने एवं नवीनता को स्वीकारने में वे कहीं भी नहीं हटे हैं। उनका स्पष्ट कथन है—“प्राचीनता में अनुभव, उपयोगिता, दृढ़ता और धैर्य का एक लंबा इतिहास छिपा है तो नवीनता में उत्साह, आकांक्षा,

क्रियाशक्ति और प्रगति की प्रचुरता है।⁵⁵ इससे स्पष्ट है कि आगमगत आत्मचिंतन के विकास में उनका अमूल्य एवं अविस्मरणीय योगदान है।

आचार्य तुलसी के प्रवचनों में तो हमने उनके आत्मचिंतन की मौलिकता को स्वयं सुना है। वह भी लगभग साहित्य में निबद्ध है। इसके अतिरिक्त उनके गीतों एवं दूसरे साहित्य को देखने से लगता है कि वे अपने किस्म के विरले ही व्यक्तित्व थे।

उनके द्वारा रचित गीतों में आगमिक आत्मचिंतन को आधार बनाकर जो मौलिक चिंतन है, वह दिखाई देता है। कितना जीवंत चिंतन है—

भवि भव—भव अभिनव वेश धरै, पुद्गल नट स्युं मिल नृत्य धरै।
कहिं लडै मरै, झड़ पडै अरे! ओ नाटक है साकार।⁵⁶

इसी दृश्य को देखते हुए वे फिर गाते हैं—

मैं अब भी समझ न पायो भायां! ओ के है संसार।
क्यूं बणो बावलो इण में मानव खोवै अपणो सार।⁵⁷

लगभग हर गीत के अन्त में वे आगमिक उदाहरण देकर समझाते हैं। इसी प्रकार अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संवर आदि सभी भावनाओं पर गीतों के माध्यम से उनके चिंतन का दर्शन होता है। सारे ही उदाहरणीय हैं। पर सभी का उदाहरण संभव नहीं है। केवल एक ही उदाहरण जो उन्होंने संसार भावना के अंतिम पद्य में दिया है—

भविजन! अब तो मन समझावो, जो जग स्युं छुटकारो चावो।
'तुलसी' शालिभद्र पथ पावो, यूं संसार—भावना गुरु उपकार में रे।

पंच समिति व तीन गुप्ति पर चली हुई उनकी लेखनी दर्शनीय है। ईर्यासमिति—

बरजी दशूं बोल हास कितोल पंथ में,
बातां रमझोल ठट्टाठोल पंथ में।
थानै करै है मनाही माता ईर्यासमिति।
ईर्या समिति में सजग रहो श्रमण सती!
पग—पग पक्की जयणा राखो झांको पंथ प्रती,
पंथ प्रती कोइ चूको मती।⁵⁸

एक उदाहरण मनस्तुति का—

दोरो हटावणो है मन स्युं विकार नै,
एक मन नै जीतणो है जीतणो संसार नै
साचो ओ आगम रो बोल।।

आंकणो है संयम रो मोल, मुट्टी में मनडै नै राखज्यो ।

ल्यो अपणी आतमा नै तोल, मुट्टी में मनडै नै राखज्यो ।^{९९}

उनके गीत साहित्य को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि आगम के एक छोटे से सूत्र का आलम्बन लेकर उन्होंने जो विस्तार किया है वह उनकी अपनी प्रज्ञा का निदर्शन है। उन्होंने पूर्वाचार्यों एवं आख्यानों को जो पद्यबद्ध किया है, उन सबमें भी उनकी मौलिकता का दर्शन होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने जिन-जिन गुणों का उल्लेख किया है, वे गुण उन्हीं के भीतर विद्यमान हैं। तभी वे उन गुणों का उल्लेख कर पायें हैं।

साधना के क्षेत्र में उतरना है तो बोध आवश्यक है। बोध के बिना साधना कैसी होगी? कैसे होगी? बोध के पहले और पीछे के तत्त्व हैं—सम्यग् दृष्टिकोण और सम्यक् आचरण। सम्यग् दृष्टिकोण के अभाव में बोध और अबोध की निष्पत्ति में अधिक अन्तर नहीं रहता। इस विषय की अनुभूत वाणी है—

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः, प्रभवः स्मयदूषिताः ।

अबोधोपहताश्चान्ये, जीर्णमंगे सुभाषितम् ॥

विद्वान् व्यक्ति मात्सर्य से भरे हुए हैं। शक्तिसंपन्न व्यक्ति अहंकार से दबे हुए हैं। शेष लोग अबोध-अज्ञान से प्रताड़ित हैं। ऐसी स्थिति में सुभाषित साहित्य का अंकन कौन करे? अंकन के अभाव में वह अपने ही शरीर में जीर्ण हो जाता है।

बोध्य और बोधक—दोनों पक्षों द्वारा मन से किया हुआ पुरुषार्थ सार्थक हो सकता है। नवदीक्षित साधु-साध्वियों को दीक्षा के अनन्तर कैसा बोध मिलना चाहिए—इसी दायित्व का चिंतन करते हुए आचार्य तुलसी ने बोधत्रय की रचना की है—संस्कार बोध, आचार बोध और व्यवहार बोध। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है—संस्कार बोध में अनेक उदाहरणों से अच्छे संस्कारों को संजोया गया है। आचार बोध में आचारपरक शिक्षा है एवं व्यवहार बोध में व्यावहारिक ज्ञान है। ये केवल साधु वर्ग के लिए ही नहीं अपितु गृहस्थ वर्ग के लिए भी कम उपयोगी नहीं है।

उदाहरण द्रष्टव्य है—

जीवन में संस्कार का, सबसे ऊंचा स्थान ।

करता संस्कारी श्रमण, अपना अनुसंधान ॥

अर्थहीन आलोचना, विकथा निन्दा हास ।
 अति उत्सुकता आदि से, बचने का अभ्यास ।⁶⁰
 निस्संकिय रखना दृढ़ निष्ठा, श्री वीतराग गुरु वचनों पर ।
 निक्कंखिय पर मत वांछा क्यों, अतिरेक देख बाह्याडम्बर ॥
 बोलना सुविचारपूर्वक विरत रहना क्रोध से,
 लोभ, भय का हास्य का अलगाव अन्तर बोध से ।
 सत्यव्रत की भावना अभ्यास से स्थिरता बढे,
 और शाश्वत साधना के शिखर पर चेतन चढ़े ॥⁶¹
 है निरवद्य मधुर मित वाणी, कार्यसाधिका कल्याणी ।
 विषभावित तलवार जीभ है, वही सुधा की सहनाणी ॥
 जो संकल्प विकल्पों के वश, काम निवारण नहीं करे ।
 कैसे श्रमण धर्म का पालन, पग-पग जो अवसाद वरे ॥⁶²

इन सबके अतिरिक्त केवल उनकी एक कृति का ही उल्लेख मैं करना चाहती हूँ। जिसका नाम है 'आत्मा के आसपास'। नाम से ही स्पष्ट है कि उसमें आत्मा संबंधित विचारों का ही उल्लेख होगा। इस पुस्तक में तीन काव्य हैं—अर्हत्वाणी, अध्यात्म पदावली, प्रेक्षा संगान। सर्वप्रथम मंगलाचरण के रूप में अनेकांत दृष्टि की जयकार है—

अनेकांतो विजयते, शाम्यते येन विग्रहः ।

अविग्रहस्तु सिद्धः स्यात्, सिद्धस्य सरणिर्नयः ॥⁶³

तत्पश्चात् बड़े ही सरल, सुबोध तरीके से राष्ट्रभाषा में नय का वर्णन किया है। इसके पश्चात् शुरु होता है आयारो का हिन्दी पद्यानुवाद—
 कोऽहं? अरे! कहां से आया?

और कहां जाऊंगा?

नहीं ज्ञान यह सबको होता

कैसी स्थिति पाऊंगा?

स्वयं—स्वयं की जातिस्मृति से

अथवा ज्ञानी के मुख से सुन

ज्ञात हुआ—संसरणशील मैं

सुख का दुःख का वरणशील मैं

दिग—दिगन्त संचरणशील मैं

मैं उपपात—मरणधर्मा हूँ, कृतकर्मा हूँ

मैं अतीत में था, अब हूँ
भविष्य में बना रहूंगा
सोऽहं सोऽहं का संगानी
वही प्रत्यभिज्ञा—सन्धानी
आयारो की अर्हत्—वाणी।⁶⁴

पणया वीरा महावीहिं का अनुवाद—

समर्पित सर्वात्मना आमरण त्रिकरण योग से,
मोहजय के महापथ पर प्रणत बन्ध—वियोग से
अनवरत चलता चले रुकना न जाने
अहिंसा को कायरों का पथ न माने
वही वीर है अभिनव पौरुष का वरदानी
आयारो की अर्हत्—वाणी।⁶⁵

किं ते जुञ्जेण बज्जओ? जुद्धारिहं खलु दुल्लहं (5/45, 46)
का पद्यानुवाद किया—

समर अगर करना हो कर तू
अंतरंग अरि को संहर तू
दुर्लभ समर योग्य सामग्री
पोर—पोर में पौरुष भर तू
बनना है उदग्र अभियानी
आयारो की अर्हत्—वाणी।⁶⁶

अध्यात्म पदावली में नामानुसार आत्मा के स्वरूप का बोध
कराने वाले पद्य हैं। शुरुआत होती है—

मूल स्रोत है धर्म का, आत्मा की पहचान।
एके साधे सब सधे, यही परम विज्ञान।।
आत्मा की अनुभूति में, बाधक एक विकार।
घटक उभय उसके प्रखर, अहंकार ममकार।।
आत्मा का अस्तित्व बताते हुए कहा—
भाव पारिणामिक रहा, आत्मा का अस्तित्व।
क्षयोपशम औदयिक है, उसका स्फुट व्यक्तित्व।⁶⁷

इस प्रकार पांच भावों का समवाय, सुख की चाह—सुखाभास,
अनासक्ति चैतन्य के तीन रूप, अध्यवसाय, लेश्या, चित्त—तंत्र, मन—तंत्र,
आश्रव और संवर, ज्ञाता—द्रष्टा भाव, सन्तुलन कर्म और अकर्म का,

अध्यात्म, नैतिकता, पहला सुख संस्कार—परिवर्तन, कर्म परिणतियां, अनासक्ति की साधना—इन विषयों पर संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट विचारों का प्रकटीकरण है।

तीसरी कृति प्रेक्षा संगान में प्रेक्षाध्यान में ध्यान, लेश्या आदि का पद्यबद्ध विस्तृत वर्णन है।

आचार्य तुलसी की कृति मनोनुशासनम् में मन के विषय में लिखा है। सात प्रकरणों में मन के विषय में आसन, प्राणायाम, योग, अनुप्रेक्षा, ध्यान, धारणा, व्युत्सर्ग, वायु—विजय, महाव्रत आदि पर विस्तार में मन महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। आत्मा तक पहुंचने के लिए मन को अनुशासित करना परमावश्यक है।

आचार्य तुलसी ने अपने साहित्य में आत्मप्राप्ति के पथ के आवश्यक पाथेय का वर्णन सरल, सुबोध, प्रांजल भाषा में किया है। आप्तपुरुष ने अपनी संपूर्ण कृतियां आत्मचिंतन की धारा में ही लिखी हैं। मोक्ष हेतु आवश्यक तत्त्व नैतिकता की लौ जलाने के लिए अणुव्रत का प्रवर्तन, उसी के प्रायोगिक रूप प्रेक्षाध्यान की शोध एवं संस्कार—निर्माण या सर्वांगीण विकास का आधार जीवन— विज्ञान का अवदान आचार्य तुलसी की आत्मज्ञता के ही परिणाम हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आगम के प्रति गहरी आस्था रखने वाले आचार्य तुलसी के आत्मप्रेम ने तत्कालीन युग को एक नयी राह दिखाई है।

आचार्य महाप्रज्ञ

अस्तित्व बिम्ब है और व्यक्तित्व प्रतिबिम्ब। मनुष्य प्रतिबिम्ब को देखता है, बिम्ब को नहीं। वस्तुतः बिम्ब को देख पाना सहज—सरल भी नहीं है। हम वही देखते हैं, जो प्रतिबिम्बित होता है। दर्पण में प्रतिबिम्ब उभरता है, व्यक्तित्व की प्रतिभा भी वैसी ही प्रस्तुत होती है। महाप्रज्ञ के व्यक्तित्व की पहचान के लिए उनके जीवन का आदि बिन्दु खोजना होगा। बचपन में ही संन्यासी ने इस बालक के सिर पर हाथ रखकर कहा—यह बालक योगीराज होगा। शैशवावस्था में पीनियल ग्लेण्ड के स्थान पर चोट लगने से उनकी प्रज्ञा का स्थान खुल गया। अन्तश्चेतना का जागरण हो गया।

गुरुकृपा प्राप्त हुई। प्रकृति से ऋजु, सौम्य, भद्र महाप्रज्ञ पहले मुनि नथमल थे। प्रज्ञा का जागरण हुआ, वे महाप्रज्ञ बन गए। आचार्य महाप्रज्ञ एक ऐसे व्यक्तित्व का नाम है, जो शिखरों से कम की यात्रा

पसन्द नहीं करते। बालपन में सहमते हुए टेढ़े-मेढ़े कदम रखने वाले मुनि नथमल का नामकरण आचार्य कालूगणी ने किया—बंगू। पर जब भी कोई बंगू को खोजने गया तो पाया कि वे आचार्य तुलसी की पाठशाला में सर्वोच्च स्थान पर साधिकार आसन जमाये बैठे हैं। बालपन में 'सि' विभक्ति पर उखड़ने वाले पैर समझ के शिखर पर पहुंचकर आज अंगद के पैरों की तरह अपने स्थान पर ऐसे जम गये हैं कि उन्हें कोई हिला नहीं सकता। आज वे समाधान के शिखर पर हैं। व्यष्टि से लेकर समष्टि, शरीर से लेकर आत्मा और इसी तरह आवरण से लेकर पर्यावरण तक के लिए उठने वाली समस्याओं, जिज्ञासाओं एवं तर्कणाओं के समाधान की कुंजी उनके पास है।

नाम केवल सामान्य परिचय के लिए ही होता है, उसका उससे अधिक कोई मूल्य नहीं—उक्त कथन एक अंश में सही हो सकता है, सर्वांश में नहीं। पहले उनका नाम मुनि नथमल था। उनके कर्तृत्व की सैकड़ों घटनाएं उसी नाम के साथ जुड़ी हुई हैं। लम्बे समय के पश्चात् इस नाम ने अंगड़ाई ली तो ऐसी कि नथमल से सीधे महाप्रज्ञ बन गए।

मुनिकाल में आचार्य महाप्रज्ञ धर्मसंघ के उत्कृष्ट चिंतक और दार्शनिक संतों में से एक थे। उनकी व्याख्यानशैली इतनी उच्च थी कि सामान्य जनता तो समझ नहीं पाती थी। वे दार्शनिक भाषा में अनुभवसिद्ध बातें बोलते थे। आज स्थिति यह बन गई कि अन्य किसी के व्याख्यान में रुचि न लेने वाले आचार्य महाप्रज्ञ के व्याख्यान का श्रवण अवश्य करते हैं। आज वे उच्च से उच्च दार्शनिक तत्त्व को इतनी सरलता से व्याख्यायित कर देते हैं कि उनकी दार्शनिक गरिष्ठता का पता ही नहीं लग पाता। वस्तुतः वह सहज सुपाच्य भोजन की तरह गले उतर जाता है। कहना चाहिए कि आचार्य महाप्रज्ञ जी वर्तमान युग के एक शीर्षस्थ व्याख्यानदाता बन गए हैं।

गुरुदेव के विचारों को क्रियान्वित करने के लिए महाप्रज्ञ जी सदैव आगे रहे हैं। गुरुदेव के मन में जैन आगमों के संपादन का विचार आया। मुनि नथमल को उसमें मुख्य रूप से नियोजित किया। आज उनके द्वारा संपादित आगम प्रकाश में आ गए हैं। वे विद्वज्जनों द्वारा बहुमान्य हो चुके हैं। उनकी संपादन क्षमता आज देशी और विदेशी अनेक विद्वानों की मुखर प्रशंसा प्राप्त कर चुकी है।

आगम व्याख्याकारों में भाष्यकारों का स्थान बहुत प्राचीन और

सम्मानार्ह माना जाता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने भाष्यकारों में भी अपना नवीन उच्च स्थान बना लिया है। 'आचार्य' जैनागमों में सर्वाधिक प्राचीन और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। द्वादशांगी में वह प्रथम अंग के रूप में विराजमान है। किसी भी प्राचीन भाष्यकार ने उसे अपनी लेखनी का विषय नहीं बनाया। जो अन्य किसी ने नहीं किया, वह अर्वाचीन भाष्यकार महाप्रज्ञ जी ने किया। प्रांजल संस्कृत भाषा में विषय का वैज्ञानिक पद्धति से विशद विवेचन उस भाष्य की अपनी विशेषता है। विद्वद् गोष्ठी में समीक्षार्थ जब उसका सूमहिक पाठ किया गया तो सभी ने हर्षोल्लासित नेत्रों से उसको अभिनन्दनीय ग्रन्थ माना।

आचार्य महाप्रज्ञ का व्यक्तित्व बहुआयामी है। कहा जा सकता है कि वे हर आयाम के उच्चशिखर पर विराजमान हैं। उनकी साधारणता भी अपने आपमें असाधारणता लिए हुए है। दिगम्बराचार्य विद्यानन्द जी कहते हैं—मैं उन्हें जैनन्याय का राधाकृष्णन मानता हूँ। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं कि वे आज के विवेकानन्द हैं। अनेक अन्य विद्वानों, मनीषियों की भी उनके विषय में ऐसी ही उच्च धारणाएं हैं और वस्तुतः वे उनके पात्र भी हैं।

यह तो सिर्फ उनके व्यक्तित्व का दिग्दर्शन मात्र है। वह भी अति संक्षेप में है।

अब हमें आगमगत आत्मचिंतन के विकास में उनके योगदान की चर्चा करनी है। यद्यपि आचार्य महाप्रज्ञ जी का सारा साहित्य ही आगमों को आधार बनाकर लिखा गया है। अतः उनकी एक-एक पंक्ति का उल्लेख करना संभव नहीं हो सकता। केवल पुस्तकों का नाम ही पर्याप्त है। नाम से ही उनका परिचय मिल जाएगा। मात्र भगवती भाष्य एवं आचारांग भाष्य पर ही मैं चर्चा करूंगी। उनकी पुस्तकों का नाम निम्नलिखित है—

मन के जीते जीत, आभामण्डल, किसने कहा मन चंचल है, जैन योग, चेतना का ऊर्ध्वारोहण, एकला चलो रे, मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि, अपने घर में, एसो पंच गमोक्कारो, मैं हूँ अपने भाग्य का निर्माता, समस्या को देखना सीखें, नया मानव : नया विश्व, भिक्षु विचार दर्शन, अहम्, मैं : मेरा मन : मेरी शांति, समय के हस्ताक्षर, आमंत्रण आरोग्य को, महावीर की साधना का रहस्य, घट-घट दीप जले, अहिंसा तत्त्व दर्शन, अहिंसा और शान्ति, अस्तित्व और अहिंसा, मन का कालाकल्प, चित्त

और मन, कर्मवाद, विचार को बदलना सीखें, संभव है समाधान, मनन और मूल्यांकन, जैन दर्शन और अनेकान्त, शक्ति की साधना, जैन धर्म : अर्हत् और अर्हताएं, धर्म के सूत्र, अमूर्त चिन्तन, संबोधि, अश्रुवीणा (संस्कृत), जैन दर्शन मनन और मीमांसा, तब होता है ध्यान का जन्म, अध्यात्म का प्रथम सोपान : सामायिक, अपना दर्पण : अपना बिम्ब, महावीर का पुनर्जन्म आदि। प्रत्येक पुस्तक अपने आपमें शोधग्रंथ है। उसकी प्रत्येक पंक्ति जीवन की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती है। इसके पीछे उनकी आगम—मंथन से मंथित गहराई ही है। उनका चिन्तन कितना गहरा है—यह उनके साहित्य का अध्ययन करके ही जाना जा सकता है।

भगवती भाष्य

भगवती सूत्र के पर ही भाष्य प्रकाशित हुआ है। आठ शतकों के मूल पाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद एवं भाष्य है। भाष्य में तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर दर्शनशास्त्र, आचारशास्त्र, जीवविद्या, लोकविद्या, सृष्टिविद्या, परामनोविज्ञान आदि अनेक विषयों पर गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। जीव और पुद्गल का सम्बन्ध शरीर—धारण, आहारग्रहण, कर्मबंध, कर्मविपाक आदि रूपों में होता है। इस प्रसंग में जीवविद्या और कर्मविद्या के अनेक नये पक्षों पर विचार विमर्श हुआ है। एक जीवन से दूसरे जीवन के मध्य होने वाली गति (अन्तराल गति), पुनर्जन्म आदि विषयों की सूक्ष्म मीमांसा उपलब्ध है। गर्भविद्या के सूत्रों की तुलना आयुर्वेद के मौलिक ग्रन्थों से होती है। जीवविज्ञान (Biology) और पुद्गल विज्ञान (Physic) के अनेक पहलू विस्तार से चर्चित हैं। आचार के अनेक पक्षों का भी सूक्ष्म विवेचन है।

चलमान—चलित, लोक और अलोक, अनादि—अनन्त, आकाश और काल, योग और वीर्य, क्रियावाद, तेजोलेख्या, वायुकाय के जीवों द्वारा श्वसन क्रिया, भाषा—अभाषा आदि विषयों का तात्त्विक महत्त्व तो है ही, पर साथ ही वे उस युग के दार्शनिक विचारों की झलक भी प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ को समग्र दृष्टि से भारतीय वाङ्मय का अप्रतिम ग्रंथ कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी।

पूरे भाष्य का आत्मतत्त्व के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करने से अनुभव होता है कि भगवती सूत्र में निबद्ध आत्मतत्त्व जैसे गहन तत्त्व को आचार्य महाप्रज्ञ ने आधुनिक विज्ञान के साथ जोड़कर अति सरल भाषा

में प्रस्तुत किया है, जो कि उनकी अमूल्य देन मानी जा सकती है।

आचारांग भाष्य

आचारांग सूत्र पर भाष्य लिखना कोई मामूली बात नहीं है। आत्मा का प्रतिपादक सूत्र है आचारांग। उसका प्रत्येक सूत्र आत्मा ही की परिक्रमा करता है। ऐसे आचारांग सूत्र पर आचार्य महाप्रज्ञ जी ने जो भाष्य लिखा है, वह उनकी मौलिक एवं अपूर्व देन कही जा सकती है। उसका अध्ययन ही उसकी उपयोगिता का प्रमाण है। उसके विषय में आचार्यवर का कहना है—महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया, वह विशुद्ध रूप में आध्यात्मिक धर्म है। उसका आरम्भ बिन्दु है आत्मा का संज्ञान और चरम बिन्दु है—आत्मोपलब्धि या आत्म साक्षात्कार।

पर्यावरण की दृष्टि से प्रस्तुत आगम का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। समता और आत्मतुला—ये दोनों सूत्र आत्मा के प्रतिपादक सूत्र होने के साथ-साथ पर्यावरण के प्रदूषण से बचाव करने के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस—जीवों के ये छहनिकाय हैं। इनके अस्तित्व को अस्वीकार करने का अर्थ होगा अपने अस्तित्व का अस्वीकार। इनके अस्तित्व को मिटाकर कोई भी व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक नहीं रह सकता।

आचार्य महाप्रज्ञ ने हिंसा का मुख्य साधन बताया है परिग्रह को। आधुनिक अर्थशास्त्रीय अवधारणा ने हिंसा को प्रोत्साहन दिया है। अर्थशास्त्रीय अभिमत है अर्थ के प्रति राग उत्पन्न करो। महावीर कहते हैं—पदार्थ के प्रति विराग उत्पन्न करो। इसकी भी बहुत जीवन्त व्याख्या आचार्य महाप्रज्ञ ने की है।

महावीर ने असंग्रह का जो सिद्धान्त दिया वह जनसंख्या के आधार पर नहीं दिया। उन्होंने मानवीय मनोवृत्ति और संग्रह के परिणामों को ध्यान में रखकर असंग्रह अथवा इच्छा-संयम का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। यही महान् भय है कि मनुष्य पदार्थ की परिक्रमा कर रहा है। इसके साथ ममत्व 'यह मेरा है'—इस मनोवृत्ति को गाढ़ कर रहा है। यही दुःख का मूल है।

हिंसा परिणाम है, उसका मूल हेतु है—परिग्रह। परिग्रह की समस्या को सुलझाओ, हिंसा की समस्या स्वतः सुलझ जाएगी। हिंसा के पत्र-पुष्प पर ही प्रहार मत करो, उसकी जड़ पर भी प्रहार करो। जितना मेरापन कम, उतनी हिंसा कम। जितना अधिक, उतनी हिंसा अधिक।

यह सूत्र अहिंसा का महाभाष्य है।

इस आगम में केवल अहिंसा का ही नहीं, परिग्रह और अपरिग्रह के विषय में भी सिद्धान्त स्थापित किये गए हैं। उन पर आचार्य महाप्रज्ञ ने जो भाष्य लिखा है, वह सचमुच महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य महाप्रज्ञ जी की जन्मकुंडली को देखकर ज्योतिषी ने उनके जीवन की अनेक बातें बताई हैं। मैं केवल एक बात उद्धृत करना चाहती हूँ। कहा गया कि उनका शुक्र केवल सप्तमेश ही नहीं, वह द्वादशस्थान का स्वामी भी है। द्वादश स्थान शाश्वत जीवन का, अदृश्य सत्ता की आस्था का, विश्व के रहस्य का, अदृश्य आत्मा का, विषय के प्रति विराग और इच्छा-संयम का स्थान है। ऐसे स्थान का स्वामी शुक्र अध्यात्म और धर्म के स्वामी चन्द्रमा से संयुक्त हुआ है। इसी योग ने नथमल जी को मुनि बनने के लिए प्रेरित किया है। यही योग उन्हें अदृश्य और शाश्वत सत्य की खोज में प्रेरित कर रहा है। यही योग है जो उन्हें दर्शन के गूढ़ तत्त्वों को आत्मसात् करवा रहा है और यही योग है, जिसके कारण वे एक दिन देहमान से या देह-अध्यास से मुक्त होकर आत्मचेतना या Self Consciousness में रहने की स्थिति में आ जाएंगे। इस योग वाले व्यक्ति का अंतिम लक्ष्य अपने आत्मतत्त्व को पा लेना, अपनी आत्मा या अदृश्य शक्ति से साक्षात्कार कर लेना ही होता है। इसलिए इस योग के कारण वे अनन्त पथ के यात्री हैं जो अपनी आस्था, अपनी निष्ठा और अपनी साधना के बल से आत्मसाक्षात्कार करके ही चैन अनुभव करते हैं। इस योग वाला व्यक्ति देश, काल, समाज और सम्प्रदाय की सीमाओं से बहुत ऊपर होता है और एक वक्त आता है जब उसका जागृत चैतन्य और उसकी विमुक्त आत्मा सभी लौकिक, सामाजिक या साम्प्रदायिक बन्धन से मुक्त हो जाती है। वह असीम हो जाता है। यह योग एक प्रबलतम योग है। भोग और राग को देने वाली लौकिक दृष्टि का यही योग विराग और अतीन्द्रिय दृष्ट सत्य की आस्था की उपलब्धि कराता है। अतः मुनि नथमल जी का वर्तमान जीवन की तुलना में शाश्वत जीवन के प्रति आस्था बढ़ेगी, उन्हें आत्मलब्ध सत्य का एक दिन साक्षात्कार होगा और अंतस् के प्रति उनकी विमुक्तता उन्हें एक दिन केवल दार्शनिक रूप में ही नहीं अपितु आत्मतत्त्व के द्रष्टा के रूप में लोक में स्थापित करेगी।

इस प्रकार यह तो उनकी जन्म कुंडली का एक ही पहलू है जो

केवल उनके अतीन्द्रिय द्रष्टा एवं आत्मसाक्षात्कार करने वाले के रूप में उन्हें प्रतिपादित करता है। यह बात वर्षों पहले कह दी गई। आज वे आत्मसाक्षात्कार कर चुके हैं एवं उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह अपने अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति ही दी है। अतः समग्र दृष्टिकोण को लेकर हम कह सकते हैं कि आचार्य महाप्रज्ञ जी का आत्मतत्त्व के परिप्रेक्ष्य में जो योगदान है, वह अमूल्य है एवं अनुभवपूर्ण है।

इसके अलावा मैं एक बात की चर्चा करना भी नहीं भूल सकती हूँ। महाप्रज्ञ जी ने आगमगत आत्मचिंतन के विकास में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, वह है प्रयोगात्मक दृष्टिकोण। आत्मसाक्षात्कार केवल आगमगत आत्मचिंतन के अध्ययन से ही नहीं होता बल्कि जब उनको प्रयोगों के माध्यम से अपने जीवन में उतारा जाए तो ही आत्मा की उपलब्धि हो सकती है। इसके लिए उन्होंने दिया—प्रेक्षाध्यान; जो आगमों का ही नवनीत है, जिसमें छिपा है भगवान् महावीर द्वारा की गई साधना का रहस्य। प्रेक्षाध्यान ध्यानाभ्यास की एक ऐसी पद्धति है जिसमें प्राचीन दार्शनिकों से प्राप्त बोध एवं साधनापद्धति को आधुनिक वैज्ञानिक संदर्भों में प्रतिपादित किया गया है। इन दोनों के तुलनात्मक विवेचन के आधार पर आज युग मानस को इस प्रकार प्रेरित किया जा सकता है जिससे मनुष्य के पाशविक आवेश तिरोहित हो एवं विश्व में अहिंसा, शान्ति और आनन्द के प्रस्थापन के मंगलमय लक्ष्य की संप्राप्ति हो सके।

प्रेक्षा शब्द ईक्ष धातु से बना है। इसका अर्थ है देखना। प्र + ईक्षा—प्रेक्षा। इसका अर्थ है गहराई में उतरकर देखना। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—संपिक्खए अप्पगमप्पएणं—आत्मा के द्वारा आत्मा की संप्रेक्षा करो, मन के द्वारा सूक्ष्म मन को देखो, स्थूल चेतना के द्वारा सूक्ष्म चेतना को देखो। 'देखना' ध्यान का मूल तत्त्व है। इसीलिए उस ध्यानपद्धति का नाम प्रेक्षा रखा गया है।

आचारांग सूत्र में जानने देखने का सिद्धान्त है। देखना वह है, जहां केवल चैतन्य सक्रिय होता है। जहां प्रियता और अप्रियता का भाव आ जाए, राग-द्वेष उभर जाए, वहां देखना गौण हो जाता है। यही बात जानने पर लागू होती है—

प्रेक्षाध्यान का ध्येय है चित्त को निर्मल बनाना। व्यवहार के धरातल पर प्रेक्षाध्यान का ध्येय है—व्यक्तित्व का समग्र विकास। विकास के कुछ पहलू यहां प्रस्तुत हैं—

- बौद्धिक और भावनात्मक विकास का सन्तुलन।
- आध्यात्मिक और वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण।
- भावनात्मक परिवर्तन—अपने संवेगों पर नियंत्रण रखने की क्षमता।
- रासायनिक परिवर्तन—अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्रावों में परिवर्तन, पीड़ा के क्षणों में एंडोर्फिन जैसे शामक रसायनों का उत्पादन।
- नाड़ी संस्थान पर नियंत्रण करने की क्षमता का विकास।
- नशे की आदत को बदलने की क्षमता का विकास।
- कार्यकौशल में वृद्धि।
- मनःकायिक रोगों से मुक्ति।
- मानसिक और भावनात्मक तनाव का विसर्जन।
- अपराधी और आक्रामक मनोवृत्ति से मुक्ति।
- अनुशासन का विकास।
- सहिष्णुता का विकास।
- एकाग्रता में वृद्धि।
- सामंजस्य करने की क्षमता का विकास।
- मैत्री भाव का विकास।
- मानवीय सम्बन्धों को उदार और उदात्त मानने की क्षमता का विकास।
- संकल्प शक्ति का विकास।
- आत्म-विश्वास का जागरण।
- अन्तर्दृष्टि का विकास।

प्रेक्षाध्यान की उपसम्पदा स्वीकार करनी होती है।

वह इस प्रकार है—

- अब्भुद्धिओमि आराहणाए—मैं प्रेक्षाध्यान की आराधना के लिए उपस्थित हुआ हूँ।
- मग्गं उवसंपज्जामि—मैं अध्यात्म साधना का मार्ग स्वीकार करता हूँ।
- सम्मत्तं उवसंपज्जामि—मैं अन्तर्दर्शन की उपसम्पदा स्वीकार करता हूँ।
- संजमं उवसंपज्जामि—मैं आध्यात्मिक अनुभव की उपसंपदा स्वीकार करता हूँ।

उपसंपदा की चर्या का भी पालन करना होता है। उसके पांच सूत्र हैं—1. भावक्रिया 2. प्रतिक्रिया—निवृत्ति 3. मिताहार 4. मितभाषण 5. मौन।

प्रेक्षाध्यान के नियमित अभ्यास हेतु आसन—प्राणायाम करना होता है। उससे शरीर सधता है एवं सुदृढ़ बनता है। ध्यान में बैठते समय सर्वप्रथम आसन का चुनाव। फिर मुद्रा का चयन। क्योंकि मुद्रा हमारे भाव की परिचायिका है। तत्पश्चात् ध्वनि के माध्यम से तरंगों को सूक्ष्म बनाना होता है। जैसे—अर्हम् ध्वनि करने से थायरायड, हृदय व उदान नामक प्राण का केन्द्र प्रभावित होता है।

प्रेक्षाध्यान अप्रमाद की साधना है। उसके मुख्यतः दस अंग हैं—1. कायोत्सर्ग 2. अन्तर्यात्रा 3. श्वास—प्रेक्षा 4. शरीर—प्रेक्षा 5. चैतन्यकेन्द्र—प्रेक्षा 6. लेश्या—ध्यान 7. भावना 8. अनुप्रेक्षा 9. विचार—प्रेक्षा और समता 10. संयम।

इसका विस्तृत परिचय प्रेक्षा ध्यान : सिद्धान्त और प्रयोग में मिलता है। ये सारी पद्धतियां विज्ञान सम्मत एवं अनुभव सिद्ध हैं। आचार्य महाप्रज्ञ ने पहले स्वयं इनका प्रयोग किया, फिर सबके समक्ष रखा है।

प्रेक्षाध्यान का ही एक भाग है—अनुप्रेक्षा। प्रायोगिक अनुप्रेक्षा के दो प्रकार हैं—

1. वास्तविकता या सत्य का चिंतन, अनुचिन्तन करना और अनुचिन्तन करते—करते अनुभव के स्तर पर उसी वास्तविकता या सत्य का साक्षात्कार करना।

2. बुरी वृत्तियों, आदतों और भावों आदि का परिष्कार करने के लिए भाव अनुप्रेक्षा का प्रयोग करना।

अनुप्रेक्षा विचय—ध्यान है—विचार का ही ध्यान है। इसमें चिन्तन के एक बिन्दु पर ही सारा ध्यान केन्द्रित किया जाता है। जब चेतना की धारा एकदिशागामी, एकलक्ष्यगामी और एकविचारगामी होती है तब विचार भी ध्यान बन जाता है। अनुप्रेक्षा की एक विधि एवं निश्चित शब्दावली का निर्माण किया गया है; जैसे—

महाप्राण ध्वनि	2 मिनिट
कायोत्सर्ग	5 मिनिट
किसी रंग का श्वास लेने के लिए कहा जाता है।	3 मिनिट

किसी एक केन्द्र पर ध्यान। 2 मिनट
 अनुप्रेक्षा की शब्दावली को नौ बार दोहराया जाता है। 5 मिनट
 फिर कोई शब्दावली बोली जाती है। 10 मिनट
 अन्त में महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग सम्पन्न कराया
 जाता है।⁶⁸ 2 मिनट

अनेक उपयोगी अनुप्रेक्षाओं का निर्माण किया गया है। जैसे—प्रामाणिकता की अनुप्रेक्षा, समन्वय की अनुप्रेक्षा, मानवीय एकता की अनुप्रेक्षा, सह-अस्तित्व की अनुप्रेक्षा, आत्मानुशासन की अनुप्रेक्षा, अनित्य की अनुप्रेक्षा आदि। इन सब अनुप्रेक्षाओं के अंत में जो स्वाध्याय एवं मनन दिया गया है, वह सचमुच मार्मिक है एवं परिवर्तन घटित करने वाला है।⁶⁹

प्रेक्षाध्यान के अलावा जीवनमूल्यों को विकसित करने लिए जीवन-विज्ञान दिया। जीवन- विज्ञान क्या जीवविज्ञान ही है या उससे भिन्न? उत्तर मिला—जीवन को समझाने और जीवन- मूल्यों को विकसित करने की नई विद्याशाखा का नाम है—जीवन-विज्ञान। 28 दिसम्बर 1978 को आचार्य महाप्रज्ञ ने जीवन-विज्ञान को मूर्त रूप दिया।⁷⁰

इसमें है—अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय। हर क्षेत्र में इसे लागू किया गया। अधूरी लगन वाली शिक्षा केवल जीवन-विज्ञान से ही पूर्ण हो सकती है। इस दृष्टि को मद्देनजर रखते हुए “State & Central Govt.” ने विद्यालयों में इसे क्रियान्वित किया एवं विद्यार्थियों में इससे परिवर्तन भी आये हैं। व्यक्तित्व-विकास, प्रशासन, चिकित्सा, उद्योग, सामाजिक जीवन आदि क्षेत्रों में जीवन-विज्ञान के शिविर लगाए गए। जीवन-विज्ञान के प्रयोग कराए गए जिनके अप्रत्याशित परिणाम सामने आए। जीवन विज्ञान है—सर्वांगीण व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया। इसके द्वारा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होता है। इसके विषय में पूरी जानकारी ‘जीवन विज्ञान की रूपरेखा’ पुस्तक से प्राप्त की जा सकती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों ने अपनी महाप्रज्ञा से जनसामान्य के हृदय की गहराइयों में आत्मप्राप्ति की प्यास जगाई है। प्यास आत्ममंजिल को प्राप्त करा शाश्वत सुख में प्रतिष्ठित कर सकती है। यह प्यास इतनी वृद्धिगत हो जाये कि प्यास को भी प्यास लग जाये।

संदर्भ ग्रंथ

1. पंचास्तिकाय, गाथा 120, पृ. 183
2. वही, गाथा 120, पृ. 168
3. समयसार, गाथा 273—75 पृ. 365—367
4. भावपाहुड, गाथा 138, पृ. 213
5. समयसार, गाथा 356—65, पृ. 457—59
6. वही, गाथा 14—15, 16
7. वही, गाथा 40
8. (क) समयसार, गाथा 50—55
(ख) नियमसार, 3. 38—43, 5. 78, 80
9. नियमसार, 177, 178
10. भावपाहुड, गाथा 151, अष्टपाहुड, पृ. 221
11. समयसार, गाथा 297, पृ. 393
12. प्रवचनसार, गाथा 2. 35, पृ. 162
13. वही, गाथा 2. 31, पृ. 157
14. पंचास्तिकाय, गाथा 38—39, पृ. 78—79
15. सूक्ति मुक्तावली, 50
16. भिक्षु जस रसायण, 2, दोहा 6
17. वही, 4. 11—13
18. वही, पृ. 23
19. वही, 10. 6—7
20. वही, 10. 10
21. हिन्द स्वराज्य, पृ. 220
22. भिक्षु विचार दर्शन, पृ. 17
23. व्रताव्रत की चौपई, 12, 34—38
24. अणुकंपा की चौपई, 5. 5
25. वही, 9. 25
26. निहव चौपई, 3. 2
27. वही, 3. 3
28. व्रताव्रत की चौपई, 12. 32
29. निहव चौपई, 2. 5
30. अणुकंपा की चौपई, 11. 50
31. भिक्षु जस रसायण, 9. 10
32. भिक्षु दृष्टांत, 141, 142, 143, पृ. 59
33. बारह व्रत री चौपई, 12. 22
34. अणुकंपा की चौपई, 4. 19—20
35. नव पदार्थ, 37—45

36. समयसार, गाथा 8
37. भगवती जोड़, पृ. 117, ढाल 97, गाथा 32—34
38. प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध अधिकार, 275—295
39. झीणी चरचा, ढाल 9, पद्य 55—56
40. उत्तराध्ययन, 26. 15
41. चौबीसी, 3. 1
42. अंगसुत्ताणि 1, पृ. 875—876, समवाओ, 32. 1
43. ठाणं, 3. 4.34
44. बड़ो ध्यान
45. चौबीसी, 22. 1
46. ध्यान प्रकरण, 20, 22, पृ. 101
47. वही, 27, 28, पृ. 102
48. उपदेश की चौपई, 1. 2
49. वही, 1. 3
50. कुहासे में उगता सूरज, पृ. 146
51. एक बूंद : एक सागर, पृ. 171
52. जैन भारती, 26 जनवरी 1964
53. बीती ताहि बिसारि दे, पृ. 78
54. बहता पानी निरमला, पृ. 93
55. एक बूंद : एक सागर, पृ. 785
56. सुधारस, पृ. 15. 3
57. वही, पद्य से पूर्व आंकड़ी
58. वही, पृ. 55. 4
59. वही, पृ. 63. 6
60. सम्बोध, पृ. 37, 39, पद्य 3. 25
61. वही, पृ. 37, पद्य 13, 32
62. वही, पृ. 114, 116, पद्य 8, 16
63. आत्मा के आसपास, अर्हत्-वाणी, पृ. 3, पद्य 1
64. वही, पृ. 17, पद्य 46
65. वही, पृ. 19, पद्य 50
66. वही, पृ. 29, पद्य 83
67. वही, अध्यात्मपदावली, पृ. 35, पद्य 1, 2
68. प्रेक्षाध्यान : सिद्धान्त और प्रयोग, पृ. 216
69. वही
70. जीवन विज्ञान की रूपरेखा, पृ. 7

उपसंहार

भारतीय दर्शन में निहित सम्पूर्ण तत्त्व आत्मा की परिक्रमा करते हैं। वहां पर आत्मतत्त्व का विश्लेषण मोक्ष की दृष्टि से किया गया है। इसके फलस्वरूप कुछ वैदिक दर्शनों में आत्मा और जीव का भेद करते हुए जीव-तत्त्व को कम महत्त्व दिया गया है। इन दर्शनों के अनुसार मोक्षावस्था में आत्मा जीव-भाव से मुक्त हो जाती है, किन्तु जैनदर्शन में आत्मा और जीव में भेद नहीं किया गया है।

जब हम आत्मास्तित्व की बात करते हैं तो हम देखते हैं कि वैदिक तथा जैन दार्शनिकों ने प्रायः समान तर्क दिये हैं। चार्वाक तथा बौद्धों की आलोचना में भी उक्त दर्शनपद्धतियों में समानतायें हैं, किन्तु मोक्ष के स्वरूप एवं प्रक्रिया को लेकर वैदिक दर्शनों एवं जैनदर्शन में विभिन्नताएं दिखाई देती हैं।

भारतीय दर्शन में आत्मा पर विचार किया है तो उस समय के कुछेक दर्शनों ने भले ही आत्मा शब्द नहीं लिया है, पर उनकी सारी चर्चा उसी परिप्रेक्ष्य में होती है। कभी शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन आदि को आत्मा समझा गया। जैनदर्शन ने उन सबकी समीक्षा की है एवं आत्मा को इन सबसे भिन्न साबित किया है। 'आत्मा' शब्द ने सभी के विचार को मथा है एवं हर दार्शनिक की आत्मा को झकझोरा है।

आत्मा का निरूपण करते समय कर्म की बात सामने आ जाती है। कर्म की व्याख्या अनेक दृष्टियों से अनेक दर्शनों में की गई है। जैनदर्शन में आठ कर्मों का वर्णन प्राप्त होता है एवं उनकी अनेक उत्तर प्रकृतियां भी हैं। कर्मबन्ध में तीनों योगों (मन, वचन, काय) में से मन को प्रमुख माना है। जीव यों तो अमूर्त है एवं कर्म मूर्त। फिर इनका सम्बन्ध कैसे होता है? जीव वृद्धावस्था की अपेक्षा मूर्त भी है, अतः उसका पुद्गल के साथ सम्बन्ध होता है। सेन्द्रिपिटल आकर्षण पुद्गल का है और सेन्द्रिपयूगल आकर्षण जीव का है। पुद्गल जीव को

आकर्षित करते हैं और जीव दूर जाने की कोशिश करता है। वह उनकी पहुंच से दूर नहीं जा सकने के कारण संसार में परिभ्रमण करता है। इस प्रकार कर्म, कर्म का बन्ध, कर्म की स्थिति एवं कर्मविपाक आदि सभी तत्त्वों का योग मिलकर जीव को संसारी बनाता है। इन्हीं कर्मों के फलस्वरूप आत्मा पुनर्जन्म करती रहती है।

आगम युग के पश्चात् दर्शन युग में तर्क की प्रधानता हो गई तो जैनाचार्यों ने अनेक युक्तियों द्वारा आत्मास्तित्व सिद्ध किया। मूल्यात्मक दृष्टि से विचार करने पर भी आत्मा ही सामने आती है क्योंकि सर्वाधिक मूल्यवान् तत्त्व है आत्मा। दूसरे सारे मूल्य आत्मा की ही परिक्रमा करते हैं।

अनेकान्तवादी जैनदर्शन आत्मा के सम्बन्ध में भी अनेकान्त दृष्टि से विचार करता है। जीव-शरीर के विषय में विचार करते समय भेद-अभेद, नित्यता-अनित्यता, सान्तता-अनन्तता आदि दृष्टियों से आत्मा सम्बन्धी विचार किया गया है।

आगम आत्मा का संगान करते हैं। मूलरूप से ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार मूलसूत्रों में आत्मा का वर्णन तरतमता से प्राप्त होता है। आचारांग, भगवतीसूत्र एवं प्रज्ञापना में तो आत्मा की ही चर्चा प्राप्त होती है।

आत्मा के अनेक व्युत्पत्तिपरक अर्थ प्राप्त होते हैं। आत्मा के अनेक अभिवचन अनेक कोष आदि में मिलते हैं। भगवतीसूत्र में बाईस पर्यायवाची शब्द आत्मा के प्राप्त होते हैं। उन सबकी व्याख्या जब धातु आदि की दृष्टि से की जाती है तो ये सभी नाम सार्थक साबित होते हैं। आत्मा के लक्षण पर विभिन्न दर्शनों में विचार किया गया है। सभी दर्शनों में आत्मा को अजर, अमर, शाश्वत, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं अपरिवर्तनशील स्वीकार किया गया है। आत्मा की अवस्था संसारी एवं मुक्त रूप में हमारे समक्ष आती है। संसारी आत्मा के त्रस, स्थावर भेद हैं। त्रस के अन्तर्गत एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के भेद हमें दिखाई देते हैं। आत्मा की नरक, तिर्यच, मनुष्य एवं देव रूप में भी चार अवस्थाओं की जानकारी होती है।

अध्यात्म की अपेक्षा बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा—ये तीन भेद निर्दिष्ट हैं। आत्मा की जागृत, स्वप्न एवं सुषुप्त अवस्था का वर्णन भी प्राप्त होता है। आत्मा के आठ प्रकारों के नाम द्रव्यात्मा,

कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा एवं वीर्यात्मा है। आत्मा के परिमाण की भी चर्चा उपलब्ध होती है। आत्मा का परिमाण विभिन्न ग्रन्थों ने अलग-अलग स्वीकार किया है। जैनदर्शन आत्मा को देह-परिमाण मानता है। इसकी सिद्धि स्याद्वादमंजरी नामक ग्रन्थ में तार्किक ढंग से की गई है। आत्मा के देह-परिमाण के साथ-साथ समुद्घातावस्था में उसे लोक-परिमाण भी माना जा सकता है। समुद्घात का वर्णन वैज्ञानिक एवं रोमांचक है। सात प्रकार के समुद्घातों की चर्चा प्राप्त होती है।

संसार के विषय में जिज्ञासा की लहर उठती है। इस विषय में सभी दार्शनिकों के अलग-अलग मत हैं। जल, वायु, थिओस, अग्नि, आकाश आदि को जगत् का मूल स्रोत माना गया है। जैनदर्शन में धर्मास्तिकाय आदि छह तत्त्वों को जगत् का मूल माना गया है। जैन आगम में लोकस्थिति को आठ प्रकार का बताया गया है। लोक में संसारी जीव रहते हैं। आस्रव सहित होने से जीव संसारी होता है। आस्रव अनेक प्रकार का है। मुख्यतः पांच भेद आस्रव के किये गये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनके भी अनेक अन्तर्भेद होते हैं। ये आस्रव ही व्यक्ति को मूढ़ कर देते हैं। आचार्य महाप्रज्ञ जी का कथन है कि “कर्म किसी को गलहत्था देकर नहीं पकड़ते, बल्कि वे व्यक्ति का मतिभ्रम उत्पन्न कर देते हैं। मतिभ्रम उत्पन्न होते ही व्यक्ति मूढ़ होकर सब उल्टा-पुल्टा करने लगता है एवं कर्मों के जाल में फंसता जाता है।” भगवद्गीता में भी यही बात कही गई है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः, सङ्गस्तेषूपजायते,
संगात्संजायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधात् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः,
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

(गीता 2.62, 63)

बुद्धिनाश होते ही नष्ट होने की स्थिति होती है। ‘विनाशकाले विपरीतबुद्धिः’ उक्ति भी इसी का स्पष्टीकरण करती है। आस्रव बुद्धिनाश का बहुत बड़ा हेतु है। आस्रव का विपरीत संवर है, वह मोक्ष का कारण है। मुक्तात्मा ऊर्ध्वगति वाली होती है। वह एक समय की ऋजुगति से लोकान्त में प्रतिष्ठित हो जाती है। सिद्धशिला नामक स्थान में मुक्तसत्ता

अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन में लीन हो जाती है। उसका दोबारा संसार में आवागमन नहीं होता। वह आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाती है।

आत्मा एक ही दिन में निर्मल नहीं बन जाती। निर्मलता को प्राप्त करने के लिए अनेक सोपानों को पार करना होता है। आध्यात्मिक विकास की चौदह भूमियां जैनदर्शन में वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त रत्नत्रयी भी आध्यात्मिक विकास में योगभूत बनती है। सम्यग्दर्शन पहली शर्त है आनन्द की। जब दृष्टि ही सम्यग् नहीं होगी तो सीधा रास्ता नजरों में नहीं आएगा। व्यावहारिक रूप में देखा जाए तो सकारात्मक या विधेयात्मक चिन्तन इसे कहा जा सकता है। घटना घटित होती है दो व्यक्तियों के साथ। उसी समान घटना का प्रभाव अलग-अलग होता है। यह चिन्तन का ही अन्तर है कि एक व्यक्ति तनावग्रस्त हो जाता है और दूसरा तनावमुक्त। अतः सम्यग्दृष्टिकोण पहली शर्त है अध्यात्म-प्रासाद में प्रवेश करने की। इसके पश्चात् आता है सम्यग्ज्ञान। दृष्टि सही होने के बाद ज्ञान होना जरूरी है। ज्ञान रहित व्यक्ति कहां जाएगा। मंजिल तक जाने के पथ का ज्ञान ही नहीं होगा तो किस रास्ते से जाएगा। 'पढमं नापं तओ दया' उक्ति इसी की ओर संकेत करती है। ज्ञान के पश्चात् आचरण सामने आता है। जाने हुए का आचरण नहीं होने से जाना हुआ व्यर्थ हो जाता है। ज्ञान का उपयोग नहीं होने से ज्ञान की क्या महत्ता होगी। आचार्य सिद्धसेन कल्याणमन्दिर में यही गा रहे हैं—

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव! दुःख पात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥

(कल्याणमन्दिर, श्लोक 38)

अतः सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र—इनकी एक शृंखला हो गई जो मुक्ति का वरण करवाती है।

इस प्रकार अध्यात्मपथ पर चलते-चलते आत्मसिद्धि हो जाती है, आत्मप्राप्ति हो जाती है। यह अध्यात्मधारा तीर्थकरों के श्रीमुख से निःसृत होकर गणधरों की लेखनी से प्रवाहित होती हुई भूतल को पवित्र कर रही है। इस धारा में अनेकानेक आचार्यों ने स्वयं को विलीन किया। उसी की फलश्रुति है कि इसमें डुबकी लगाकर हम स्वयं को निर्मल बना

रहे हैं। प्रभावक आचार्यों की शृंखला में सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द सामने आते हैं। उन्होंने शुद्धात्मा के स्वरूप व उसकी प्राप्ति पर ही बल दिया। निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा का प्रतिपादन कर एक प्रकाश की राह दिखाई एवं उसे उजागर किया। इसी श्रेणी में चलते-चलते तेरापंथ के संस्थापक आचार्य भिक्षु का अवतरण होता है। उनकी मौलिक सूझबूझ व मौलिक विचारशक्ति दृष्टि खोल देती है एवं साधक को झकझोर देती है। इसी कोटि में चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य का स्थान आता है। उन्होंने राजस्थानी भाषा में आत्मा के जटिल सिद्धान्तों को बहुत सरल रूप में प्रस्तुत किया। 'भगवतीसूत्र' जैसे महनीय एवं कठिनतम ग्रन्थ को 'भगवती-जोड़' के रूप में प्रस्तुत कर सामान्य आदमी की समझ में प्रस्थापित कर बेजोड़ कार्य किया।

यह धारा चलते-चलते आचार्य तुलसी तक पहुंची। आचार्य तुलसी युगद्रष्टा थे। युग की नब्ज को पहचान उन्होंने तत्कालीन दृष्टि से आत्मतत्त्व को प्रस्तुत किया। उनका चिन्तन क्रान्तिकारी था। उसी क्रान्ति ने नैतिकता की लौ जलाकर नैतिक चेतना का जागरण किया एवं धर्म को सम्प्रदाय की बेड़ी से मुक्त किया। अनेक बोधों (आचार-बोध, संस्कार-बोध, व्यवहार-बोध) का निर्माण कर सरल भाषा में सभी पहलुओं को प्रस्तुत किया। साधु समाज के लिए ही नहीं अपितु सामान्य व्यक्ति के लिए भी व्रतों की प्रस्तुति 'श्रावक-सम्बोध' के माध्यम से की। इस प्रकार आचार्य तुलसी ने युगधारा के साथ आत्मचिन्तन को आगे बढ़ाया। इन्हीं के पटधर 'आचार्य महाप्रज्ञ' अपनी साधना से प्रज्ञा के नव-नवोन्मेष उद्घाटित कर रहे हैं। आपने आगमों का मंथन कर प्रेक्षा का नवनीत निकाला, जो तनावग्रस्त व्यक्ति को शांति में ले जाता है। बालपन में ही संस्कारों के निर्माण हेतु जीवन-विज्ञान का अवदान दिया जो शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं भावनात्मक विकास कर विद्यार्थी को सर्वांगीण रूप से विकसित करता है। युगप्रधान आचार्य महाप्रज्ञ का सम्पूर्ण साहित्य आत्मा के आस-पास ही परिक्रमा करता है। अतः कहा जा सकता है कि आत्मचिन्तन को जन-जन तक पहुंचाने में आचार्यों का योगदान अति महत्त्वपूर्ण है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि '**अर्द्धमागधी आगमों में आत्मतत्त्व की अवधारणा**' नामक यह शोध प्रबन्ध अपने आपमें आत्मतत्त्व से सम्बन्धित सभी विषयों को समाहित किये हुए है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध पाठक को नयी दिशा देकर विद्वज्जगत् में मान्य होगा, ऐसा विश्वास है।

ग्रन्थानुक्रमणिका

मूलस्रोत

1. अकलंक ग्रन्थत्रयम् भट्टाकलंकदेव, संपा. पं. महेन्द्र कुमार, वि.सं. 1995 सिंधी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद ।
2. अथर्ववेद संपा. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य 1962, संस्कृति संस्थान, बरेली ।
3. अध्यात्म रहस्य, पं. आशाधर, संपा. पं. जुगलकिशोर मुख्तार 1947 वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
4. अमितगति श्रावकाचार (हिन्दी अनुवाद सहित) संपा. बंशीधर, 1979, शोलापुर
5. अभिधम्मपिटक भिक्खु जगदीसकस्सपो 1998 विपश्यना विशोधन, विन्यास इगतपुरी ।
6. अभिधम्म संग्रह, संपा. कौशाम्बी (धर्मानन्द) वि. सं. 1964, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस ।
7. अभिधर्मकोश आचार्य वसुबन्धु, संपा. आचार्य नरेन्द्रदेव 1973, हिन्दुस्तानी एकेडेमी उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद ।
8. अष्टपाहुड़ (वचनिका सहित), कुन्दकुन्दाचार्य 1916, अनन्तकीर्ति माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई
9. अष्टसहस्री विद्यानन्दस्वामी, संपा. बंशीधर, 1915 गांधीनाथारंग, जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
10. अष्टांग हृदय संहिता बाणभट्ट, राजस्थान विश्व-विद्यालय, जयपुर
11. अष्टाध्यायी पाणिनि, 1989 प्यारेलाल कपूर श्रीराम लाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर
12. आचारांगचूर्णि जिनदासगणि, वि. सं. 1998, ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रत्नपुर (मालवा)

13. आचारांगनिर्युक्ति आचार्य भद्रबाहु 1928 आगमोदय समिति, बम्बई
14. आप्तपरीक्षा विद्यानन्दस्वामी, संपा. न्यायाचार्य पं. दरबारीलाल कोटिया, वी. नि. सं. 2476 वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, जिला सहारनपुर
15. आप्त-मीमांसा, समन्तभद्राचार्य, संपा. पं. जुगलकिशोर मुख्तार, 1967, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
16. आयारो, वा. प्र. आचार्य तुलसी, संपा. मुनि नथमल वि. सं. 2031 जैन विश्व भारती, लाडनू
17. आराधना, जयाचार्य, प्रवा. युगप्रधान आचार्य तुलसी, प्र. संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ 1993 आचार्य श्री मघवा निर्वाण शताब्दी महोत्सव व्यवस्था समिति, सरदारशहर
18. आवश्यकचूर्णि (पूर्वभाग), श्री जिनदासगणि 1928 श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
19. आवश्यक निर्युक्ति टीका भाग-1, श्रीहरिभद्रसूरिवि. सं. 2038, श्री भेरुलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट चंदनबाला एपार्टमेन्टस्, आर. आर. ठक्कर मार्ग, मुम्बई
20. उत्तरज्ज्ञयणाणि वा. प्र. आचार्य तुलसी, संपा. विवे. युवाचार्य महाप्रज्ञ 1993, जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्व विद्यालय), लाडनू (राज.)
21. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, शान्त्याचार्य 1973, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भाण्डागार संस्था, बम्बई
22. उपासकदशा (अंगसुत्ताणि, भाग-3), वा. प्र. आचार्य तुलसी, संपा. मुनि नथमल 1974, जैन विश्व भारती, लाडनू
23. ऋग्वेद, संपा. श्रीराम शर्मा आचार्य, 1962, संस्कृति संस्थान, बरेली
24. एकादशोपनिषद्, विद्यामार्तण्ड डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, 1988, विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी, विद्या विहार, 4 बलवीर एवेन्यु, देहरादून
25. कठोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
26. कसायपाहुड़ (जयधवला टीका सहित) गुणधर 1944 जैन संघ, मथुरा
27. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, स्वामी कार्तिकेय, संपा. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये वीर सं. 2468, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास

28. कर्मग्रन्थ देवेन्द्रसूरि, 1934-40, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
29. कुमारसंभव कालिदास, व्या. जगदीशलाल शास्त्री, 1993, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड़, जवाहरनगर, दिल्ली-7
30. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ति, 1981, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली
31. गोम्मटसार जीवकाण्ड (जीवतत्त्वप्रदीपिका और मन्द प्रबोधिका सहित), संपा. पं. गजाधरलाल जैन न्यायतीर्थ और श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ, गांधी हरीभाई देवकरण जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
32. गुणस्थान क्रमारोह, रत्नकेसरसूरि, 1916, न. भा. घे. भा., जवेरी बाजार, बम्बई
33. छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार-शंकराचार्य वि.सं. 2023, गीता प्रेस, गोरखपुर
34. जीवाजीवाभिगम (अंगसुत्ताणि, भाग-3), वा. प्र. आचार्य तुलसी, संपा. मुनि नथमल, 1974, जैन विश्व भारती, लाडनूं
35. जैन सिद्धान्त दीपिका, आचार्य तुलसी, 1995, आदर्श साहित्य संघ, चूरु
36. ज्ञानार्णव, शुभचन्द्राचार्य, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, जवेरी बाजार, बम्बई
37. टाणं, वा. प्र. आचार्य तुलसी, संपा. विवे. मुनि नथमल, 1976, जैन विश्व भारती, लाडनूं
38. तत्त्वार्थवार्तिकम् (प्रथम भाग), भट्ट अकलंक, संपा. प्रो. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, 1993, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन, नई दिल्ली
39. तत्त्वार्थवार्तिकम् (द्वितीय भाग), भट्ट अकलंकदेव, संपा. प्रो. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, 1993, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली
40. तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् (तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका), सिद्धसेनगणी, वि. सं. 1986, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई
41. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, विद्यानन्दि, संपा. पं. मनोहरलाल, वी. नि. सं. 2444, गांधीनाथारंग जैन ग्रन्थमाला, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
42. तत्त्वार्थसार, अमृतचन्द्रसूरि, संपा. बंशीधरशास्त्री वी. नि. सं. 2445, भा. जै. सि. प्र. सं., कलकत्ता
43. तत्त्वार्थसूत्र, संपा. पं. फूलचन्द्र जैन, वी. नि. सं. 2445, श्री गणेशवर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी

44. तर्कभाषा, श्री केशवमिश्र डॉ. गजाननशास्त्री 'मुसलगांवकर', 1990, चौखम्बा सुरभारती, प्रकाशन, वाराणसी
45. तर्कसंग्रह, अन्नमभट्ट, वि. सं. 2026, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
46. तन्त्रवार्तिक शास्त्रदीपिका, पार्थसारथि मिश्र, 1915, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
47. तिलोपपण्णत्ति यतिवृशश, वि. सं. 1999, जीवराज जैन ग्रन्थमाला
48. तैत्तिरीयोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
49. दशवैकालिकनिर्युक्ति आचार्य भद्रबाहु, 1973 प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी अहमदाबाद—9
50. दशवैकालिकवृत्ति, आचार्य हरिभद्रसूरि, वि. सं. 1918, देवचन्द्र लालभाई, जैन पुस्तकोद्धार भाण्डागार संस्था, बम्बई
51. दसवेआलियं, वा. प्र. आचार्य तुलसी, संपा. विवे. मुनि नथमल, 1974, जैन विश्व भारती, लाडनू
52. त्रिलोकसार, नेमिचन्द्र, 1918, प्र. जै. सा. बंबई
53. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित हेमचन्द्राचार्य, संपा. श्री चरणविजयजी महाराज, कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य स्मृति शिक्षण—संस्कार निधि अहमदाबाद
54. दीघनिकाय (पालि), प्रधान संशोधक भिक्षु जगदीश काश्यप, 1958, नवनालन्दा महाविहार
55. दीघनिकाय (हिन्दी), अनु. राहुल सांस्कृत्यायन, 1936 महाबोधि सभा, सारनाथ
56. धम्मपद, अनु. राहुल सांस्कृत्यायन, 1933, महाबोधि सभा, सारनाथ
57. धवला, वीरसेन, 1936, प्र. सं. अमरावती
58. नंदी, वा. प्र. गणाधिपति तुलसी, संपा. विवे. आचार्य महाप्रज्ञ, 1997, जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनू (राज.)
59. नंदीचूर्णि, श्री जिनदासगणि, संपा. मुनि श्री पुण्यविजयजी, 1966, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, बनारस
60. नंदी (मलयगिरि) टीका, आचार्य मलयगिरि, 1917, आगमोदय समिति, सूरत
61. नंदी टीका, आचार्य हरिभद्र, 1966, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, बनारस

62. नयचक्र माइल्लधवल, संपा. अनु. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, 1971, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
63. न्यायकुमुदचन्द्र (भाग 1-2), प्रभाचन्द्राचार्य, संपा. पं. महेन्द्रकुमार न्ययाशास्त्री, वी. नि. सं. 2464, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, हीराबाग, गिरगांव, बम्बई-4
64. न्यायदर्शन (वात्स्यायनभाष्य सहित), संपा. श्री नारायण मिश्र 1970 चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस वाराणसी
65. न्यायदीपिका अभिनवभूषण, संपा. न्यायाचार्य पं. दरबारीलाल कोठिया, 1945, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, जिला सहारनपुर
66. न्यायविनिश्चय (विवरण), भट्टाकलंक देव, संपा. पं. महेन्द्रकुमार जैन, 1954, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी,
67. न्यायसूत्र, गौतम ऋषि, संपा. श्रीराम शर्मा आचार्य, 1964, संस्कृति संस्थान, बरेली
68. पंचसंग्रह (स्वोपज्ञवृत्ति सहित), चन्द्रर्षि, 1927, आगमोदय समिति, बम्बई
69. पंचास्तिकायः, कुन्दकुन्दाचार्य, 1986, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मंडल श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
70. पणवणा (उवंगसुत्ताणि भाग-4) वा. प्र. आचार्य तुलसी, संपा. विवे. मुनि नथमल, 1987, जैन विश्व भारती, लाडनूं
71. पद्मनन्दिर्विंशतिका, पद्मनन्दि 1932 जीवराज ग्रन्थमाला
72. परमात्मप्रकाश, योगीन्दुदेव, वि. सं. 2017, रायचन्द्र जैनशास्त्रमाला
73. पाणिनि व्याकरण पाणिनि, 1987, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
74. पातंजलयोगदर्शनम्, श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्द आरण्य, 1991, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
75. प्रज्ञापनावृत्ति, श्रीमन्मलयगिर्याचार्य, 1918, आगमोदय समिति, मेहसाणा, गुजरात
76. प्रभावक चरित, श्री प्रभाचन्द्राचार्य, 1940, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद-कलकत्ता
77. प्रमाण नय तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि, वि. सं. 1989, दीपचन्द्र बांठिया, उज्जैन (मालवा)
78. प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रभाचन्द्राचार्य, संपा. पं. महेन्द्रकुमार शास्त्री, 1941, निर्णयसागर प्रेस

79. प्रमेयरत्नमाला, लघु अनन्तवीर्य, व्या. संपा. पं. हीरालाल जैन, वि. सं. 2020, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
80. प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य, आर. ने. उपाध्ये, 1964, श्रीपरमश्रुत प्रभावक मंडल श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
81. प्रशमरतिप्रकरण, श्रीमद् उमास्वाति, 1950, श्री परमश्रुतप्रभावक मंडल, अगास
82. प्रश्नव्याकरण (अंगसुत्तणि, भाग-3), वा. प्र. आचार्य तुलसी, संपा. विवे. मुनि नथमल, 1987, जैन विश्व भारती, लाडनूं
83. प्रस्थानरत्नाकर, गोस्वामी पुरुषोत्तम, गवर्नमेंट संस्कृत लाईब्रेरी, बनारस
84. बुद्धचर्या, संपा. राहुल सांस्कृत्यायन, 1952, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
85. बृहत्कल्पसूत्र (पीठिका), संपा. मुनि पुण्यविजयजी, 1933, आत्मानन्द जैन सभा भावनगर
86. बृहद्द्रव्यसंग्रह, श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ति, श्री परमश्रुत प्रभावक, मंडल श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
87. बृहदारण्यकोपनिषद्, चक्रवर्ती वि. सं. 2045, गीता प्रेस, गोरखपुर
88. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, 1964, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
89. भगवती आराधना आचार्य शिवकोटि, 1935, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, संपा. सखाराम दोशी, शोलापुर
90. भगवई (अंगसुत्ताणि, भाग-2), वा. प्र. आचार्य तुलसी, संपा. मुनि नथमल, वि. सं. 2031, जैन विश्व भारती, लाडनूं
91. भगवती जोड़, ले. जयाचार्य, प्रवा. आचार्य तुलसी, संपा. साध्वी प्रमुखा कनकप्रभा, 1981, जैन विश्व भारती, लाडनूं
92. भगवतीवृत्ति, अभयदेवसूरि वि. सं. 2049, श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुम्बई
93. भिक्षु जश रसायण, जयाचार्य, प्रवा. आचार्य तुलसी, संपा. साध्वी प्रमुखा कनकप्रभा, 1994, जैन विश्व भारती, लाडनूं
94. मज्झिमनिकायपालि, प्र. संपा. भिक्षु जगदीसकस्सपो, 1958, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, नालन्दा, बिहार
95. मनुस्मृतिः, कुल्लूक भट्ट, संपा. गोपाल शास्त्री नेने, 1970, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस वाराणसी

96. महापुराण, जिनसेन, 1951, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
97. महाभारत, संपा. हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर
98. मीमांसा दर्शन, मण्डन मिश्र, 1955, रमेश बुक डिपो, जयपुर
99. मूलाचार, वट्टकेर आचार्य, अनु. मनोहरलाल, 1919, अनन्तवीर्य ग्रन्थमाला, बम्बई
100. यजुर्वेद, संपा. श्रीराम शर्मा आचार्य, 1962, संस्कृति संस्थान, बरेली
101. योगदर्शन महर्षि पतंजलि, संपा. श्रीराम शर्मा आचार्य, 1969, संस्कृत संस्थान, बरेली
102. रयणसार, कुन्कुन्दाचार्य, संपा. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, वी. नि. सं. 2500, वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर
103. वायुपुराण, अनु. श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग-2006
104. विपाकसूत्र (अंगसुत्ताणि, भाग-3), वा. प्र. आचार्य तुलसी, संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ, 1987, जैन विश्व भारती, लाडनूं
105. विनयपिटक, अनु. सांस्कृत्यायन (राहुल), 1935, महाबोधि सभा, सारनाथ
106. विशेषावश्यकभाष्य (प्रथम भाग), जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, वि. सं. 2039, दिव्य दर्शन ट्रस्ट 68 गुलालवाडी, त्रीजे. माले, मुम्बई-400004
107. विशेषावश्यकभाष्य (द्वितीय भाग), जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, वीर. सं. 2489, दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद
108. विसुद्धिमगगोबुद्धघोष, संपा. भदन्त रेवतधर्म, भारतीय विद्या प्रकाशन, काशी
109. वेदान्तसार, श्रीसदानन्द, संपा. बदरीनाथशुक्ल 1979
110. वैशेषिक दर्शन (प्रशस्तपादभाष्य) महर्षि प्रशस्तपाद देव, 1966, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस वाराणसी
111. व्यवहारभाष्य, प्रधान संपा. आचार्य महाप्रज्ञ, संपा. समणी कुसुमप्रज्ञा, 1996, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं
112. लिंगपुराण, संपा. जीवानन्द विद्यासागर, 1885, बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता
113. शास्त्रवार्तासमुच्चय हरिभद्रसूरि, 1969, लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृत विद्यामन्दिर, अहमदाबाद
114. श्रीमद् भगवद्गीता महर्षि व्यास, वि. सं. 2050, गीता प्रेस, गोरखपुर

115. षड्दर्शन समुच्चय, आचार्य हरिभद्रसूरि, संपा. और अनु. डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, 1970, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
116. संयुक्त निकाय भिक्षु जगदीशकस्सपो, 1964, महाबोधि सभा, सारनाथ
117. सत्यशासन परीक्षा, आचार्य विद्यानन्द, संपा. गोकुलचन्द्र जैन, 1964, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
118. समराइच्चकहा, आचार्य हरिभद्रसूरि, संपा. अनु. डा. छगनलाल शास्त्री, 1976, श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर
119. समयसार, आचार्य कुन्दकुन्द, 1982, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
120. समवाओ, वा. प्र. आचार्य तुलसी, संपा. विवे. युवाचार्य महाप्रज्ञ, 1984, जैन विश्व भारती, लाडनूं
121. समाधिशतक, पूज्यपादाचार्य, वि. सं. 2021, वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली
122. सर्वदर्शनसंग्रह माधवाचार्य चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
123. सर्वार्थसिद्धि, संपा. सिद्धान्दाचार्य, पं. फूलचन्द्र शास्त्री, 1999, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
124. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण; ह. कृ. चौ., वि. सं. 1979, काशी
125. सांख्यतत्त्वकौमुदी, मिश्र वाचस्पति, व्या. पं. ज्वालाप्रसाद गौड, 1992, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
126. सुश्रुतसंहिता, आचार्य अनन्तराम शर्मा, 2001, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
127. सूयगडो भाग-1, वा. प्र. आचार्य तुलसी, संपा. विवे. युवाचार्य महाप्रज्ञ, 1984, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
128. स्याद्वादमंजरी मल्लिषेणसूरि, संपा. डा. जगदीशचन्द्र जैन, 1970, रावजी भाई छगनभाई देसाई, परमश्रुत प्रभावक मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला)

सहायकग्रन्थ (I हिन्दी)

1. उपाध्याय बलदेव आचार्य, बौद्ध दर्शन मीमांसा, 1981, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
2. उपाध्याय भरतसिंह, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन भाग-1, 2, वि. सं. 2011 बंगाल हिंदी मंडल रायल एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता
3. कल्याण (पुनर्जन्म विशेषांक), गीता प्रेस, गोरखपुर

4. जैन उदयचन्द्र आत्ममीमांसा तत्त्वदीपिकावी, नि. सं. 2501 श्री गणेशवर्णी दि. जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी
5. जैन रतनचन्द्र आत्मरहस्य, 1948, मार्तण्ड उपाध्याय; सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
6. जैन जगदीशचन्द्र, प्राकृत साहित्य का इतिहास, 1966, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
7. जैन महेन्द्र कुमार जैन दर्शन, संपा. पं. फूलचन्द्र शास्त्री तथा दरबारी लाल कोठिया, 1966, मन्त्रि श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी
8. तुलसी आचार्यअर्हत् उवाच, 1998, आदर्श साहित्य संघ, चूरु
9. तुलसी आचार्यआत्मा के आसपास, 1998, आदर्श साहित्य संघ, चूरु
10. तुलसी गणाधिपति, जैन तत्त्व विद्या, 1994, जैन विश्व भारती, लाडनूं
11. तुलसी आचार्य, संबोध, 1996, आदर्श साहित्य संघ, चूरु
12. दत्त हीरेन्द्रनाथ, कर्मवाद और जन्मान्तर, 1986, इन्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग
13. देवराज डा. नन्दकिशोर, भारतीय दर्शन, 1941, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद
14. दोशी बेचरदास, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-1, 1989, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
15. धनंजय मुनि, महाप्रज्ञ : अतीत और वर्तमान, 1997, आदर्श साहित्य संघ, चूरु
16. धनंजय मुनि, महाप्रज्ञ : जीवन दर्शन, 1997, आदर्श साहित्य संघ, चूरु
17. पं. राजमल्ल जी, अध्यात्मकमलमार्तण्ड, 1944, वीर सेवा मंदिर, सरसावा, जिला-सहारनपुर
18. पाठक सर्वानन्द, चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, 1965, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
19. बहादुर के. पी. (संपा.), उपनिषद्स (अंग्रेजी अनुवाद सहित), 1972, न्यू लाईट पब्लिशर्स, सालवन स्कूल मार्ग, ओल्ड राजेन्द्रनगर, नई दिल्ली
20. बुद्धमल मुनि(निकाय प्रमुख), आचार्य भिक्षु, 1999 वै. श्वे. ते. महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता

21. मंगलप्रज्ञा समणी, आर्हती दृष्टि, 1998, आदर्श साहित्य संघ, चूरु
22. मंगलप्रज्ञा समणी, व्रात्य दर्शन, 2000, आदर्श साहित्य संघ, चूरु
23. महाप्रज्ञ आचार्य, अप्पाणं सरणं गच्छामि, 1981, जैन विश्व भारती, लाडनूं
24. महाप्रज्ञ आचार्य, ऋषभ और महावीर, 1997, जैन विश्व भारती, लाडनूं
25. महाप्रज्ञ आचार्य, कर्मवाद, 1997, आदर्श साहित्य संघ, चूरु
26. महाप्रज्ञ आचार्य, जीव अजीव, 1998, जैन विश्व भारती, लाडनूं
27. महाप्रज्ञ आचार्य, जैन दर्शन और अनेकान्त, 1999, आदर्श साहित्य संघ, चूरु
28. महाप्रज्ञ युवाचार्य, जैन दर्शन और संस्कृति, 1990, जैन विश्व भारती, लाडनूं
29. महाप्रज्ञ आचार्य, जैन दर्शन के मूलसूत्र, 2000, आदर्श साहित्य संघ, चूरु
30. महाप्रज्ञ आचार्य, जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, 1995, आदर्श साहित्य संघ, चूरु
31. महाप्रज्ञ आचार्य, जैन न्याय का विकास, 1977, जैन विद्या अनुशीलन केन्द्र राजस्थान वि. वि., जयपुर
32. महाप्रज्ञ आचार्य, जैन योग, 1997, आदर्श साहित्य संघ, चूरु
33. महाप्रज्ञ युवाचार्य, तेरापंथ, 1992, जैन विश्व भारती, लाडनूं
34. महाप्रज्ञ युवाचार्य, तेरापंथ : शासन अनुशासन 1990 जैन विश्व भारती, लाडनूं
35. महाप्रज्ञ आचार्य, मुक्त भोग की समस्या और ब्रह्मचर्य, 1998, आदर्श साहित्य संघ, चूरु
36. महाप्रज्ञ आचार्य, संबोधि, 1981, जैन विश्व भारती, लाडनूं
37. मालवणिया दलसुख, आगमयुग का जैन दर्शन, 1990, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर एवं श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर
38. मालवणिया दलसुख, आत्म मीमांसा, 1953, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस-5
39. मेहता मोहनलाल, जैन जगदीशचन्द्र, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-2 (अंगबाह्य) पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5
40. रानाडे दत्तात्रेय, रामचन्द्र उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, 1989, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर

41. राधाकृष्णन् (डा.), भारतीय दर्शन, 1973, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
42. व्यासदेव राजयोगाचार्य स्वामी, आत्मविज्ञान, 1964, योग निकेतन ट्रस्ट, गंगोत्तरी, उत्तरकाशी, स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश (उत्तराखण्ड)
43. शास्त्री पं. मूलचन्दजी, आत्ममीमांसा, 1970, श्री शान्तिवीर दि. जैन संस्थान
44. श्रीमद्विजयलक्ष्मणसूरीश्वर जी महाराज, आत्मतत्त्वविचार, वी. वी. मेहता
45. संघवी सुखलाल, दर्शन और चिंतन खण्ड-1,2, 1957 पं. सुखलाल जी सन्मान समिति गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद-1
46. सिद्धान्तशास्त्री पं. फूलचन्द, जैन तत्त्व मीमांसा, अशोक प्रकाशन मंदिर, भदौनी घाट, वाराणसी
47. सिन्हा प्रो. हरेन्द्रप्रसाद, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, 1974, श्री सुन्दरलाल मोतीलाल बनारसीदास, अशोक राजपथ, पटना-4
48. हिरियन्ना एम., भारतीय दर्शन की रूपरेखा, 1973, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 8 नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली
49. Belvalkar. S. K., Ranadey R. D., History Of Indian Philosophy, 1974, Oriental Books Corporation, New Delhi
50. Bhattacharya Narendra Nath, Jaina Philosophy Historical Outline, 1976, Munshiram Manoharlal Publishers, Pvt. Ltd. Delhi
51. Bradley F. H., Ethical Studies, 1962, Oxford University London
52. Deleu Jozef, Viyahapanntti, 1970, De Tempel Tempelhof 37, Brugge (Belgie)
53. Glasenapp Helmuth, The Doctrine of Karman in Jain Philosophy, 1942, The Trustees, Bai vijibai Jivanlal Pananlal charity fund. Bombay
54. Jacobi Hermann, Jaina Sutras Part II, (The Secred book of East) 1980, Motilal Banarsidas Delhi
55. Jacobi Hermann, Jaina Sutras, 1990, Atlantic Publishers & Distributors Delhi
56. Jain Jyoti Prasad, Jainism the Oldest Living Religion, 1951, Jain Culture Re. Society, Varansi
57. Jain J. L., Outlines of Jainism, 1916, Cambridge
58. Jain s. S., Reality, 1960, Veer Sasna Sangh, Calcutta
59. M. Hiriyanna, Outlines of Indian Philosophy, 1994, Motilal Banarsidas Delhi

60. Mehta Mohan Lal, Jain psychology, 1953, Sohan Lal Jain Dharm Pracharka Smiti. Amritsar
61. Mookerjee Satakhari, The Jain Philosophy of Non-absolutism, 1978, Motilal Banarsidass Delhi Varanasi, Patna.
62. Mookerjee Satakari, Illuminator of Jaina Tenets (Ganadhipati Tulsi), 1995, Anekanta sodhpeetha Jain Vishva Bharati
63. Radhakrishnan, Indian Philosophy, 1977, London: George Alen & Unwin Ltd. New York: Humanities press Inc.
64. Schubring Walther, The Doctrine of the Jainas, 1978, Motilal Banarsidass, Delhi
65. Sikdar, J. C., Studies in the Bhgawatisutra, 1964, Research institute of Parakrit, Jainology & Ahimsa, Muzaffarpur
66. Stcherbatsky, Th., Conception Of Buddhist Nirvana, 1989, Motilal Banarsidas Delhi
67. S. S., The Heart Of Jainism, 1915, Oxford University press
68. Tripathi Ramashankar, History of ancient India, 1999, Motilal Banarsidas Delhi
69. Tatia N. M., Studies in Jaina Philosophy, 1951, Jain Cultural Research Society Banaras-6
70. Valther, Doctrine Of The Jainism, 1932, Motilal Banarsidass, Delhi
71. Winternitz Maurice, History of Indian Literature-Vol-II, 1993, Motilal Banarsidass, Delhi

कोश

1. अमरकोश, भानुजी दीक्षित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
2. आगम शब्दकोश (अंगसुत्ताणि शब्दसूची), वा. प्र. आचार्य तुलसी, संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ, 1980, जैन विश्व भारती, लाडनूं
3. आप्टे संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, वी. एस. आप्टे 1924, गोपाल नारायण एण्ड कम्पनी, बॉम्बे
4. उपनिषद्वाक्यमहाकोषः, श्री गजानन शम्भु साधले, 1990, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
5. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, क्षु. जिनेन्द्रवर्णी, 1986, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
6. वाचस्पत्यम् (प्रथमो भाग), श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य, 1969 चौखम्मा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी-1
7. शब्दकल्पद्रुम, राजा राधाकान्तदेव, 1967, वाराणसी

8. शब्दस्तोममहानिधि, श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य, 1967, चौखम्भा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी-1
9. श्रीभिक्षुआगम विषय कोश-1, संपा. साध्वी विमलप्रज्ञा, साध्वी सिद्धप्रज्ञा, 1996, जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूं
10. हलायुधकोश, जयशंकर जोशी, 1967, समिति सूचना विभाग, लखनऊ
11. Encyclopaedia of Religion and ethics Vol-Viii, James Hastings, 1974, Edinburgh: T. &T. Clark, 38 George Street, New york: Charles scibner's sons, 597 Fifth Avenue
12. The New Encyclopaedia Britannica Vol. 6, Peter B. Norton Joseph J. Esposito, 1994, Encyclopaedia Britannica Inc. Publishing Group, Chicago

